[2018] 2 उम. नि. प. 161

शायरा बानो

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

मुस्लिम वूमेन क्वेस्ट फॉर इक्यूलिटी

बनाम

जमायत उलेमा-ए-हिंद और अन्य

तथा

आफरीन रहमान

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

गुलशन परवीन

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

इशरत जहां

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

आतिया सबरी

बनाम

भारत संघ और अन्य

22 अगस्त, 2017

मुख्य न्यायमूर्ति जगदीश सिंह खेहर, न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ, न्यायमूर्ति रोहिनटन फली नारीमन, न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित और न्यायमूर्ति एस. अब्दुल नज़ीर

मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (1937 का 26) – धारा 2,3 और 5 – तीन तलाक या तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की अनुज्ञेयता – चूंकि इस अधिनियम का संपूर्ण प्रयोजन शरीयत को विनिश्चय का नियम घोषित करना और उसमें प्रगणित विधियों की बाबत, जिसके अंतर्गत तलाक भी है, शरीयत-विरोधी प्रथाओं को बन्द करना था, इसलिए तलाक-ए-बिद्दत जैसी कोई प्रथा अनुज्ञेय नहीं है जो पवित्र कुरान के सिद्धांतों के विरुद्ध हैं क्योंकि जो कार्य, धर्म की दृष्टि से दूषित है वह विधि की दृष्टि से भी दूषित है ।

संविधान, 1950 का अनुच्छेद 14,15,21 और 25 [सपठित मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2] – तलाक-ए-बिद्दत-तीन तलाक की प्रथा – चूंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा में पति-पत्नी के बीच सुलह कराने के प्रयास और तलाक को प्रतिसंहृत करने के विकल्प का अभाव है, इसलिए, तलाक-ए-बिद्दत पवित्र कुरान और भारत के संविधान के मूलभूत सिद्धांतों के विरुद्ध है और इससे शरीयत का भी अतिक्रमण होता है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 13, 25 – तीन तलाक की प्रथा – प्रथा को विधि का बल प्राप्त न होना – प्रवर्तित विधि – आवश्यक धार्मिक प्रथा – भारत में हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों में तीन तलाक प्रथा का प्रचलन – तीन तलाक, कुरान की देन नहीं है उसमें केवल "तलाक" शब्द का ही प्रयोग किया गया है जबकि तीन तलाक का उल्लेख हदीसों में आया है जो कि प्रवर्तित विधि का रूप ग्रहण नहीं कर सके हैं, इसलिए, तीन तलाक को प्रवर्तित विधि का भाग न होने के कारण विधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि यह संविधान के उपबंधों के

प्रतिकूल है और इससे मूल अधिकारों, विशेषकर समानता और प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का हनन होता है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 25 – धार्मिक स्वतंत्रता – तलाक-ए-बिद्दत – तीन तलाक की प्रथा – चूंकि अनुच्छेद 25(1) के अधीन धार्मिक स्वतंत्रता के अंतर्गत तीन तलाक नहीं आता है, इसलिए उसे अनुच्छेद 25(2)(ख) के अधीन संरक्षण लागू नहीं होगा क्योंकि समाज के किसी भी वर्ग में व्याप्त किसी प्रथा को तब तक प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है जब तक कि उसे विधि का बल प्राप्त नहीं हो जाता है भले ही वह प्रथा उस समाज के वर्ग में सदियों से प्रचलित क्यों न हो ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 13 और 25 [सपठित मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937] – सांविधानिक विधि – मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 तीन तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है और उसे अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखा नहीं जा सकता है क्योंकि उसमें तलाक के लिए विनिर्दिष्ट आधारों और प्रक्रिया को संहिताबद्ध नहीं किया गया है बल्कि इसके द्वारा धारा 2 में प्रगणित विषयों के संबंध में, जिसके अंतर्गत तलाक भी है, शरीयत को विनिश्चय के नियम के रूप में लागू किया गया है, इसलिए, 1937 का अधिनियम, जहां तक उसमें तीन तलाक को मान्य ठहराने और प्रवर्तित कराने की ईप्सा की गई है, संविधान के अनुच्छेद 13(1) में "प्रवृत्त विधि" अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत आता है और उसे उस सीमा तक शून्य मानकर अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए जहां तक वह तीन तलाक को मान्य ठहराता है या उसे प्रवर्तित करता है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 25, 32 और 226 – अनुच्छेद 25 के अधीन आवश्यक धार्मिक प्रथा के रूप में संरक्षित स्वीय विधियां – अनुच्छेद 32 या अनुच्छेद 226 के अधीन न्यायालय के समक्ष चुनौती – चूंकि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, अपनी पसन्द के धर्म को अबाध रूप से मानना, आचरण करना और प्रसार करना संविधान के अधीन गारंटीकृत एक मूल अधिकार है, इसलिए, कोई स्वीय विधि उसी सीमा तक प्रभावी हो सकती है जिस सीमा तक वह इन उपबंधों का उल्लंघन नहीं करती है और उल्लंघन करने की सीमा तक वह अभिखंडित कर दी जाएगी ।

वर्तमान मामले में, याची शायरा बानो ने इस न्यायालय में अपने पति रिजवान अहमद द्वारा तारीख 10 अक्तूबर, 2015 को दी गई तलाक को

चुनौती देने के लिए रिट फाइल की है और इस तलाक में पति ने साक्षियों की मौजूदगी में यह कहा है कि मैंने तलाक, तलाक, तलाक दे दी है अर्थात् मैं तुम्हें अपनी पत्नी होने से तलाक देता हूं । इस तारीख से पति और पत्नी का कोई भी संबंध शेष नहीं रहा है । मैं आज से अपनी पत्नी के लिए हराम (प्रतिषिद्ध) हो गया हूं और मैं उसके लिए नामहरम (वह व्यक्ति जिससे पर्दा किया जाए) । तुम भविष्य में अपना जीवन अपने तरीके से जीने के लिए स्वतंत्र हो ...... । उपर्युक्त विवाह-विच्छेद की उद्घोषणा दो साक्षियों, अर्थात् मोहम्मद यासीन (अब्दुल मजीद का पुत्र) और अयाज अहमद (इम्तियाज हुसैन का पुत्र) की मौजूदगी में की गई । याची ने इस घोषणा की ईप्सा की है कि तारीख 10 अक्तूबर, 2015 को उसके पति द्वारा उद्घोषित "तलाक-ए-बिद्दत" आरंभ से ही अविधिमान्य है । याची ने यह भी दलील दी है कि ऐसा विवाह-विच्छेद, जो तात्पर्यित रूप से मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 के अधीन अचानक, एकपक्षीय और अप्रतिसंहरणीय रूप से विवाह बंधन को समाप्त करता है, असंवैधानिक घोषित किया जाए । सुनवाई के दौरान, यह दलील दी गई है कि उसके पति द्वारा उद्घोषित "तलाक-ए-बिद्दत" (तीन तलाक) विधिमान्य नहीं है क्योंकि इसका शरीयत (मुस्लिम स्वीय विधि) में कोई उल्लेख नहीं है । याची का यह भी पक्षकथन है कि इस प्रकृति के विवाह-विच्छेद को शरीयत अधिनियम के अधीन विनिश्चय के नियम के रूप में नहीं माना जा सकता । यह भी दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा से संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अधीन भारत में नागरिकों को गारंटीकृत मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है । याची का यह भी पक्षकथन है "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को संविधान के अनुच्छेद 25(1), 26(ख) और 29 के अधीन धर्म संप्रदायों या उसकी किसी भी शाखा को प्रदत्त अधिकारों के अधीन संरक्षित नहीं किया जा सकता । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भर्त्सना की गई है और इसके अलावा अनेक मुस्लिम धर्मतंत्रीय देशों ने भी "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा पर रोक लगाई है और इस प्रकार, इसे मुस्लिम धर्म के सिद्धांत के लिए अति पवित्र नहीं समझा जा सकता है । प्रत्यर्थी सं. 5 अर्थात् याची के पति रिजवान अहमद द्वारा फाइल प्रति-शपथपत्र से यह प्रकट होता है कि याची और प्रत्यर्थी के बीच तारीख 11 अप्रैल, 2001 को इलाहाबाद में शरीयत के अनुसार "निकाह" (विवाह) हुआ था । यह दलील दी गई है कि याची शायरा बानो ने सविराम रूप से अपने वैवाहिक कर्तव्यों का निर्वहन किया और उसका अपनी ससुराल से मायके आना-जाना लगा

रहता था । दोनों पक्षकारों के बीच वैवाहिक संबंधों के परिणामस्वरूप दो बच्चों एक पुत्र मोहम्मद इरफान् (जिसकी आयु इस समय लगभग 13 वर्ष है और सातवीं कक्षा में पढ़ रहा है) और एक पुत्री उमैरा नाज (जिसकी आयु इस समय लगभग 11 वर्ष है और वह इलाहाबाद में चौथी कक्षा में पढ़ रही है) का जन्म हुआ । प्रत्यर्थी-पति का यह पक्षकथन है कि याची-पत्नी ने तारीख 9 अप्रैल, 2015 को अपने पिता इकबाल अहमद और मामा रईस अहमद तथा दोनों बच्चों अर्थात् मोहम्मद इरफान् और उमैरा नाज के साथ अपने मायके में रहने के लिए अपने दांपत्य गृह को छोड़ दिया था । प्रत्यर्थी ने यह दावा किया है कि वह अपनी पत्नी का भरणपोषण करने और उसका हाल-चाल जानने के लिए उससे मिलने जाता रहता था । जब पति मई और जून, 2015 में अपनी पत्नी के मायके में उसको लेने गया तो उसने उसके साथ चलने से इनकार कर दिया और इसलिए, उसने अपने दांपत्य गृह वापस आने से मना कर दिया । तारीख 3 जुलाई, 2015 को रिजवान अहमद ने शायरा बानो के पिता से शायरा बानो को उसके दांपत्य गृह भेजने के लिए कहा । पति को उसके श्वसुर ने कुछ दिनों बाद यह बताया कि याची, प्रत्यर्थी के साथ रहने के लिए तैयार नहीं है । तारीख 7 जुलाई, 2015 को याची का पिता दोनों बच्चों अर्थात् मोहम्मद इरफान और उमैरा नाज को इलाहाबाद ले आया । पति ने यह दलील दी है कि दोनों बच्चे इसके बाद से उसकी देख-रेख में इलाहाबाद आ गए थे । पति ने यह प्राख्यान किया है कि याची के पिता ने प्रत्यर्थी को इस प्रकार समझाया कि दांपत्य गृह में दोनों बच्चों का पति द्वारा देखभाल करने और अभिरक्षा में रखने के परिणामस्वरूप ही याची इलाहाबाद वापस जाने के लिए तैयार होगी । प्रत्यर्थी-पति द्वारा यह दावा किया गया है कि उसने याची-पत्नी को अपने मायके से वापस लाने का प्रयास तारीख 9 अगस्त, 2015 को भी किया था किंतु, शायरा बानो ने उसके साथ जाने से इनकार कर दिया था । यह दलील दी गई है कि याची के पिता और उसके मामा द्वारा रिजवान अहमद के उपर्युक्त प्रयास करने के संबंध में विरोध किया गया था । उपर्युक्त कठिन परिस्थितियों में, रिजवान अहमद ने प्रधान न्यायाधीश, कुटुंब न्यायालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश के समक्ष 2015 का वैवाहिक मामला सं. 1144 प्रस्तुत करते हुए आवेदन किया जिसमें दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की प्रार्थना की गई थी । याची, शायरा बानो ने उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश XXXVI-ख के साथ पठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 25 के अधीन 2015 के वैवाहिक मामला सं. 1144 जो दांपत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन किए जाने के लिए प्रत्यर्थी-

पति द्वारा फाइल किया गया था और इलाहाबाद में लंबित चल रहा था, को प्रधान न्यायाधीश, कुटुंब न्यायालय, काशीपुर, उत्तराखण्ड के समक्ष स्थानांतरित कराने के लिए 2015 का अंतरण आवेदन (सिविल) सं. 1796 फाइल किया । उपर्युक्त अंतरण आवेदन में पत्नी ने अन्य बातों के साथ-साथ प्राख्यान किया था - याची, काशीपुर, उत्तराखण्ड की निवासी है और बेरोजगार है और उसका पिता एक सरकारी कर्मचारी है । याची का पिता ही उसकी आय का एकमात्र स्रोत है, जिसकी आय बहुत कम है और इसके बावजूद याची ने विवाह के समय के दौरान अपनी क्षमता से अधिक व्यवस्था की थी । किंतु विवाह के तत्काल पश्चात्, प्रत्यर्थी-पति कार और नकदी के रूप में अतिरिक्त दहेज की अयुक्तियुक्त मांग करने लगा । याची ने प्रत्यर्थी की इन मांगों को पूरा करने से सही तौर पर इनकार कर दिया था और इसलिए, प्रत्यर्थी और उसके परिवार द्वारा याची के साथ शारीरिक रूप से यातनापूर्ण व्यवहार किया जाने लगा । याची को प्रायः पीटा जाता था और उसे कई दिनों तक बंद कमरे में भूखा रखा जाता था । प्रत्यर्थी के परिवार वालों ने याची को ऐसी दवाइयां देना आरंभ कर दिया जिनसे उसकी स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी । इन औषधियों के सेवन से वह कई-कई घंटे तक अचेत रहती थी । तारीख 9 अप्रैल, 2015 को प्रत्यर्थी ने औषधियां देकर याची की हत्या करने का प्रयास किया । जब एक चिकित्सक द्वारा किसी समय इन औषधियों का निरीक्षण किया गया, तब यह पता चला कि इन औषधियों का लंबे समय तक सेवन किए जाने से मानसिक संतुलन बिगड़ सकता है । प्रत्यर्थी-याची को अत्यंत गंभीर अवस्था में अर्थात् मरणासन्न स्थिति में मुरादाबाद से इस आशय से लेकर आया कि यदि प्रत्यर्थी की दहेज की मांग पूरी नहीं की गई तो वह उसे यहीं छोड़ कर चला जाएगा । इसके पश्चात्, तारीख 10 अप्रैल, 2015 को प्रत्यर्थी ने याची को मुरादाबाद से ले जाने के लिए उसके माता-पिता को बुलाया । याची के माता-पिता ने प्रत्यर्थी से काशीपुर मिलने आने और विवाद को निपटाने के लिए कहा । प्रत्यर्थी ने काशीपुर जाने से इनकार कर दिया और यह कहा कि उन्हें ही अपनी पुत्री को लेने आना होगा अन्यथा वे अतिरिक्त दहेज की मांग पूरी करें । प्रत्यर्थी ने 5,00,000/- रुपए (मात्र पांच लाख रुपए) की मांग की । प्रत्यर्थी द्वारा की गई अयुक्तियुक्त मांग और उसके यातनापूर्ण व्यवहार के कारण याची के माता-पिता, याची को लेने के लिए मुरादाबाद आए और तारीख 10 अप्रैल, 2015 के बाद से उसे अपने माता-पिता के साथ ही रहना पड़ा । प्रत्यर्थी ने इस तथ्य के बावजूद कि उसने याची के पिता से यह कहा था कि या तो वे उसकी दहेज की मांग पूरी

करें या याची को अपने घर ले जाएं, दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आवेदन फाइल किया है और प्रत्यर्थी ने इसी के अनुसरण में, याची को नशे की दवाइयां दी थी और उसे मुरादाबाद में छोड़ दिया था । प्रत्यर्थी रिजवान अहमद का यह पक्षकथन है कि याची शायरा बानो के उपर्युक्त प्रकथनों को ध्यान में रखते हुए, उसे यह महसूस हुआ कि उसकी पत्नी सुलह के लिए तैयार नहीं है, अतः उसने (दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए) इलाहाबाद में फाइल वाद वापस ले लिया और याची शायरा बानो को तारीख 10 अक्तूबर, 2015 का "तलाकनामा" (विवाह-विच्छेद विलेख) तामील कराने के पश्चात् विवाह-विच्छेद कर दिया । तलाकनामे का पाठ निम्न प्रकार, उद्धृत किया जा रहा है :—

"विवाह-विच्छेद विलेख

तारीख 10 अक्तूबर, 2015

श्रीमती शायरा बानो पुत्री इकबाल अहमद

यह स्पष्ट किया जाता है कि मेरा, रिजवान अहमद का विवाह बिना किसी दहेज के शांतिपूर्ण और सुखमय वैवाहिक जीवन बिताने के लिए आपके साथ हुआ था । विवाह के पश्चात् आपके और मेरे बीच वैवाहिक संबंध बन गए थे । आपके और मेरे बीच बने इस संबंध से दो बच्चें अर्थात् इरफान अहमद (आयु लगभग 13 वर्ष) और कुमारी उमैरा नाज **उर्फ** मुस्कान (आयु लगभग 11 वर्ष) ने जन्म लिया जो मेरी संरक्षकता में रहते हुए, शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं । आपको अत्यंत दुख के साथ यह लिखा जा रहा है कि विवाह के ठीक छह मास पश्चात् आपने मुझ पर यह दबाव डालने के लिए कि मैं (पति) अपने माता-पिता से अलग रहूं जो अयुक्तियुक्त और शरीयत के विरुद्ध कृत्य है । मैं आपको प्रसन्न रखने के लिए और आपकी इच्छानुसार मोहल्ला घौसनगर में किराए के मकान में रहने लगा और एक भवन निर्माता के अधीन एक लिपिक के रूप में कार्य करते हुए, मैंने आपके और बच्चों के साथ सुखद वैवाहिक जीवन बिताने का भरसक प्रयास किया । तथापि, आपने अयुक्तियुक्त रीति में तथा शरीयत के विरुद्ध निरन्तर घर में समस्याएं और लड़ाई-झगड़ा बनाए रखा । जब आपसे लगभग दो वर्ष पूर्व अत्यंत प्रेम-भाव से इस संबंध में कारण जानने की बात की, तब आपने यह शर्त रखी कि जब आपके अन्य नातेदार आपके साथ नहीं रह रहे हों, तब ऐसी स्थिति में, आपको (पति) मेरे माता-पिता के घर आना चाहिए और वहीं पर रहना चाहिए । मैं आत्म-

सम्मान रखने वाले परिवार का एक सदस्य होने के नाते घर-जमाई बनने से इनकार कर दिया । इसके पश्चात्, आपने अपने माता-पिता के दबाव में आकर अनेक मानसिक और शारीरिक बीमारियों का बहाना किया और आपने एक मानसिक रोगी के रूप में व्यवहार किया । जब मैंने इसका कारण जानने का प्रयास किया, तब आपने बड़ी मुश्किल के पश्चात् बताया कि विवाह के पूर्व आपके साथ एक गंभीर दुर्घटना घटित हुई थी । मैंने अपने बच्चों और आपकी खातिर इसे सहन किया । अपने माता-पिता के घर रहने के लिए आपके द्वारा की गई निरन्तर मांग और आपकी हठ करने की प्रवृत्ति तथा मुझे किसी मिथ्या मामले में फंसाने की धमकी और साथ ही स्वयं अपने आपको क्षति पहुंचाने की धमकी और विषपान करने की धमकी से मैं हताश हो गया था और आपका यह व्यवहार निरंतर होता रहता था जिस पर मैंने आपके मामा से शिकायत की थी किंतु आपके पिता ने यह जवाब दिया कि जब कभी वह (पत्नी) ऐसा करे तब आप (पति) उसे नींद की गोलियां दे दिया करें । मुझे इस बात से बहुत निराशा हुई जब आपके पिता ने मुझे यह बताया कि आप विवाह के पहले से मानसिक रोग की शिकार हैं । मैंने इतनी बड़ी घटना और आपके संबंध में बताई गई बातों पर ध्यान नहीं दिया । परिणामतः, आपके स्वभाव में धृष्टता आ गई थी । जब मैंने ये सब बातें आपके पिता को बताईं तब उन्होंने मुझसे कहा कि यह समय बच्चों की छुट्टियों का है इसलिए, आपको अपने बच्चों के साथ अपने माता-पिता के पास भेज दिया जाए । आप (पति) उन्हें घर के वातावरण में परिवर्तन होने तथा गर्मियों की छुट्टियां समाप्त होने पर वापस ले जाना । आपके पिता की बात मानते हुए मैंने आपको आपके माता-पिता के यहां बच्चों के साथ छोड़ दिया और जब आप अपने माता-पिता के यहां जा रही थीं, आपने वे सभी आभूषण अपने साथ ले लिया जो मैंने आपको दिया था, जिनमें 2 तोले की एक सोने का हार, डेढ़ तोले की सोने की चूड़ियां, आधे तोले की सोने की दो अंगूठियां और 15,000/- रुपए नकद थे । मैं आपसे आपका हाल-चाल पूछने के लिए मिलता रहता था और समय-समय पर खर्चे के लिए धन भी देता रहता था । मई और जून के महीने में जब मैंने आपको आपके मायके से लाने का प्रयास किया तब आपने बहाने बनाए । मैं, मई से लेकर जुलाई के बीच आपको वहां से लाने का निरन्तर प्रयास करता रहा किंतु अंततः तारीख 3 जुलाई, 2015 को आपने स्पष्ट रूप से वापस आने से इनकार कर दिया और तारीख 7 जुलाई, 2015 को आपके पिताजी

दोनों बच्चों को इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर लेकर आए और उन्हें वहीं छोड़ दिया और इसके पश्चात् मुझे फोन पर धमकी दी कि तुम या तो अपनी ससुराल चले आओ और वहीं रहो या फिर अपने बच्चों तथा अपने माता-पिता दोनों की जिम्मेदारी अपने घर में संभालों । इस संबंध में, जब मैंने आपसे मालूम किया तब आपने स्पष्ट शब्दों में वापस आने से इनकार कर दिया और आपने यहां तक कहा कि आप (पति) ही बच्चों का पालन-पोषण करें और मुझे (पत्नी) भूल जाएं या बच्चों के लिए अलग से दूसरी मां ले आएं । इसके पश्चात्, मैं स्वयं को संतुष्ट नहीं कर सका और मैंने आपको वापस लाने के लिए वाद फाइल किया । नोटिस प्राप्त करने के पश्चात्, आपने अनापेक्षित रूप में मुझे फोन पर धमकी दी कि मैं (पत्नी) अतिशीघ्र मुकदमा फाइल करूंगी और आपको बताऊंगी कि ससुराल में घर-जमाई बनकर कैसे रहा जाता है । आपके अयुक्तियुक्त और शरीयत के विरुद्ध आचरण से परेशान होकर, मैंने आपसे अलग होना ही बेहतर समझा, अतः मैंने तारीख 8 दिसंबर, 2015 को आपको वापस लाने के लिए फाइल वाद को खारिज कराने हेतु आवेदन किया और अब मैं अपने पूरे होशो-हवास में तथा हाशिया साक्षियों की मौजूदगी में तथा शरीयत के आधार पर, तीन तलाक के माध्यम से - 'मैं तलाक देता हूं', 'मैं तलाक देता हूं', 'मैं तलाक देता हूं', कहते हुए, अपने विवाह बंधन से आपको मुक्त करता हूं । आज के बाद से मेरे और आपके बीच पति-पत्नी का संबंध सदैव के लिए समाप्त हो जाते हैं । आज के बाद से आप मेरे लिए और मैं आपके लिए गैर-कानूनी हो गए । आप अपने तरीके से अपना जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हैं ।

नोट :

जहां तक आपकी मेहर और इद्दत के दौरान दिए जाने वाले खर्चों का संबंध है, मैं तारीख 6 अक्तूबर, 2015 को इलाहाबाद बैंक, करैली, इलाहाबाद शाखा से जारी 10,151/- रुपए के डिमांड ड्राफ्ट सं. 096976 द्वारा भुगतान कर रहा हूं और साथ ही 5500/- रुपए इद्दत के दौरान खर्चों के लिए, इस लिखित विवाह-विच्छेद विलेख के साथ भेज रहा हूं, कृपया आप इसकी अभिस्वीकृत प्रदान करें ।

तारीख 10.10.2015

साक्षी

1. मोहम्मद यासीन पुत्र अब्दुल मजीद, निवासी जे. के.

कालोनी, घौसनगर, करैली, इलाहाबाद ।

2. अयाज अहमद पुत्र इम्तियाज हुसैन, निवासी जी. टी. बी. नगर, करैली, इलाहाबाद ।

ह./-

हिन्दी में हस्ताक्षर /रिजवान अहमद
पुत्र इकबाल अहमद
घौसनगर, करैली, इलाहाबाद ।"

उपर्युक्त के आधार पर, प्रत्यर्थी-पति का यह पक्षकथन है कि उसने मुस्लिम विवाह-विच्छेद के लिए प्रचलित और विधिमान्य तरीके से तलाक दी है । यह निवेदन किया गया है कि उसके द्वारा की गई विवाह-विच्छेद की उद्घोषणा सुन्नी मुसलमानों के हनफी पंथ के अधीन विधिमान्य विवाह-विच्छेद की सभी अपेक्षाएं पूरी करती है और वह "मुस्लिम स्वीय विधि" (शरीयत) के अनुकूल है । प्रत्यर्थी-पति ने यह भी निवेदन किया है कि याची-पत्नी द्वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल वर्तमान रिट याचिका कायम रखे जाने योग्य नहीं है क्योंकि जो प्रश्न इस याचिका में उद्भूत किए गए हैं वे संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायोचित नहीं हैं । वर्तमान मामले (और इससे संबंधित अन्य मामलों) में, विचार के लिए उद्भूत जटिल प्रश्नों के तथ्यात्मक पहलू को ध्यान में रखते हुए, आरंभ में ही यह विनिश्चित किया गया था कि केवल "तलाक-ए-बिद्दत" अर्थात् तीन तलाक पर ही विचार किया जाएगा । इस याचिका से संबद्ध अन्य याचिकाओं में उद्भूत अन्य प्रश्नों जैसे बहु-पत्नीत्व और "हलाला" जैसे मुद्दों (और अन्य सहबद्ध विषयों) पर अलग से विचार किया जाएगा । तथापि, यह एक संयोग है कि वर्तमान संविवाद (अर्थात् तीन तलाक का मुद्दा) का अवधारण अन्य मुद्दों से भी जुड़ा हुआ है । माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की प्रथा को 3 : 2 के बहुमत से अपास्त कर दिया और तद्नुसार, सभी रिट याचिकाओं का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – (बहुमत की राय) इस्लामी विधि के चार स्रोत हैं (i) कुरान (ii) हदीस (iii) इजमा और (iv) कियास । पवित्र कुरान "विधि का प्रथम स्रोत" है । कुरान को प्रधानता दी जानी चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि पवित्र कुरान के अतिरिक्त जो स्रोत हैं वे कुरान में लिखी बातों के पूरक हैं और उनसे वह प्राप्त होता है जिसका उपबंध कुरान में नहीं किया गया है ।

दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है ऐसी कोई हदीस, इजमा या कियास नहीं हो सकता जो उस बात के विरुद्ध हो जिसका उल्लेख कुरान में स्पष्ट रूप से किया गया हो । इस्लाम कुरान के विरुद्ध नहीं हो सकता । तीन सुरों में तलाक के प्रतिनिर्देश किया गया है - सुरा-2 सामाजिक जीवन के बारे में है; सुरा-4 पारिवारिक जीवन के शिष्टाचार के संबंध में है और सुरा 65 में तलाक को स्पष्ट किया गया है । इन निर्देशात्मक आयतों का निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं है । जहां तक तलाक का संबंध है, ये स्पष्ट और असंदिग्ध हैं । पवित्र कुरान के अन्तर्गत विवाह को पवित्र और स्थायी माना गया है । तथापि, अत्यंत अपरिहार्य परिस्थितियों में तलाक अनुज्ञेय है । किन्तु यदि सुलह का प्रयास सफल हो जाता है तब तलाक के समापन के पूर्व कुरान में उल्लिखित आवश्यक कदम उठाते हुए प्रतिसंहरण करना चाहिए । तीन-तलाक के पश्चात् सभी रास्ते बंद हो जाते हैं, इसलिए तीन-तलाक पवित्र कुरान के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल है और परिणामतः इससे शरीयत का अतिक्रमण होता है । (पैरा 208, 209 और 211)

भारत में मुसलमान दो मुख्य पंथों में विभाजित हैं, अर्थात् सुन्नी और शिया और यह मामला केवल सुन्नी से संबंधित है क्योंकि शिया तीन तलाक को मान्यता नहीं देते हैं, इसलिए, बिल्कुल प्रारंभ से ही विचार करना महत्वपूर्ण होगा । इस्लाम में विवाह एक संविदा है और अन्य संविदाओं की भांति यह कतिपय परिस्थितियों में समाप्त की जा सकती है । इसमें आश्चर्यचकित रूप से कुछ आधुनिकता आई है - मुस्लिम विवाह की विधिमान्यता के लिए कोई सार्वजनिक घोषणा करना एक पूर्ववर्ती शर्त नहीं है और न ही कोई धार्मिक अनुष्ठान आत्यंतिक रूप से आवश्यक समझा जाता है, हालांकि ये प्रायिकतः किए जाते हैं । स्पष्ट रूप से, पैगम्बर मोहम्मद के काल से पूर्व, पगान अरब मात्र सनक के आधार पर अपनी पत्नी का परित्याग करने के लिए पूर्ण रूप से स्वछंद था, किंतु इस्लाम के आगमन के पश्चात् उस पुरुष के लिए तलाक अनुज्ञात था यदि उसकी पत्नी ने अपनी दुर्दान्तता या दुश्चरित्र द्वारा वैवाहिक जीवन को असंभव बना दिया है । अच्छे कारण के अभाव में, कोई व्यक्ति तलाक को न्यायोचित्त नहीं ठहरा सकता, क्योंकि वह फिर स्वयं को परमात्मा के अभिशाप का भागी बना लेता है । वास्तव में, पैगम्बर मोहम्मद ने तलाक को परमात्मा की दृष्टि में सबसे घिनौनी विधिपूर्ण बात होना घोषित किया था । इसके कारण ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । तलाक से वैवाहिक बंधन टूट जाता है जो कि इस्लाम में पारिवारिक जीवन के लिए मूलभूत है । इससे न केवल पुरुष और स्त्री के बीच वैवाहिक बंधन का विच्छेद होता है

अपितु ऐसे विवाह से उत्पन्न बालकों पर गंभीर मनोवैज्ञानिक और अन्य प्रभाव पड़ते हैं । (पैरा 232 और 236)

चूंकि विचाराधीन मुद्दा इस्लामिक विवाह-विच्छेद विधि के अधीन "तलाक" द्वारा किया गया विवाह-विघटन है, इसलिए यह अनिवार्य है कि "तलाक" के सिद्धांत को समझा जाए । इस संबंध में यह उल्लेखनीय होगा कि इस्लामिक विधि के अधीन विवाह-विच्छेद तीन वर्गों में विभाजित किया गया है । विवाह-विच्छेद का एक तरीका "तलाक" है जो सामान्य रूप से पति द्वारा अपनाया जाता है । विवाह-विच्छेद का दूसरा तरीका "खुला" है जिसका प्रयोग पत्नी द्वारा किया जाता है । विवाह-विच्छेद का तीसरा तरीका "मुबारात" है जिसका प्रयोग पति और पत्नी दोनों की पारस्परिक सहमति द्वारा किया जाता है । "तलाक" अर्थात् पति द्वारा किया गया विवाह-विच्छेद, पुनः तीन प्रकार का होता है : "तलाक-ए-अहसन", "तलाक-ए-हसन" और "तलाक-ए-बिद्दत" । इस न्यायालय के समक्ष याची की यह दलील है कि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" दोनों "कुरान" और "हदीस" द्वारा अनुमोदित हैं । "तलाक-ए-अहसन" विवाह-विच्छेद का "अत्यंत युक्तियुक्त" रूप समझा जाता है, जबकि "तलाक-ए-हसन" भी युक्तियुक्त समझा जाता है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" न तो "कुरान" और न ही "हदीस" द्वारा मान्य है और इस प्रकार, इसे मुस्लिम धर्म के अनुसार पवित्र नहीं माना जाना चाहिए । इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए जो संविवाद उद्‌भूत हुआ है, वह "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में है । वर्तमान संविवाद के अवधारण के लिए विभिन्न प्रकार की तलाकों के मापदंड और प्रकृति को समझना आवश्यक है । "तलाक-ए-अहसन" पति द्वारा दी गई ऐसी तलाक है जिसमें केवल तलाक देने की एक बार घोषणा की जाती है, इसके पश्चात् प्रविरति काल आता है । इस काल को "इद्दत" कहते हैं । "इद्दत" की अवधि 90 दिन या ऋतुस्राव के तीन चक्र (यदि उस पत्नी को ऋतुस्राव आता हो) हैं । अनुकल्पतः, "इद्दत" की अवधि तीन चन्द्रमास मानी जाएगी (यदि उस पत्नी को ऋतुस्राव नहीं आता है) । यदि "इद्दत" काल के दौरान दंपत्ति सहवास कर लेते हैं या घनिष्ठता बढ़ा लेते हैं तब विवाह-विच्छेद की घोषणा प्रतिसंहृत समझी जाएगी । अतः, "तलाक-ए-अहसन" प्रतिसंहरणीय है । इसके प्रतिकूल, यदि दंपत्ति के बीच "इद्दत" काल के दौरान सहवास या घनिष्ठता नहीं होती है तब "इद्दत" काल के समाप्त होते ही विवाह-विच्छेद अन्तिम और अप्रतिसंहरणीय हो जाता है । इसे अप्रतिसंहरणीय इसलिए कहा जाता है कि दंपत्ति वैवाहिक संबंध पुनः नहीं बना सकते है जब तक कि वे नए सिरे से और नई "मेहर" के साथ

पुनः निकाह न कर लें । "मेहर" एक आज्ञापक संदाय है जो धन या किसी वस्तु का कब्जा, जो निकाह के समय पति या पति के पिता द्वारा पत्नी को दे दिया जाए या दिए जाने का वचन दिया जाए और यह संपत्ति पत्नी की विधिक संपत्ति होगी । तथापि, ऐसे "तलाक" की तीसरी उद्घोषणा किए जाने पर, दंपत्ति एक दूसरे से तब तक विवाह नहीं कर सकते जब तक कि पत्नी पहले अन्य किसी व्यक्ति के साथ विवाह न कर ले और उसके पश्चात् उस व्यक्ति के साथ हुआ विवाह (या तो "तलाक"– विवाह-विच्छेद द्वारा या उस व्यक्ति की मृत्यु द्वारा) समाप्त न हो जाए, तभी वे दंपत्ति दोबारा विवाह कर सकते हैं । मुसलमानों में "तलाक-ए-अहसन" को विवाह-विच्छेद की "अति उत्तम" श्रेणी माना गया है । "तलाक-ए-हसन" भी इसी प्रकार दी जाती है जिस प्रकार "तलाक-ए-अहसन" की उद्घोषणा की जाती है । "तलाक-ए-हसन" के अन्तर्गत तलाक की एक उद्घोषणा के बदले तीन उत्तरोतर उद्घोषणाएं की जाती हैं । तलाक की पहली उद्घोषणा के पश्चात्, यदि एक मास के भीतर पति और पत्नी के बीच सहवास हो जाता है, तब इस प्रकार की गई उद्घोषणा प्रतिसंहृत समझी जाएगी । यदि पति और पत्नी के बीच एक मास की इस अवधि के दौरान सहवास नहीं होता है और अगले महीने तलाक की पुनः उद्घोषणा की जाती है और पुनः एक मास की अवधि के पूर्व ही पति और पत्नी के बीच सहवास हो जाता है तो दूसरे मास में की गई "तलाक" की उद्घोषणा प्रतिसंहृत मानी जाएगी । यह उल्लेखनीय है कि "तलाक" की पहली और दूसरी उद्घोषणा पति द्वारा प्रतिसंहृत की जा सकती है । यदि वह पत्नी के साथ सहवास करके या घनिष्ठता बढ़ाकर ऐसा करता है तब पति द्वारा दी गई "तलाक" की दोनों उद्घोषणाएं इस प्रकार निष्प्रभावी हो जाएंगी, जैसे कभी की न गई हों । यदि तलाक की तीसरी उद्घोषणा की जाती है तब यह तलाक अप्रतिसंहरणीय होगी । अतः प्रथम और द्वितीय उद्घोषणा के पश्चात् पति द्वारा प्रतिसंहरण नहीं किया गया है और पति, पत्नी के तीसरे ऋतुस्राव के पश्चात् उसे तलाक देता है तब जैसे ही तीसरी तलाक की उद्घोषणा की जाएगी वैसे ही तलाक अप्रतिसंहरणीय हो जाएगी और विवाह का विघटन हो जाएगा जिसके पश्चात् पत्नी को इद्दत काल से गुजरना होगा (जिसके दौरान वह पुनर्विवाह नहीं कर सकती । इसका प्रयोजन उस पत्नी से भविष्य में होने वाली संतान का पैतृत्व सुनिश्चित करना होता है ।) "इद्दत" के तीसरे मास के पश्चात् वे पति और पत्नी तब तक पुनर्विवाह नहीं कर सकते जब तक पत्नी पहले अन्य किसी व्यक्ति के साथ विवाह न कर ले और वह विवाह (दूसरे पति द्वारा तलाक दिए जाने या उसकी मृत्यु हो जाने के कारण) विघटित न हो जाए । "तलाक-ए-

अहसन" और "तलाक-ए-हसन" के बीच यही अंतर है कि पहली तलाक में "तलाक" दिए जाने की उद्घोषणा केवल एक बार की जाती है जिसके बाद "इद्दत" की अवधि के दौरान प्रविरति काल होता है और दूसरी वाली "तलाक" में "तलाक" दिए जाने की उद्घोषणा तीन मास में प्रविरति काल सहित तीन बार की जाती है । "तलाक-ए-अहसन" को मुसलमानों द्वारा तलाक दिए जाने का अत्यंत उचित रूप माना गया है जबकि "तलाक-ए-हसन" को केवल उचित रूप माना गया है । तीसरी प्रकार की "तलाक" "तलाक-ए-बिद्दत" है । यह तलाक 'तलाक" देने की निश्चित उद्घोषणा द्वारा प्रभावी होती है, अर्थात् यह कहना कि "मैं तुम्हें अप्रतिसंहरणीय रूप से तलाक देता हूं" या तीन समसामयिक उद्घोषणाएं करना अर्थात् "तलाक", "तलाक", 'तलाक" एक ही समय पर कहना । "तलाक-ए-बिद्दत" द्वारा विवाह-विच्छेद तत्काल प्रभावी हो जाता है । वर्तमान तलाक, अन्य दो तलाकों से भिन्न उद्घोषणा के तत्काल पश्चात् अप्रतिसंहरणीय हो जाती है । यहां तक कि मुसलमानों में भी "तलाक-ए-बिद्दत" को अनियमित तलाक माना गया है । कुरान में "तलाक-ए-बिद्दत" का कोई उल्लेख नहीं है । तथापि, यह प्रमाण मिलता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा इस्लाम के आगमन के 100 वर्ष के बाद से किया जाना पाया गया है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन मात्र कुछ सुन्नी शाखाओं द्वारा ही किया गया है । यह सुन्नी मुसलमानों में के हनफी शाखा में सबसे अधिक पाई जाती है । तथापि, इस बात पर बल दिया गया है कि जिस सम्प्रदाय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" अनुमोदित है, उसके अनुसार भी "तलाक-ए-बिद्दत" एक पापयुक्त कार्य है । यह प्रमाणित है कि इस प्रकार के "तलाक" को "धर्मशास्त्र की दृष्टि से अनुचित किन्तु विधि की दृष्टि से उचित" माना गया है । (पैरा 11, 12, 13, 14, 15 और 16)

यह अभिलिखित करना सुसंगत होगा कि "स्वीय विधि" मुस्लिम धर्म मानने वाले लोगों के कार्यकलाप से संबंधित है जो कि रूढ़ि या प्रथा द्वारा विनियमित है । इसका विनियमन "शरीयत" अर्थात् मुस्लिम "स्वीय विधि" द्वारा भी किया गया है । मुसलमानों द्वारा अपनाई गई रूढ़ि और प्रथा के अन्तर्गत मुस्लिम महिला की हैसियत को महिलाओं के प्रति कष्टदायक माना गया है । भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व, मुस्लिम महिला संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की निन्दा की है कि इससे "शरीयत" के अधीन मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । मुस्लिम महिलाओं ने यह दावा किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि उन्हें भी लागू की जाए । इसीलिए, मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 पारित किया

गया । धारा 2 का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर इस बारे में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि उस रूढ़ि और प्रथा का, जैसा कि वह मुसलमानों में विद्यमान थी, उस सीमा तक छोड़ देने की ईप्सा की गई जहां तक वह मुस्लिम स्वीय विधि के प्रतिकूल थी । धारा 2 के अधीन यह आज्ञापक है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) को अनन्य रूप से निर्वसीयती उत्तराधिकार, महिलाओं की विशेष संपत्ति तथा सभी संबंधित ऐसे प्रश्नों के मामलों में "विनिश्चय के नियम" के रूप में लागू किया जाएगा जैसे "विरासत में ली गई संपत्ति या संविदा के अधीन या उपहार या स्वीय विधि के अन्य किसी उपबंध के अधीन प्राप्त संपत्ति, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला तथा मुबारात आते हैं, भरण-पोषण, मेहर, दान, न्यास तथा न्यास-संपत्ति और वक्फ की संपत्ति सम्मिलित हैं........ । धारा 3 के अधीन उपर्युक्त सूची में दत्तक, विल और वसीयत को भी जोड़ा गया है जो इस धारा के अधीन की गई घोषणा के अध्यधीन है । शरीयत अधिनियम की धारा 5 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि मुस्लिम महिला उन आधारों पर अपने विवाह के विघटन की ईप्सा कर सकती है जो मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन मान्य हैं । यह भी स्पष्ट करना सुसंगत होगा कि शरीयत अधिनियम की धारा 5 का लोप कर दिया गया था और इसे मुस्लिम विवाह-विघटन अधिनियम, 1939 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है । (पैरा 22, 23 और 24)

अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक धर्म मानना, उस पर चलना और उसका प्रचार करना भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार है । यह अधिकार (1) लोक व्यवस्था, (2) स्वास्थ्य, (3) नैतिकता और (4) मूल अधिकारों से संबंधित भाग III के अन्य उपबंधों के अध्यधीन है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 25(2) के अधीन राज्य को अनुच्छेद 25(1) के अधीन प्रदत्त स्वतंत्रता के होते हुए दो आकस्मिक परिस्थितियों में विधि बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई है । अनुच्छेद 25(2) के अधीन यह उपबंधित किया गया है कि "इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो – (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है ; (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।" उपर्युक्त सीमा के सिवाय, भारत के संविधान के अधीन धर्म की स्वतंत्रता

परम है । मात्र इस कारण से कि यह प्रथा लंबे समय से चली आ रही है, विधिमान्य नहीं मानी जा सकती यदि इसे स्पष्ट रूप से अननुज्ञेय घोषित कर दिया गया हो । 1937 के अधिनियम का सम्पूर्ण प्रयोजन यह था कि शरीयत को विनिश्चय का नियम घोषित किया जाए और शरीयत विरोधी प्रथाओं को, धारा 2 में प्रगणित विषयों के संबंध में जिनमें तलाक सम्मिलित है, समाप्त किया जाए । अतः, किसी भी दशा में, 1937 के अधिनियम के पुरःस्थापन के पश्चात् कुरान के सिद्धांतों के विरुद्ध कोई भी प्रथा अनुज्ञेय नहीं है । अतः, ऐसी प्रथा को कोई भी सांविधानिक संरक्षा नहीं दी जा सकती और इस प्रकार तीन-तलाक को सांविधानिक संरक्षा देने के लिए मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से सहमत नहीं हूं । मुझे इस संबंध में गंभीर संदेह भी है कि क्या अनुच्छेद 142 के अधीन भी मूल अधिकार के प्रयोग को व्यादिष्ट किया जा सकता है । जब ऐसी प्रकृति के मुद्दे विचार के लिए सामने आते हैं, तब चर्चा प्रायः ऐसा रूप ले लेती है कि धर्म का मुकाबला अन्य सांविधानिक अधिकारों से किया जाता है । मेरा यह विश्वास है कि उन दोनों के बीच तालमेल संभव है किन्तु विभिन्न हितों के समन्वय की प्रक्रिया विधान-मण्डल की शक्ति के अधीन है । निःसंदेह, इस शक्ति का प्रयोग सांविधानिक मानदण्डों के अन्तर्गत भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत धार्मिक स्वतंत्रता को निरुद्ध किए बिना किया जाना चाहिए । तथापि, किसी भी विधान के लिए निदेश देना न्यायालयों का कार्य नहीं है । जो पवित्र कुरान की दृष्टि से गलत है वह शरीयत के अनुसार सही नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो धर्मशास्त्र के प्रति अनुचित है, वह विधि की दृष्टि से भी गलत ही होगा । (पैरा 225, 226 और 227)

भारत के संविधान का अनुच्छेद 14, संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित प्रास्थिति और अवसर की समता का एक पहलू है । यह अनुच्छेद स्वाभाविक तौर पर स्वयं को दो भागों में विभाजित करता है -(1) विधि के समक्ष समता, और (2) विधि का समान संरक्षण । इस न्यायालय के निर्णयों में इस तथ्य को निर्दिष्ट किया गया है कि विधि के समक्ष समता की धारणा यूनाइटेड किंगडम की विधि से प्राप्त की गई है और विधियों का समान संरक्षण संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के 14वें संशोधन से अपनाया गया है । उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवमन उपाध्याय वाले मामले में इस बात को उजागर करने वाले एक निर्णय में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने विसम्मत निर्णय देते हुए यहां तक कहा है कि विधि के समक्ष समता एक नकारात्मक धारणा है, जबकि विधि का समान संरक्षण सकारात्मक बात है । इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों में अनुच्छेद 14 के "विभेदकारी" पहलू

को निर्दिष्ट किया गया और एक नियम प्रतिपादित किया गया जिसके द्वारा विषयों को वर्गीकृत किया जा सके । यदि वर्गीकरण अभीष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए बोधगम्य है, तो यह अनुच्छेद 14 के विभेद-निवारण पहलू के अधीन पर्याप्त माना जाएगा । लछमन दास बनाम पंजाब राज्य वाले मामले में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने पुनः विसम्मतकारी निर्णय देते हुए चेतावनी दी है कि वर्गीकरण के सिद्धांत पर अत्यधिक जोर देने या वर्गीकरण के लिए कोई आधार ढूंढ़ने के लिए व्यग्र और सतत प्रयत्न करना इस अनुच्छेद को इसके सम्मानजनक मूलतत्व से धीरे-धीरे और अति सूक्ष्मतापूर्वक वंचित कर सकता है । उन्होंने वर्गीकरण के सिद्धांत को न्यायालयों द्वारा उक्त अनुच्छेद को व्यावहारिक सार देने के लिए प्रतिपादित एक "सहायक नियम" के रूप में निर्दिष्ट किया है । वर्ष 1974 के पूर्व काल में, इस न्यायालय के निर्णयों में "विधि का शासन" या अनुच्छेद 14 के "सकारात्मक" पहलू को निर्दिष्ट किया गया है, जिसका सहवर्ती पहलू यह है कि यदि कोई कार्रवाई मनमानी होना पाई गई है और इसलिए अयुक्तियुक्त है, तो यह बात अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के समान संरक्षण को नकार देगी और इस आधार पर उस कार्रवाई को अनदेखा कर दिया जाएगा ।

"मनमानेपन" की बात को जब विधान पर लागू किया जाए तो इसे शिथिलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता है । इसके बजाय, यदि कोई सांविधानिक कमी पाई जाती है, तो अनुच्छेद 14 ऐसी कमी को प्रतिषिद्ध कर देगा । और जब कभी विधान "स्पष्ट तौर पर मनमाना है" तो सांविधानिक कमी स्वयं अनुच्छेद 14 में पाई जाती है, अर्थात् जब यह विधान ऋजु न हो, युक्तियुक्त न हो, विभेदकारी हो, स्पष्ट न हो, स्वेच्छाचारी, पूर्वाग्रहपूर्ण, पक्षपातपूर्ण या भाई-भतीजावादपूर्ण हो और उचित प्रतिस्पर्धा और साम्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि की प्राप्ति करने वाला न हो । निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि यह उन सन्नियमों के संगत होना चाहिए जो तर्कसंगत, सकारण और लोक हित आदि से मार्गदर्शित हों । यह सुस्थिर विधि है कि अधीनस्थ विधान को चुनौती सर्वांगीण विधान के विरुद्ध चुनौती के लिए उपलभ्य आधारों में से किसी आधार पर दी जा सकती है । ऐसी स्थिति में, जब इसे इस आधार पर अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती दी जाती है तो दोनों प्रकार के विधान में कोई तर्कसंगत विभेद नहीं होता है । अतः, प्रकट मनमानेपन की कसौटी अनुच्छेद 14 के अधीन विधान के साथ-साथ अधीनस्थ विधान को अविधिमान्य ठहराने के लिए लागू होगी । इसलिए प्रकट मनमानापन ऐसा कार्य होना चाहिए जो विधान-मंडल द्वारा स्वेच्छाचारिता से अयुक्तिसंगत रूप

से और/या पर्याप्त अवधारित सिद्धांत के बिना किया गया हो । इसके अतिरिक्त, जब कोई ऐसा कार्य किया जाता है जो अत्यधिक और अननुपातिक है, तो ऐसा विधान प्रकटतः मनमाना होगा । अतः प्रकट मनमानेपन के अर्थ में मनमानापन, अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अस्वीकार करने के लिए भी लागू होगा । प्रकट मनमानेपन की कसौटी को लागू करने पर यह स्पष्ट है कि तीन तलाक, तलाक का वह रूप है जिसे स्वयमेव कहीं न कहीं एक नवीन प्रथा होना समझा गया है, अर्थात् यह **सुन्ना** में नहीं है और तलाक का अनियमित या विधर्मगामी रूप है । फयाजी की पुस्तक में जो शरीयत विधि की हनफी शाखा पर है, जिसमें तलाक के इस रूप को मान्यता दी गई है, विनिर्दिष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह रूप यद्यपि विधिपूर्ण तो है फिर भी यह धर्मोल्लंघक है क्योंकि यह परमात्मा की नाराजगी से ग्रस्त है । इस सच्चाई को ध्यान में रखते हुए कि तीन तलाक तुरंत और अप्रतिसंहरणीय होता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि पति और पत्नी के बीच उनके परिवार के दो मध्यस्थों द्वारा सुलह कराने का कोई प्रत्यन, जो विवाह-बंधन को बचाने के लिए आवश्यक है, किया ही नहीं जा सकता है । यह स्पष्ट है कि तलाक का यह रूप इस अर्थ में प्रकटतः मनमाना है कि मुस्लिम पुरुष द्वारा विवाह-बंधन को स्वेच्छाचारिता और मनमर्जी से, उसे बचाने के लिए सुलह का कोई प्रयत्न किए बिना, तोड़ा जा सकता है । इसलिए तलाक के इस रूप को अवश्य भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट मूल अधिकार का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए । अतः, न्यायालय की राय में, अधिनियम, 1937 जहां तक कि यह तीन तलाक को मान्यता देता है और प्रवर्तित करता है, अनुच्छेद 13(1) में "प्रवृत्त विधियां" अभिव्यक्ति के अर्थांतर्गत आता है और जिस सीमा तक यह तीन तलाक को मान्यता देता है और प्रवर्तित करता है, उस सीमा तक इसे शून्य होने के कारण अवश्य अभिखंडित किया जाना चाहिए । चूंकि 1937 के अधिनियम की धारा 2 को ऊपर उपदर्शित सीमा तक इस संकीर्ण आधार पर शून्य घोषित किया गया है कि यह प्रकट रूप से मनमानी है, इसलिए इन मामलों में विभेद वाले आधार पर, जैसाकि विद्वान् महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) और उनका समर्थन करने वालों ने तर्क दिया है, विचार करने की आवश्यकता नहीं है । (पैरा 260, 261, 279, 283, 284 और 285)

यह स्पष्ट है कि तीन तलाक ही तलाक का ऐसा रूप है जो विधि की दृष्टि से तो अनुज्ञेय है, किंतु साथ ही हनफी शाखा ने ही, जिससे इसका सरोकार है, इसे धर्मोल्लंघक बताया है । अतः जावेद वाले मामले के

अनुसार, यह किसी आवश्यक धार्मिक प्रथा का भाग नहीं है । आचार्य जगदीशवरानंद वाले मामले में उल्लिखित कसौटी लागू करने पर समान रूप से यह भी स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म की मूलभूत प्रकृति में इस प्रथा के बिना परिवर्तन नहीं होगा, जैसा कि भारतीय सुन्नी मुसलमानों के दृष्टिकोण से दिखाई पड़ता है । जैसा कि न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला द्वारा मुल्ला की अपनी प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है, वास्तव में, इस्लाम सभी मानवीय कृत्य पांच प्रकारों में विभाजित करता है । उसमें यह कहा गया है – "**ङ आज्ञाकारिता की कोटियां** – इस्लाम सभी कृत्यों को पांच प्रकारों में विभाजित करता है जिनका अल्लाह (ईश्वर) की दृष्टि में अलग-अलग मूल्य है । यह मुसलमानों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । (i) **प्रथम कोटि** : फर्द । कुरान, हदीस या ईजमा में जो कुछ आदेशित है, उसका पालन आवश्यक है । वाज़िब - फर्द की अपेक्षा शायद थोड़ा कम अनिवार्य किंतु केवल थोड़ा-सा कम । (ii) **द्वितीय कोटि** : मसनून, मनदूब और मुस्तहब । ये अनुशंसित कृत्य हैं । (iii) **तृतीय कोटि** : जायज या मुबाह - ये अनुज्ञेय कृत्य हैं जिनके बारे में धर्म उदासीन है । (iv) **चतुर्थ कोटि** : मकरूह - जो अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है । (v) **पंचम कोटि** : हराम - वह जो निषिद्ध है ।" स्पष्ट तौर पर, तीन तलाक प्रथम कोटि के अंतर्गत नहीं आता है, चूंकि यह मान भी लिया जाए कि यह कुरान, हदीस या ईजमा का भाग है, तो भी यह ऐसी बात नहीं है जो "समादेशित" हो । समान रूप से, तलाक स्वयमेव एक अनुशंसित कृत्य नहीं है और इसलिए द्वितीय कोटि के अंतर्गत नहीं आएगा । तीन तलाक ज्यादा से ज्यादा तृतीय कोटि के अंतर्गत आता है, किंतु, अधिसंभाव्यतः, अधिक बेहतर तौर पर चतुर्थ कोटि के अंतर्गत आता है । यह स्मरण रखना होगा कि तृतीय कोटि के अधीन तीन तलाक एक अनुज्ञेय कृत्य है जिसके बारे में धर्म उदासीन है । चतुर्थ कोटि के अंतर्गत यह अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है । हमने पहले ही यह देखा है कि हालांकि तीन तलाक हनफी विधिशास्त्र में अनुज्ञेय है, तो भी यही विधिशास्त्र तीन तलाक को धर्मोल्लंघक होने के कारण इसकी निंदा करता है । अतः यह स्पष्ट है कि तीन तलाक अनुच्छेद 25(1)का भाग नहीं है । ऐसी स्थिति में, मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड की ओर से दी गई यह दलील कि इस विषय को वापस विधान-मंडल के पास भेजा जाना चाहिए, उद्भूत ही नहीं होती, क्योंकि अनुच्छेद 25(2)(ख) केवल तब लागू होगा यदि कोई विशिष्ट धार्मिक प्रथा पहले संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अंतर्गत आती हो । (पैरा 253)

1937 के अधिनियम के पश्चात्, धारा 2 के अधीन "तलाक सहित

विवाह, विवाह-विघटन" जैसे बहुत से विषयों के संबंध में मुसलमानों को लागू होने वाली विधि केवल उनकी स्वीय विधि अर्थात् शरीयत होगी । इससे अधिक और कम कुछ भी लागू नहीं होगा । यह तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । इसके प्रतिकूल, मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 के अधीन विवाह विघटन के आधार उपबंधित किए गए हैं । यही स्थिति हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की है । 1937 के अधिनियम के अधीन मात्र यह उपबंधित है कि धारा 2 में प्रगणित मामलों में शरीयत विनिश्चय के नियम के रूप में लागू है । अतः, जबकि तलाक शरीयत द्वारा शासित होती है किन्तु तलाक के लिए विनिर्दिष्ट आधार और प्रक्रिया को 1937 के अधिनियम में संहिताबद्ध नहीं किया गया है । 1937 का अधिनियम तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । तथापि, विधि के इस प्रश्न के संबंध में कि किसी विधान को, चाहे वह सर्वांगीण हो या अधीनस्थ, मनमाना होने के आधार पर चुनौती दी जा सकती है, भारत के सांविधानिक लोकतंत्र में ऐसे किसी विधान की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि मनमाना है । (पैरा 205 और 206)

यह स्पष्ट है कि मुस्लिम स्वीय विधि द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित तलाक के सभी रूप 1937 के अधिनियम द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित हैं । इसमें आवश्यक रूप से तीन तलाक भी सम्मिलित है जब यह भारत में सुन्नियों पर लागू मुस्लिम स्वीय विधि में आता है । इसलिए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड के इस तर्क को स्वीकार करना अति कठिन है कि धारा 2 तीन तलाक को मान्यता नहीं देती है या प्रवर्तित नहीं करती है । यह धारा स्पष्ट और साफ तौर पर दोनों कार्य करती है क्योंकि यह धारा तीन तलाक को "उन मामलों में विनिश्चय का नियम बनाती है जहां पक्षकार मुस्लिम हों" । 1937 का अधिनियम संविधान के प्रवर्तन में आने से पूर्व विधानमंडल द्वारा बनाई गई विधि है, इसलिए यह पूर्ण रूप से अनुच्छेद 13(3) में की अभिव्यक्ति "प्रवृत्त विधियों" के अंतर्गत आएगी और संविधान के भाग 3 के उपबंधों के असंगत पाए जाने पर ऐसी असंगतता की सीमा तक अधिनियम की धारा 13(1) के उल्लंघन में होगी । (पैरा 246 और 247)

"स्वीय विधि" को संवैधानिक संरक्षण है । यह संरक्षण संविधान के अनुच्छेद 25 के माध्यम से "स्वीय विधि" तक विस्तारित है । यह याद रखने की आवश्यकता है कि "स्वीय विधि" की महत्ता मूल अधिकार जैसी है । "स्वीय विधि" की इस महत्ता तक उत्थापन तब प्राप्त हुआ जब संविधान प्रवृत्त हुआ । यह संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 25 के शामिल किए जाने

के कारण था । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक धार्मिक समुदाय की "स्वीय विधि" अनुच्छेद 25 द्वारा और इसके अधीन उपबंधित के सिवाय, आक्रमण और भंग से संरक्षित है । जहां तक अनुच्छेद 25 में अंतर्विष्ट संवैधानिक उद्देश्य के प्रतिनिर्देश से तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की चुनौती का संबंध है । यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि स्वीय विधि के सिद्धांतों के संवैधानिक संरक्षण में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जब तक यह "लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य" और/या संविधान के भाग-3 के उपबंधों का उल्लंघन न करता हो । यह अनुच्छेद 25(1) में अभिव्यक्त स्पष्ट स्थिति है । इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि स्वीय विधि को संविधान में मूल अधिकार की हैसियत तक उत्थापित किया गया है और इस प्रकार स्वीय विधि इस प्रकार प्रवर्तनीय है जैसा वह है । सभी संवैधानिक न्यायालय सभी मूल अधिकारों (संविधान के भाग 3 में सम्मिलित) के संवैधानिक संरक्षक हैं । अतः यह सभी न्यायालयों का संवैधानिक कर्तव्य है कि वे सभी मूल अधिकारों को संरक्षित, सुरक्षित और प्रवर्तित करें, और कोई अन्य रास्ता नहीं है । न्यायालय के लिए किसी कारण या तर्क के आधार पर असंवैधानिक (या विधि में अस्वीकार्य) घोषित करने के किसी अनुरोध को स्वीकार करना न्यायिकतः अविचारणीय नहीं है जिसे संविधान मूल अधिकार के रूप में घोषित करता है । क्योंकि अनुरोध को स्वीकार करने की दशा में, यह न्यायालय अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्तः संरक्षित अधिकारों को इनकार करेगा । (पैरा 146, 163 और 172)

भारतीय संविधान के उपबंधों पर अमेरिकी संविधान से उद्भूत अवधारणाओं को स्वीकार करना संभव नहीं है । अतः, वर्तमान संविवाद के विनिश्चय के आधार पर तब सारवान् सम्यक् प्रक्रिया को निर्दिष्ट करना संभव नहीं है जब भारतीय संविधान के अधीन वर्तमान विषय पर व्यक्त उपबंध उपबंधित है । यह भी संविधान के अधीन पढ़ना संभव नहीं है जिसे संविधान सभा ने सोच-समझकर और विचारपूर्वक अपवर्जित किया है (या व्यक्ततः सम्मिलित किए गए उपबंधों की अनदेखी की) । कोई यू. एस. उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों का प्रतिनिर्देश नहीं कर सकता, यद्यपि भारत के संविधान और विधियों के उपबंधों के अनुरूप हेतुक के समर्थन में अनुनयकारी प्रभाव के लिए उन पर विचार करने में कोई कठिनाई नहीं है । वस्तुतः यह न्यायालय भारत के उच्चतम न्यायालय के निर्णयों द्वारा आबद्ध है जो संविधान के अनुच्छेद 141 के निबंधनानुसार विधि की आबद्धकारी घोषणाएं हैं । अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का बहुत महत्व है और देशी विधियों का निर्वचन करते समय उन पर विचार किया जाना

चाहिए । किंतु उपर्युक्त नियम का कोई महत्वपूर्ण अपवाद नहीं है अर्थात् यह कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमय घरेलू विधि के प्रतिकूल नहीं है, अकेले का अवलंब नहीं लिया जा सकता । हमारी यह दृढ़ राय है कि प्रस्तुत विवाद उपर्युक्त अपवाद के भीतर आता है । जहां तक "स्वीय विधि" का संबंध है इसे संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है । अतः यदि "स्वीय विधि" अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं के प्रतिकूल है तो "स्वीय विधि" अभिभावी होगी । अतः, तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को कायम रखने की याचियों की ओर से दी गई दलील कि यह ऐसी अभिसमयों और घोषणाओं जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है, के प्रतिकूल है, को माना नहीं जा सकता । (पैरा 173 और 189)

(अल्पमत की राय) – स्वीय विधि से संबंधित विशेषकर विभिन्न धार्मिक समुदायों के विवाह और विवाह-विच्छेद के मुद्दों से संबंधित विषयों के भारत में विधान से संबंधित ब्यौरों का परिशीलन करने से यह प्रकट होता है कि स्वीय विधि द्वारा शासित सभी मुद्दों का प्रवर्तन विधान द्वारा ही किया गया था । उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए कुछ निर्णयों के सिवाय न्यायिक हस्तक्षेप का एक भी दृष्टांत नहीं लाया गया (विस्तार के लिए भाग 6 तलाक-ए-बिद्दत के विषय पर न्यायिक निर्णय देखें) । तथापि, इन निर्णयों ने आक्रमण के विरुद्ध निर्वचनात्मक अनुक्रम का ही प्रयास किया । उपर्युक्त वर्णित ब्यौरे ईसाई, पारसी, अंतरधर्मीय विवाह, बौद्ध, सिख और जैन सहित मुसलमान और हिंदू के बीच विवाह से संबंधित हैं । संविधान के अधीन स्वतंत्रता पूर्व अवधि और स्वतंत्रता पश्चात् अवधि के दौरान निरंतर प्रथा से स्पष्ट और असंदिग्ध अनुक्रम प्रदर्शित होता है अर्थात् विवाह और विवाह-विच्छेद (जो स्वीय विधि के अभिन्न संघटक हैं) के सुधार केवल विधान के माध्यम से ही किए गए थे । अतः पहले से ही अभिलिखित निष्कर्ष के सातत्य में अर्थात् यह कि सभी न्यायालयों का मूल अधिकार के रूप में स्वीय विधि को सुरक्षित और संरक्षित रखने का संवैधानिक कर्तव्य है, अतः उसमें कोई परिवर्तन संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ अनुच्छेद 25(2) और 44 के अधीन विधान द्वारा ही किया जा सकता है । (पैरा 182)

अनुच्छेद 14, 15 और 21 में अधिष्ठापित मूल अधिकार राज्य कार्रवाइयों के विरुद्ध हैं । इन उपबंधों (अनुच्छेद 14, 15 और 21) के अधीन चुनौती का अवलंब राज्य के विरुद्ध ही लिया जा सकता है । यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद 14 राज्य को मनमाने ढंग से कार्य करने से निषिद्ध करता है । अनुच्छेद 14 राज्य से भारत के राज्य क्षेत्र

के भीतर विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण सुनिश्चित करने की अपेक्षा करता है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 15 राज्य को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधारों पर विभेदकारी कार्य करने से प्रतिषिद्ध करता है । याचियों की ओर से उठाई गई विधिक चुनौती न्यायिक पटल पर असफल रहती है । तथापि, प्रश्न यह रहता है कि क्या विषय में संपूर्ण न्याय करने के लिए अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए हमारे लिए यह उचित मामला है । हमारे लिए मात्र एक ही कारण से अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने की संभावना को साबित करने का प्रश्न उठता है कि सभी संबद्ध बातें असंदिग्ध हैं क्योंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा मनमानी होने के अलावा लिंग विभेदकारी है । तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या वाले अधिकांश समतावादी राज्यों में और यहां तक कि इस्लाम धर्मशासित राज्यों में भी विधान द्वारा हटा दिया गया है । याचियों के अनुरोध के मुख्य विरोधी ए.आई.एम.पी.एल.बी. ने भी याचियों की ओर से पक्षपोषित स्थिति को स्वीकार करते हुए, इस स्थिति को माना कि आस्था और धर्म के विषय को अपास्त करना न्यायिक विवेकाधिकार की परिधि के भीतर नहीं है । तथापि, ए.आई.एम.पी.एल.बी. द्वारा भी यह अभिस्वीकार किया गया है कि विधायिका स्थिति से मुक्ति दिला सकेगी । यह प्राख्यान संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 25(2) और अनुच्छेद 44 के संयुक्त पठन पर आधारित है । इसमें संदेह नहीं हो सकता और यह न्यायालय का निश्चायक निष्कर्ष है कि विधान के माध्यम से ही स्थिति को बचाया जा सकता है । हम समझते हैं कि विधायिका को विवाद्यक पर विधि अधिनियमित करने की सलाह देना उचित नहीं है । तथापि, इस मामले में उत्पन्न स्थिति कुछ भिन्न प्रतीत होती है । यहां परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों द्वारा व्यक्त मत विरोधात्मक नहीं है । भारत संघ, हमारे समक्ष याचियों के वाद के समर्थन में उपस्थित हुआ । भारत संघ द्वारा अपनाया गया दृष्टांत यह मानने के लिए पर्याप्त है कि भारत संघ, याचियों के वाद का समर्थन करता है । मुख्य पक्षकार जिसने याचियों की चुनौती का विरोध किया अर्थात् ए.आई.एम.पी.एल.बी. ने इस न्यायालय के समक्ष शपथपत्र फाइल किया । शपथपत्र के परिशीलन से प्रकट होता है कि ए.आई.एम.पी.एल.बी. ने उन लोगों जो वैवाहिक संबंध करते हैं, को सलाह देने के लिए अपने वेबसाइट के माध्यम से एक सूचना जारी की है कि वे निकाहनामा में, यह बात सम्मिलित करने के लिए सहमत हों कि उनके विवाह तलाक-

ए-बिद्दत द्वारा विघटन योग्य नहीं होंगे । ए.आई.एम.पी.एल.बी. ने यह बल देते हुए कि तलाक-ए-बिद्दत से बचा जाए, विवाह-विच्छेद के मामले में अपनाए जाने वाले मार्ग-दर्शक सिद्धांतों को विहित करते हुए शपथपत्र फाइल किया है । यह मानना गलत नहीं होगा कि ए.आई.एम.पी.एल.बी. भी याचियों के वाद को बंद करने के पक्ष में है । उपर्युक्त व्यक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए, यह ऐसा मामला है जो ऐसी स्थिति पैदा करता है जहां इस न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन समुचित निदेश जारी करने के लिए अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना चाहिए । अतः, भारत संघ को यह निदेश दिया जाता है कि समुचित विधान विशेषकर तलाक-ए-बिद्दत के संदर्भ में, बनाने पर विचार करे । यह आशा और प्रत्याशा की जाती है कि अनुध्यात विधान मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के अग्रिम बातों पर भी विचार करेगा जैसा संपूर्ण विश्व में, यहां तक कि इस्लाम धर्म राज्यों द्वारा भी विधान द्वारा सुधार किया गया है । जब भारत के ब्रिटिश शासकों ने विधान द्वारा मुसलमानों को संकट में सहायता का उपबंध किया और जब उपचारात्मक उपाय संपूर्ण विश्व में मुस्लिमों द्वारा अपनाए गए हैं तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि स्वतंत्र भारत इसमें पीछे रहे । भारत में भी, किंतु मुसलमानों के लिए नहीं, अन्य धार्मिक संप्रदायों (IX - भारत में स्वीय विधि में सुधार, देखें) के लिए उपाय किए गए हैं । अतः, विधायिका से इस सर्वोपरि महत्वपूर्ण मुद्दे पर सावधानीपूर्वक गहन विचार करने की याचना की जाती है । विधान के लिए अपेक्षित आवश्यक उपाय पर विचार करते समय विभिन्न राजनीतिक दलों से भी अपने व्यक्तिगत राजनीतिक अभिलाभों को एक तरफ रखने की भी याचना की जाती है । उस समय तक जब तक विषय पर विधान के संबंध में विचार किया जाता है । न्यायालय मुस्लिम पतियों को तलाक-ए-बिद्दत घोषित करने से रोकने के लिए व्यादेश जारी करते हुए उनके वैवाहिक संबंध अलग करने के साधन के रूप में संतुष्ट हैं। पहली नजर में वर्तमान व्यादेश छह मास की अवधि के लिए प्रभावी होगा । यदि विधायी प्रक्रिया छह माह की अवधि की समाप्ति के पूर्व आरंभ होती है और "तलाक-ए-बिद्दत" (एक बार में और उसी समय तलाक की तीन घोषणा) - एक बार में या अनुकल्पतः को पुनःपरिभाषित करने के प्रति सकारात्मक विनिश्चय होता है और यदि यह विनिश्चय किया जाता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा एक साथ समाप्त कर दी जाएगी तो व्यादेश विधान के अंतिम रूप से अधिनियमित किए जाने तक, जारी रहेगी । जिसके न हो सकने पर, व्यादेश प्रभावहीन हो जाएगा । (पैरा 165, 197, 198, 199 और 200)

2017(8) eILR(PAT) SC 110

धर्म आस्था का विषय है न कि तर्क का । न्यायालय, प्रथा जो धर्म का अभिन्न भाग गठित करती है के ऊपर समतावादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । संविधान, प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को अपनी आस्था और धार्मिक परंपरा का पालन करने की अनुज्ञा देता है । संविधान, सभी आस्था के अनुयायियों को यह आश्वस्त करता है कि जीवन की उनकी शैली गारंटीकृत है और उसे कोई चुनौती नहीं दी जा सकती, यद्यपि, यह आज के विश्व और युग में अन्य लोगों (और उसी आस्था का अनुसरण करने वाले कुछ तर्कवादियों) को यह अस्वीकार्य ही क्यों न हो । संविधान, इस गारंटी का विस्तार करता है क्योंकि आस्था अनुयायियों की धार्मिक अंतःचेतना गठित करती है । संविधान, अनुच्छेद 25 के अधीन प्रत्येक पृथक् अस्तित्व की आस्थाओं को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास करता है । (पैरा 193)

कुरान में "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" के किसी प्रतिनिर्देश के अभाव के बावजूद किसी भी याची ने इस आधार पर इसे कोई चुनौती नहीं दी । सुस्पष्टतः इस आधार पर 'तलाक-ए-बिद्दत' को चुनौती नहीं दी जा सकती । हमारा यह समाधान हो गया है कि मुस्लिमों के बीच "तलाक" की भिन्न-भिन्न अनुमोदित प्रथाओं का उद्‌भव हदीसों और मुस्लिम विधिशास्त्र के अन्य स्रोतों में उपलब्ध है । अतः, मात्र इस कारण कि यह कुरान में व्यक्ततः उपबंधित नहीं है या अनुमोदित नहीं है, प्रथा को अपास्त करने का विधिमान्य औचित्य नहीं हो सकता । किसी सामान्य विवाद्यक का निश्चित रूप से समान्य उत्तर ही होता है । परस्पर विरोधी पक्षों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा चाहे जो कुछ कथित किया गया है, दो विवाद्यकों के संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता । प्रथम यह कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा उमर के जमाने से, जो लगभग 1400 वर्ष पूर्व है, प्रचलन में रही है । द्वितीय, यह कि प्रत्येक विद्वान् काउंसेल ने इस बात को ध्यान में रखे बिना कि उन्होंने किस पक्ष (याचियों का या प्रत्यर्थियों का) का प्रतिनिधित्व किया है, एक स्वर में स्वीकार किया है कि यद्यपि "तलाक-ए-बिद्दत" धर्मशास्त्र की दृष्टि में दूषित है, फिर भी इसे विधि की दृष्टि में उपयुक्त माना गया है । याचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी विद्वान् काउंसेलों भी इस बाबत एकमत थे कि "तलाक-ए-बिद्दत" को विधि की दृष्टि में विधिमान्य प्रथा के रूप में स्वीकार किया गया था । इस कारणवश इस प्रथा को मात्र याचियों के कहने पर केवल इस कारण विधि की दृष्टि से अविधिमान्य अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है क्योंकि इसे धर्मशास्त्र में दूषित समझा जाता है । (पैरा 121 और 127)

यह तथ्य कि भारत में लगभग 90 प्रतिशत सुन्नी हनफी विचाराधारा के हैं और वे तलाक के विधिमान्य रूप में "तलाक-ए-बिद्दत" को स्वीकार कर रहे हैं, भी विवाद का विषय नहीं है । यह तथ्य कि मुद्दे को उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक न्यायपीठ के समक्ष जोरदार रूप से पक्षपोषित किया जा रहा है । यह तथ्य कि काफी पहले वर्ष 1992 में प्रिवी काउंसेल के निर्णय ने इस तथ्य के आधार पर वैवाहिक बंधन के पृथक्करण को अभिनिर्धारित किया कि पति द्वारा तीन बार कहा गया तलाक न केवल इसकी वास्तविकता को प्रदर्शित करता है बल्कि पक्षकारों के सिविल अधिकारों के अवधारण के लिए इसका प्रवर्तन भी करती है । अतः, यह स्पष्ट है कि हनफी विचार धारा के सुन्नी मस्लिमों के बीच "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा अनंतकाल से काफी अधिक व्याप्त है । यह मुस्लिम जनसंख्या वाले देशों के मुस्लिमों के बीच काफी व्याप्त है । यद्यपि, यह ऐसे धार्मिक समुदाय के भीतर जिसमें प्रथा व्याप्त है, अधार्मिक माना जाता है फिर भी समुदाय इसे विधि की दृष्टि से विधिमान्य मानता है । इस प्रथा का अनुसरण करने वाले लोग अपने सिविल अधिकारों को उस पर सुलझाने की अनुज्ञा को स्वीकार करते हैं । "तलाक-ए-बिद्दत" भारत में मुस्लिमों के (जो हनफी विचार धारा के है) 90 प्रतिशत द्वारा अपनाई जाती है । भारत में मुस्लिम जनसंख्या 13 प्रतिशत से अधिक (लगभग 16 करोड़) है जिसमें से 4-5 करोड़ शिया हैं और शेष सुन्नी (लगभग 10 लाख अहमदियों के अलावा) - अधिकांशतः हनफी विचार धारा के हैं । अतः, यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि भारत में मुस्लिमों की काफी जनसंख्या अपने धार्मिक विश्वास - अपनी आस्था के रूप में - "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से अपने विवाह बंधन के पृथक्करण का अनुक्रम अपनाते हैं । "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा हनफी विचार धारा के सुन्नी लोगों में - प्रश्नगत धार्मिक समुदाय का अभिन्न भाग मानी जाती है । अन्यथा अभिलिखित करने का तनिक भी कारण नहीं है । "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा ऐसे धार्मिक समुदाय जो इसका आचरण करती है, का अनुमोदन और मंजूरी प्राप्त है और इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि यह प्रथा उनकी स्वीय विधि का भाग है । (पैरा 144 और 145)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2017]	(2017) 7 एस. सी. सी. 59 : **बिनोय विस्वाम** बनाम **भारत संघ** ;	281

2017(8) eILR(PAT) SC 110

[2017] (2017) 1 के. एल. टी. 300 :
नजीर बनाम **शमीमा** ; 34,40,119,128,224

[2016] (2016) 7 एस. सी. सी. 703 :
सेल्यूलर आपरेटर्स एसोसिएशन आफ इंडिया बनाम
भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण ; 282

[2016] (2016) 2 एस. सी. सी. 445 :
राजबाला बनाम **हरियाणा राज्य और अन्य** ; 281

[2016] (2016) 2 एस. सी. सी. 36 :
प्रकाश बनाम **फूलवती** ; 229

[2015] (2015) 8 एस. सी. सी. 439 :
खुर्शीद अहमद खां बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ; 36

[2015] (2015) 1 एस. सी. सी. 192 :
चारू खुराना बनाम **भारत संघ** ; 45,64

[2014] (2014) 12 एस. सी. सी. 770 :
पुलिस आयुक्त बनाम **आचार्य जगदीश्वरानंद अवधूत** ; 252

[2014] (2014) 11 एस. सी. सी. 224 :
सफाई कर्मचारी आंदोलन बनाम **भारत संघ** ; 188

[2014] (2014) 9 एस. सी. सी. 737 :
मोहम्मद आरिफ बनाम **भारत का उच्चतम न्यायालय** ; 272

[2014] (2014) 9 एस. सी. सी. 1 :
मनोज नरुला बनाम **भारत संघ** ; 36

[2014] (2014) 4 एस. सी. सी. 1 :
शबनम हाशमी बनाम **भारत संघ** ; 41

[2012] (2012) 10 एस. सी. सी. 1 :
नेचुरल रिसोर्सेज एलोकेशन ; 279

[2012] (2012) 6 एस. सी. सी. 312 :
मध्य प्रदेश राज्य बनाम **राकेश कोहली** ; 281

[2011] (2011) 9 एस. सी. सी. 286 (पैरा 29) :
ए. पी. डेयरी डेवलपमेंट कारपोरेशन फेडरेशन बनाम
बी. नरसिम्हा रेड्डी ; 276

2017(8) eILR(PAT) SC 110

[2011]	(2011) 9 एस. सी. सी. 1 : **के. टी. प्लांटेशन (प्रा.) लि.** बनाम **कर्नाटक राज्य** ;	278
[2011]	(2011) 8 एस. सी. सी. 737 (पैरा 50 से 53) : **तमिलनाडु राज्य** बनाम **के. श्याम सुंदर** ;	276
[2010]	(2010) 4 जे. के. जे. 380 : **मंजूर अहमद खान** बनाम **साजा और अन्य** ;	220
[2009]	(2009) 8 एस. सी. सी. 46 : **केरल राज्य** बनाम **पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज** ;	188
[2008]	(2008) 103 डी. आर. जे. 137 : **मसरूर अहमद** बनाम **राज्य (राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र, दिल्ली) और एक अन्य** ;	33,40,41,57, 105,119,128
[2008]	(2008) 6 एस. सी. सी. 1 (पृ. 524) : **अशोक कुमार ठाकुर** बनाम **भारत संघ** ;	277
[2008]	(2008) 4 एस. सी. सी. 54 : **कृष्ण जनार्दन भट** बनाम **दतात्रेय जी हेगड़े** ;	188
[2008]	(2008) 3 एस. सी. सी. 1 : **अनुज गर्ग** बनाम **होटल एसोसिएशन ऑफ इंडिया** ;	64
[2005]	(2005) 8 एस. सी. सी. 534 : **गुजरात राज्य** बनाम **मिर्जापुर मोती कुरैशी कसाब जमात** ;	72
[2005]	(2005) 4 के. एल. टी. 565 : **उम्मेर फारूक** बनाम **नसीमा** ;	221
[2005]	(2005) 2 एस. सी. सी. 317 : **डा. सुब्रमणियम स्वामी** बनाम **निदेशक केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो** ;	280
[2004]	(2004) 4 एस. सी. सी. 311 (पृ. 354) : **मारडिया केमिकल्स लि. और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	275, 280
[2003]	[2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369 : **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य ;**	36,251

[2003]	(2003) 6 एस. सी. सी. 611 : **जॉनवल्लामट्टम** बनाम **भारत संघ** ;	36,160,167,170
[2003]	[2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369 : **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य** ;	36,69
[2003]	(2003) 3 ए. एल. डी. 220 : **जमरूद बेगम** बनाम **के. मोहम्मद हनीफ और अन्य** ;	218
[2003]	(2003) 1 एल. डब्ल्यू. 370 : **ए. एस. परवीन अख्तर** बनाम **भारत संघ** ;	219
[2002]	(2002) 8 एस. सी. सी. 106 : **एन. आदित्यन** बनाम **त्रावणकोर देवसोम बोर्ड** ;	105,161
[2002]	(2002) 7 एस. सी. सी. 518 : **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य** ;	40,138,202,203,212, 213,216,217,218,219, 220,224,227,284,285
[2001]	(2001) 2 एस. सी. सी. 386 : **ओम कुमार** बनाम **भारत संघ** ;	272
[2001]	(2001) 7 एस. सी. सी. 740 : **डैनियल लतीफी** बनाम **भारत संघ** ;	160
[1999]	(1999) 2 एस. सी. सी. 228 : **गीता हरिहरन** बनाम **भारतीय रिजर्व बैंक** ;	64
[1999]	(1999) 1 एस. सी. सी. 759 : **एपेरेल एक्पोर्ट प्रोमोशन काउंसिल** बनाम **ए. के. चोपड़ा** ;	188
[1998]	(1998) 2 एस. सी. सी. 1 : **माल्पे विश्वनाथ आचार्या** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	274,280
[1997]	(1997) 6 एस. सी. सी. 241 : **विशाखा** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	64
[1997]	(1997) 4 एस. सी. सी. 606 : **श्री आदि विश्वेश्वरा ऑफ काशी विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	105,161

[1997] (1997) 3 एस. सी. सी. 573 :
अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप ए. डब्ल्यू. ए. जी. बनाम **भारत संघ** ; 81,161,219,257

[1997] (1997) 2 एस. सी. सी. 453 :
बिहार राज्य बनाम **बिहार डिस्टिलरी लि.** ; 281

[1997] [1997] 2 उम. नि. प. 305 =
(1996) 9 एस. सी. सी. 548 :
ए. एस. नारायणा दीक्षितुलु बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य** ; 69

[1997] [1997] 1 उम. नि. प. 98 =
(1996) 5 एस. सी. सी. 125 :
मधु किश्वर बनाम **बिहार राज्य** ; 161

[1996] (1996) 8 एस. सी. सी. 525 :
सी. मसिलामणि मुदालियार बनाम
श्री स्वामीनाथस्वामी थिरुकोइल ; 64,71,167

[1996] (1996) 3 एस. सी. सी. 709 : 271,272,273,274,
आंध्र प्रदेश राज्य बनाम **मैक्डोवेल एंड कं.** ; 278,280,281

[1996] (1996) 3 एस. सी. सी. 545 :
वलसम्मा पाल बनाम **कोचीन विश्वविद्यालय** ; 65

[1996] (1996) 2 एस. सी. सी. 226 :
के. आर. लक्षमण (डा.) बनाम **तमिलनाडु राज्य** ; 270,272

[1996] (1996) ए. एल. टी. 1138 (1993 की रिट याचिका सं. 9717, जिसका विनिश्चय तारीख 9.10.1996 को किया गया) :
यूथ वेलफेयर फेडरेशन ; 82

[1995] (1995) 3 एस. सी. सी. 635 :
सरला मुदगल बनाम **भारत संघ** ; 167,169

[1994] (1994) (सप्ली.) 1 एस. सी. सी. 713 :
महर्षि अवधेश बनाम **भारत संघ** ; 101,160

[1993] (1993) (सप्ली.). 3 एस. सी. सी. 268 :
बबीता प्रसाद बनाम **बिहार राज्य** ; 268

[1985] (1985) 2 एस. सी. सी. 556 :
मोहम्मद अहमद खान बनाम **शाहबानो बेगम** ; 160

[1985] [1985] 1 उम. नि. प. 615 =
(1985) 1 एस. सी. सी. 641 :
इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स बनाम **भारत संघ** ; 283

[1984] [1984] 4 उम. नि. प. 675 =
(1984) 3 एस. सी. सी. 316 :
ए. एल. कालरा बनाम **दि प्रोजेक्ट एंड इक्विपमेंट कार्पोरेशन** ; 268

[1983] [1983] 3 उम. नि. प. 363 =
(1983) 2 एस. सी. सी. 277 :
मिट्ठू बनाम **पंजाब राज्य** ; 272

[1981] [1981] 4 उम. नि. प. 410 =
(1981) 1 एस. सी. सी. 722 :
अजय हासिया बनाम **खालिद मुजीब सेहरावर्दी** ; 269,272, 279,280

[1981] (1981) 3 एस. सी. सी. 689 :
श्री कृष्ण सिंह बनाम **मथुरा अहीर और अन्य** ; 81,160, 161,219

[1981] [1981] 2 उम. नि. प. 839 =
(1980) 4 एस. सी. सी. 125 :
फजलुन्नवी बनाम **के. खादर वली और एक अन्य** ; 118,212

[1981] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट्स 375 :
रुकैया खातून बनाम **अब्दुल खालिक लश्कर** ; 32,36,40, 128,213

[1981] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358 :
जियाउद्दीन अहमद बनाम **अनवारा बेगम** ; 31,36,40,119, 128,213,216

[1980] (1980) 3 एस. सी. सी. 625 :
मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम **भारत संघ** ; 35

[1979] [1979] 3 उम. नि. प. 407 =
(1978) 4 एस. सी. सी. 494 :
सुनील बत्रा बनाम **दिल्ली प्रशासन और अन्य** ; 272

[1979] [1979] 1 उम. नि. प. 243 =
(1978) 1 एस. सी. सी. 248 :
मेनका गांधी बनाम **भारत संघ** ; 267,272,279

[1976]	[1976] 1 उम. नि. प. 1103 = (1975) (सप्ली.) एस. सी. सी. 1 : **इंदिरा गांधी** बनाम **राज नारायण** ;	263
[1974]	[1974] उम. नि. प. 511 = (1974) 4 एस. सी. सी. 3 (पृ. 38.) : **ई. पी. रायप्पा** बनाम **तमिलनाडु राज्य** ;	266
[1974]	[1974] 1 उम. नि. प. 1285 = (1974) 1 एस. सी. सी. 549 : **पंजाब राज्य** बनाम **खान चंद** ;	272
[1973]	[1973] 2 उम. नि. प. 159 = (1973) 4 एस. सी. सी. 225 : **केशवानंद भारती** बनाम **केरल राज्य** ;	35,263
[1972]	(1972) के. एल. टी. 512 : **मोहम्मद हनीफा** बनाम **पथुम्मल बीबी** ;	214,215
[1971]	ए. आई. आर. 1971 केरल 261 : **ए. युसूफ राथर** बनाम **सोरम्मा** ;	117,214
[1970]	(1970) 1 एस. सी. सी. 248 : **रुस्तम कावसजी कपूर** बनाम **भारत संघ** ;	271
[1968]	[1968] 1 एस. सी. आर. 349 : **मैसूर राज्य** बनाम **एस. आर. जयराम** ;	262
[1967]	[1967] 2 एस. सी. आर. 703 : **एस. जी. जयसिंघानी** बनाम **भारत संघ** ;	261
[1964]	[1964] एस. सी. आर. 756 : **संत राम और अन्य** बनाम **लाभ सिंह और अन्य** ;	250
[1963]	[1963] 2 एस. सी. आर. 395 : **लछमन दास** बनाम **पंजाब राज्य** ;	260
[1963]	[1963] (सप्ली.) 1 एस. सी. आर. 885 : **प्रेम चंद गर्ग** बनाम **उत्पाद-शुल्क आयुक्त, उत्तर प्रदेश राज्य** ;	255

[1962]	ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853 : **सैदना ताहर सैफुद्दीन साहेब** बनाम **मुम्बई राज्य** ;	72
[1961]	[1961] 1 एस. सी. आर. 14 : **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **देवमन उपाध्याय** ;	260
[1960]	ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 378 : **बिहार राज्य** बनाम **राय बहादुर हरदूत राय मोदीलाल जूट मिल्स** ;	41
[1958]	[1958] एस. सी. आर. 895 : **श्री वेंकटरमन देवारू** बनाम **मैसूर राज्य** ;	67
[1958]	ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 731 : **कुरेशी** बनाम **बिहार राज्य** ;	72
[1957]	[1957] एस. सी. आर. 837 : **ए. वी. फर्नांडीज़** बनाम **केरल राज्य** ;	245
[1954]	[1954] एस. सी. आर. 1005 : **आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास, मद्रास** बनाम **लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामीयर आफ श्री शिरूर मठ** ;	252
[1954]	ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 388 : **रतीलाल** बनाम **मुम्बई राज्य** ;	72
[1954]	ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 282 : **हिन्दू रिलीजियस इन्डाउमेंट्स, मद्रास** बनाम **श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामियार आफ शिरूर मठ** ;	72
[1953]	[1953] एस. सी. आर. 1 : **अश्विनी कुमार घोष** बनाम **अरविंद बोस** ;	244
[1952]	ए. आई. आर. 1952 मुम्बई 84 : **बम्बई राज्य** बनाम **नरासू अप्पा माली** ;	70,71,81,156, 160,162,230
[1950]	[1950] एस. सी. आर. 88 : **ए. के. गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य** ;	272
[1932]	ए. आई. आर. 1932 प्रिवी कौंसिल 25 = (1931) एस. सी. सी. 78 (प्रिवी कौंसिल) : **राशीद अहमद** बनाम **अनीसा खातून** ;	30,39,43,144, 190,248,285

[1906] (1906) आई. एल आर. 30 बम्बई 537 :
साराबाई बनाम **रबियाबाई** ; 248

[1878] आई. एल. आर. (1878) 4 कलकत्ता 588 :
फरजन्द हुसैन बनाम **जानू बीबी** ; 213

आई. एल. आर. 30 मुम्बई 537 :
साराबाई बनाम **राबियाबाई** ; 212

135 एस. सीटी. 2584, पृ. 2605,
26 जून, 2015 को विनिश्चित :
ओबेरगेफेल बनाम **होजेस** । 256

मूल (सिविल) अधिकारिता : **2016 की रिट (सिविल) याचिका सं. 118, 2015 की स्वप्रेरणा से रिट (सिविल) याचिका सं. 2, 2016 की रिट (सिविल) याचिका सं. 288, 327 और 665 तथा 2017 की रिट (सिविल) याचिका सं. 43.**

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री प्रशांत मूर्ति, महा-सालिसिटर, मुकुल रोहतगी, महान्यायवादी, तुषार मेहता, (सुश्री) पिंकी आनंद, अपर महा-सॉलिसिटर, अमित सिंह चड्डा, सलमान खुर्शीद, आनंद ग्रोवर, वी. गिरि, कपिल सिब्बल, युसूफ हातिम मुछाला, राजू रामचंद्रन, (सुश्री) इंदिरा जयसिंह, बी. एच. मर्लापल्ले, राम जेठमलानी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, बालाजी श्रीनिवासन, अरुनव मुखर्जी, दिलप्रीत सिंह, अभिषेक भारती, (सुश्री) वैश्नवी सुब्रमण्यम्, (सुश्री) प्रतीक्षा मिश्र, (सुश्री) सृष्टि गोविले, मयंक किरनसागर, साहिल मोंगिया, दिव्येश प्रताप सिंह, कुंवर आदित्य सिंह, (सुश्री) शिवांगी

सिंह, सूरज प्रकाश सिंह, जैलंदर कुमार राय, (सुश्री) प्रिया हिंगोरानी, अश्वनी उपाध्याय, रनवीर यादव, बालाजी श्रीनिवासन, वी. के. बीजू, अभय प्रताप सिंह, (सुश्री) हेमा साहू, (सुश्री) गगन दीप कौर, राजेश पाठक, हरिश पांडेय, अभिशेख चक्रवर्ती, अमीत शर्मा, मुकेश जैन, द्वारका सावले, (सुश्री) माधवी दीवान, (सुश्री) दीक्षा राय, (सुश्री) रंजीता रोहतगी, अभिनव मुखर्जी, (सुश्री) ऐश्वर्या भाटी, रजत नायर, देवाशीष भारुक, राजेश रंजन, राज बहादुर, एम. के. मरोरिया, (सुश्री) कनिका सारण, (सुश्री) निधि खन्ना, जी. एस. मक्कण, जाफर खुर्शीद, (सुश्री) संचिता आइन एंटोनी आर. जुलियान, (सुश्री) अजर रहमान (मैसर्स इक्विटी लेक्स एसोसिएशन के लिए), आरीफ मोहम्मद खान, डा. चंद्रा राजन, (सुश्री) रेशमा आरीफ, आफताब अली खान, मुस्तफा आरीफ, संदीप गरौसा, (सुश्री) अफशान प्राचा, राहुल शर्मा, (सुश्री) त्रिपति टंडन, (सुश्री) लोराइन मिस्क्यूथ, (सुश्री) श्रीनिधि राव, शादान फरसत, (सुश्री) रुद्राक्षी देव, उजमी जमील हुसैन, मोहम्मद परवेज दबास, शकील अहमद सईद, मोहम्मद सादिक टी. ए., (सुश्री) स्वाधा शंकर, किर्थीवास जी., अमीत कृष्णन, कृष्णा देव जे., मानव वोहरा, तइयब खान, मुजीब उद्दीन खान, नियाज अहमद फारुकी, सईद शाहीद हुसैन रिजवी, एस. मनसूर, एन. जीज, एजाज मकबूल,

ताहीर एम. हाकीम, एम. आर. शमशाद, सी. जॉर्ज थामस, (सुश्री) आकृति चौबे, (सुश्री) कौरतुल्लई, (सुश्री) तानया, विक्रम आदित्य नारायण, (सुश्री) माइथिली विजय कुमार थाल्लम, जैन मकबूल, ताहीर एम. हकीम, साकीब अंसारी, शरीफ शेख, अंसार तम्बोली, शाहीद नदीम, ईश्वर मोहंती, (सुश्री) हमसिनी शंकर, (सुश्री) मेहर देव, पुरुषोत्तम शर्मा त्रिपाठी, मुकेश कुमार सिंह, रवि चंद्र प्रकाश, अमृतनंदा सी., संदीप पाणिग्रही, (सुश्री) गरिमा बजाज, अजीत वाघ, आदित्या गग्गर, अपूर्वा शुक्ला, ओ. पी. गग्गर, मनोज गोयल, वजीम शफीक, नमन कम्बोज, धैर्या कपूर, (सुश्री) नित्या रामाकृष्णन, (सुश्री) वारीशा फरासत, (सुश्री) रुद्राक्षी देव, अहमद सईद, शदान फरासत, इम्तियाज अहमद, (सुश्री) नगमा इम्तियाज, अहमद जरघम, डा. हर्ष पाठक, मोहम्मद इब्राहिम (मैसर्स इक्विटी लेक्स एसोसिएशन के लिए), (सुश्री) अपर्णा भट्ट, (सुश्री) जोशीता पाई, अजमल खान, डा. सुमंत भारद्वाज, प्रेम प्रकाश सिंह, अविरल सक्सेना, राकेश कैलाश शर्मा, (सुश्री) मृदुला राय भारद्वाज, मनोज कुमार, ए. पी. सिंह, वी. पी. सिंह, (सुश्री) गीता चौहान, (सुश्री) प्रतिमा रानी, (सुश्री) सुरेखा श्रीवास्तव, एम. एम. कश्यप, (सुश्री) रुखसाना चौधरी, अनीस अहमद खान, सोएब अहमद खान, संदीप गरौसा, मोहम्मद नावेद मियां, मोहम्मद इर्शाद

हनीफ, साहिद नदीम अंसारी, मतीन शेख, वासिफ रहमान, अरशद शेख, मोहम्मद रजिक शेख, आरीफ अली खान, मुजाहिद अहमद, मोहमद इजहार आलम, माता प्रसाद सिंह, (सुश्री) रंजना रस्तोगी सिंह, मोहमद इरशाद हनीफ, सरवर रजा, मोहम्मद वसीम अकरम, तकरीम अहसान खान, मोहमद अतीक, अंसार तम्बोली, अफरोज सिद्दिकी, एम. आर. शमशाद, जाकी अहमद खान, आदित्य समद्दार, मुश्ताक अहमद, सुब्रत दास, रीगन एस. बेल, जोगी स्केरिया, वी. के. शुक्ला, मोहम्मद निजाम पाशा, गौतम तालुकदार, (सुश्री) आभा आर. शर्मा, डी. एस. परमार, सुशील तोमर, (सुश्री) सुजीता श्रीवास्तव, (सुश्री) कविता शर्मा, (सुश्री) अल्का अग्रवाल, (सुश्री) शोभा, पी. वी. सिंह, (सुश्री) श्रीमातो राय, देबासीस मिश्रा, (सुश्री) फरहा फैज, विवेक सी. सोल्शे, सी. जी. सोल्शे, मोहम्मद अमनुल्लाह, (सुश्री) शबीना अंजूम, मिस्बाह बीन तारिक, नीरज झा, निखलेश रामचंद्रन, जबार सिंह, प्रमोद कुमार, विश्वपाल सिंह, सी. एम. अंगदी, आर. पी. गोयल, अरुण कुमार, बिरेन्द्र कुमार चौधरी, अजय अवस्थी, राज सिंह राणा, नितिन कुमार ठाकुमर, ई. सी. अग्रवाल, अभिनव अग्रवाल, बलदेव अतेर्या, सुनिल मुरर्का, जे. एस. सुहाग, जगजीत सिंह सुहाग, डा. कैलाश चंद, रिशाद अहमद चौधरी,

न्यायालय ने निम्नलिखित निर्णय और आदेश पारित किया ।

मु. न्या. खेहर –

निर्णय और आदेश

अनुक्रमणिका

क्रमांक	खंड	अन्तर्वस्तु	पैरा
1.	भाग-1	याची का वैवाहिक मतभेद और उसकी प्रार्थना	1-10
2.	भाग-2	मुसलमानों में "तलाक" के प्रचलित ढंग	11-16
3.	भाग-3	पवित्र कुरान - "तलाक" के संबंध में	17-21
4.	भाग-4	मुस्लिम 'स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत में विधान	22-27
5.	भाग-5	विश्व भर में, इस्लामिक तथा गैर-इस्लामिक देशों में विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निकारण	28-29
	क	अरब देशों की विधियां	(i)-(xiii)
	ख	दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की विधियां	(i)-(iii)
	ग	उप महाद्वीप देशों की विधियां	(i)-(ii)
6	भाग-6	"तलाक-ए-बिद्दत" विषय पर न्यायिक उद्घोषणाएं	30-34
7.	भाग-7	याची और मध्यक्षेपियों की दलीलें	35-78
8.	भाग-8	याची की दलीलों का खंडन	79-111
9.	भाग-9	परस्पर विरोधी दलीलों और हमारे इस निष्कर्ष का कि	112-114
	I	क्या "तलाक-ए-बिद्दत" को मान्य ठहराने वाले राशीद अहमद के मामले में प्रिवी कौंसिल के निर्णय पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए ?	115-120
	II	क्या "तलाक-ए-बिद्दत" को, जो स्वीकृत रूप से पापमय है, विधि की दृष्टि से मंजूरी प्राप्त है ?	121-127
	III	क्या "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा "हदीसों" द्वारा अनुमोदित/अननुमोदित है ?	128-139

	IV	क्या "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा मुसलमानों के लिए आस्था की बात है ? यदि हां, तो क्या यह उनकी "स्वीय विधि" का अवयव है ?	140-145
	V	क्या मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधीन उक्त विधान द्वारा विनियमित विषयों को कानूनी हैसियत प्रदत्त की गई है ?	146-157
	VI	क्या "तलाक-ए-बिद्दत" से संविधान के अनुच्छेद 25 में स्पष्ट किए गए मानदंडों का अतिक्रमण होता है ?	158-165
	VII	सांविधानिक नैतिकता और "तलाक-ए-बिद्दत'	166-174
	VIII	भारत में "स्वीय विधि" संबंधी सुधार	175-182
	IX	"तलाक-ए-बिद्दत" पर अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय और उद्घोषणाओं के प्रभाव	183-189
	X	उपर्युक्त बातों से उद्भूत निष्कर्ष	190-191
10.	भाग-10	घोषणा	191-291

भाग -1

याची का वैवाहिक मतभेद और उसकी प्रार्थना –

1. याची शायरा बानो ने इस न्यायालय में अपने पति रिजवान अहमद द्वारा तारीख 10 अक्तूबर, 2015 को दी गई तलाक को चुनौती देने के लिए रिट फाइल की है और इस तलाक में पति ने साक्षियों की मौजूदगी में यह कहा है कि मैंने तलाक, तलाक, तलाक दे दी है अर्थात् मैं तुम्हें अपनी पत्नी होने से तलाक देता हूं । इस तारीख से पति और पत्नी का कोई भी संबंध शेष नहीं रहा है । मैं आज से अपनी पत्नी के लिए हराम (प्रतिषिद्ध) हो गया हूं और मैं उसके लिए नामहरम (वह व्यक्ति जिससे पर्दा किया जाए) । तुम भविष्य में अपना जीवन अपने तरीके से जीने के लिए स्वतंत्र हो ...... ।" उपर्युक्त विवाह-विच्छेद की उद्घोषणा दो साक्षियों, अर्थात् मोहम्मद यासीन (अब्दुल मजीद का पुत्र) और अयाज अहमद (इम्तियाज हुसैन का पुत्र) की मौजूदगी में की गई । याची ने इस घोषणा की ईप्सा की है कि तारीख 10 अक्तूबर, 2015 को उसके पति द्वारा उद्घोषित

"तलाक-ए-बिद्दत" आरंभ से ही अविधिमान्य है । याची ने यह भी दलील दी है कि ऐसा विवाह-विच्छेद, जो तात्पर्यित रूप से मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 के अधीन अचानक, एकपक्षीय और अप्रतिसंहरणीय रूप से विवाह बंधन को समाप्त करता है, असंवैधानिक घोषित किया जाए । सुनवाई के दौरान, यह दलील दी गई है कि उसके पति द्वारा उद्घोषित "तलाक-ए-बिद्दत" (तीन तलाक) विधिमान्य नहीं है क्योंकि इसका शरीयत (मुस्लिम स्वीय विधि) में कोई उल्लेख नहीं है । याची का यह भी पक्षकथन है कि इस प्रकृति के विवाह-विच्छेद को शरीयत अधिनियम के अधीन विनिश्चय के नियम के रूप में नहीं माना जा सकता । यह भी दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा से संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अधीन भारत में नागरिकों को गारंटीकृत मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है । याची का यह भी पक्षकथन है 'तलाक-ए-बिद्दत' की प्रथा को संविधान के अनुच्छेद 25(1), 26(ख) और 29 के अधीन धर्म संप्रदायों या उसकी किसी भी शाखा को प्रदत्त अधिकारों के अधीन संरक्षित नहीं किया जा सकता । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भर्त्सना की गई है और इसके अलावा अनेक मुस्लिम धर्मतंत्रीय देशों ने भी "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा पर रोक लगाई है और इस प्रकार, इसे मुस्लिम धर्म के सिद्धांत के लिए अति पवित्र नहीं समझा जा सकता है ।

2. प्रत्यर्थी सं. 5 अर्थात् याची के पति रिजवान अहमद द्वारा फाइल प्रति-शपथपत्र से यह प्रकट होता है कि याची और प्रत्यर्थी के बीच तारीख 11 अप्रैल, 2001 को इलाहाबाद में शरीयत के अनुसार "निकाह" (विवाह) हुआ था । यह दलील दी गई है कि याची शायरा बानो ने सविराम रूप से अपने वैवाहिक कर्तव्यों का निर्वहन किया और उसका अपनी ससुराल से मायके आना-जाना लगा रहता था । दोनों पक्षकारों के बीच वैवाहिक संबंधों के परिणामस्वरूप दो बच्चों एक पुत्र मोहम्मद इरफान् (जिसकी आयु इस समय लगभग 13 वर्ष है और सातवीं कक्षा में पढ़ रहा है) और एक पुत्री उमैरा नाज (जिसकी आयु इस समय लगभग 11 वर्ष है और वह इलाहाबाद में चौथी कक्षा में पढ़ रही है) का जन्म हुआ ।

3. प्रत्यर्थी-पति का यह पक्षकथन है कि याची-पत्नी ने तारीख 9 अप्रैल, 2015 को अपने पिता इकबाल अहमद और मामा रईस अहमद तथा दोनों बच्चों अर्थात् मोहम्मद इरफान् और उमैरा नाज के साथ अपने मायके में रहने के लिए अपने दांपत्य गृह को छोड़ दिया था । प्रत्यर्थी ने यह दावा किया है कि वह अपनी पत्नी का भरणपोषण करने और उसका हाल-चाल

जानने के लिए उससे मिलने जाता रहता था । जब पति मई और जून, 2015 में अपनी पत्नी के मायके में उसको लेने गया तो उसने उसके साथ चलने से इनकार कर दिया और इसलिए, उसने अपने दांपत्य गृह वापस आने से मना कर दिया । तारीख 3 जुलाई, 2015 को रिजवान अहमद ने शायरा बानो के पिता से शायरा बानो को उसके दांपत्य गृह भेजने के लिए कहा । पति को उसके श्वसुर ने कुछ दिनों बाद यह बताया कि याची, प्रत्यर्थी के साथ रहने के लिए तैयार नहीं है ।

4. तारीख 7 जुलाई, 2015 को याची का पिता दोनों बच्चों अर्थात् मोहम्मद इरफान और उमैरा नाज को इलाहाबाद ले आया । पति ने यह दलील दी है कि दोनों बच्चे इसके बाद से उसकी देख-रेख में इलाहाबाद आ गए थे । पति ने यह प्राख्यान किया है कि याची के पिता ने प्रत्यर्थी को इस प्रकार समझाया कि दांपत्य गृह में दोनों बच्चों का पति द्वारा देखभाल करने और अभिरक्षा में रखने के परिणामस्वरूप ही याची इलाहाबाद वापस जाने के लिए तैयार होगी ।

5. प्रत्यर्थी-पति द्वारा यह दावा किया गया है कि उसने याची-पत्नी को अपने मायके से वापस लाने का प्रयास तारीख 9 अगस्त, 2015 को भी किया था किंतु, शायरा बानो ने उसके साथ जाने से इनकार कर दिया था । यह दलील दी गई है कि याची के पिता और उसके मामा द्वारा रिजवान अहमद के उपर्युक्त प्रयास करने के संबंध में विरोध किया गया था ।

6. उपर्युक्त कठिन परिस्थितियों में, रिजवान अहमद ने प्रधान न्यायाधीश, कुटुंब न्यायालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश के समक्ष 2015 का वैवाहिक मामला सं. 1144 प्रस्तुत करते हुए आवेदन किया जिसमें दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन की प्रार्थना की गई थी । याची, शायरा बानो ने उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश XXXVIख के साथ पठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 25 के अधीन 2015 के वैवाहिक मामला सं. 1144 जो दांपत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन किए जाने के लिए प्रत्यर्थी-पति द्वारा फाइल किया गया था और इलाहाबाद में लंबित चल रहा था, को प्रधान न्यायाधीश, कुटुंब न्यायालय, काशीपुर, उत्तराखण्ड के समक्ष स्थानांतरित कराने के लिए 2015 का अंतरण आवेदन (सिविल) सं. 1796 फाइल किया । उपर्युक्त अंतरण आवेदन में पत्नी ने अन्य बातों के साथ-साथ निम्न प्राख्यान किया था :–

"2.3 याची, काशीपुर, उत्तराखण्ड की निवासी है और बेरोजगार है और उसका पिता एक सरकारी कर्मचारी है । याची का पिता ही उसकी आय का एकमात्र स्रोत है, जिसकी आय बहुत कम है और इसके बावजूद याची ने विवाह के समय के दौरान अपनी क्षमता से अधिक व्यवस्था की थी । किंतु विवाह के तत्काल पश्चात्, प्रत्यर्थी-पति कार और नकदी के रूप में अतिरिक्त दहेज की अयुक्तियुक्त मांग करने लगा ।

2.4 याची ने प्रत्यर्थी की इन मांगों को पूरा करने से सही तौर पर इनकार कर दिया था और इसलिए, प्रत्यर्थी और उसके परिवार द्वारा याची के साथ शारीरिक रूप से यातनापूर्ण व्यवहार किया जाने लगा । याची को प्रायः पीटा जाता था और उसे कई दिनों तक बंद कमरे में भूखा रखा जाता था । प्रत्यर्थी के परिवार वालों ने याची को ऐसी दवाइयां देना आरंभ कर दिया जिनसे उसकी स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी । इन औषधियों के सेवन से वह कई-कई घंटे तक अचेत रहती थी ।

*   *   *   *   *

2.6. तारीख 9 अप्रैल, 2015 को प्रत्यर्थी ने औषधियां देकर याची की हत्या करने का प्रयास किया । जब एक चिकित्सक द्वारा किसी समय इन औषधियों का निरीक्षण किया गया, तब यह पता चला कि इन औषधियों का लंबे समय तक सेवन किए जाने से मानसिक संतुलन बिगड़ सकता है । प्रत्यर्थी-याची को अत्यंत गंभीर अवस्था में अर्थात् मरणासन्न स्थिति में मुरादाबाद से इस आशय से लेकर आया कि यदि प्रत्यर्थी की दहेज की मांग पूरी नहीं की गई तो वह उसे यहीं छोड़ कर चला जाएगा ।

2.7 इसके पश्चात्, तारीख 10 अप्रैल, 2015 को प्रत्यर्थी ने याची को मुरादाबाद से ले जाने के लिए उसके माता-पिता को बुलाया । याची के माता-पिता ने प्रत्यर्थी से काशीपुर मिलने आने और विवाद को निपटाने के लिए कहा । प्रत्यर्थी ने काशीपुर जाने से इनकार कर दिया और यह कहा कि उन्हें ही अपनी पुत्री को लेने आना होगा अन्यथा वे अतिरिक्त दहेज की मांग पूरी करें । प्रत्यर्थी ने 5,00,000/- रुपए (पांच लाख रुपए मात्र) की मांग की ।

2.8 प्रत्यर्थी द्वारा की गई अयुक्तियुक्त मांग और उसके

यातनापूर्ण व्यवहार के कारण याची के माता-पिता, याची को लेने के लिए मुरादाबाद आए और तारीख 10 अप्रैल, 2015 के बाद से उसे अपने माता-पिता के साथ ही रहना पड़ा ।

* * * * *

2.13 प्रत्यर्थी ने इस तथ्य के बावजूद कि उसने याची के पिता से यह कहा था कि या तो वे उसकी दहेज की मांग पूरी करें या याची को अपने घर ले जाएं, दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आवेदन फाइल किया है और प्रत्यर्थी ने इसी के अनुसरण में, याची को नशे की दवाइयां दी थीं और उसे मुरादाबाद में छोड़ दिया था ।"

7. प्रत्यर्थी रिजवान अहमद का यह पक्षकथन है कि याची शायरा बानो के उपर्युक्त प्रकथनों को ध्यान में रखते हुए, उसे यह महसूस हुआ कि उसकी पत्नी सुलह के लिए तैयार नहीं है, अतः उसने (दांपत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए) इलाहाबाद में फाइल वाद वापस ले लिया और याची शायरा बानो को तारीख 10 अक्तूबर, 2015 का "तलाकनामा" (विवाह-विच्छेद विलेख) तामील कराने के पश्चात् विवाह-विच्छेद कर दिया । तलाकनामे का पाठ निम्न प्रकार, उद्धृत किया जा रहा है :–

"विवाह-विच्छेद विलेख

तारीख 10 अक्तूबर, 2015

श्रीमती शायरा बानो पुत्री इकबाल अहमद

यह स्पष्ट किया जाता है कि मेरा, रिजवान अहमद का विवाह बिना किसी दहेज के शांतिपूर्ण और सुखमय वैवाहिक जीवन बिताने के लिए आपके साथ हुआ था । विवाह के पश्चात् आपके और मेरे बीच वैवाहिक संबंध बन गए थे । आपके और मेरे बीच बने इस संबंध से दो बच्चे अर्थात् इरफान अहमद (आयु लगभग 13 वर्ष) और कुमारी उमैरा नाज **उर्फ** मुस्कान (आयु लगभग 11 वर्ष) ने जन्म लिया जो मेरी संरक्षकता में रहते हुए, शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं । आपको अत्यंत दुख के साथ यह लिखा जा रहा है कि विवाह के ठीक छह मास पश्चात् आपने मुझ पर यह दबाव डालने के लिए कि मैं (पति) अपने माता-पिता से अलग रहूं जो अयुक्तियुक्त और शरीयत के विरुद्ध कृत्य है । मैं आपको प्रसन्न रखने के लिए और आपकी इच्छानुसार मोहल्ला घौसनगर में किराए के मकान में रहने लगा और एक भवन निर्माता के अधीन एक लिपिक के रूप में कार्य करते हुए, मैंने आपके

और बच्चों के साथ सुखद वैवाहिक जीवन बिताने का भरसक प्रयास किया । तथापि, आपने अयुक्तियुक्त रीति में तथा शरीयत के विरुद्ध निरन्तर घर में समस्याएं और लड़ाई-झगड़ा बनाए रखा । जब आपसे लगभग दो वर्ष पूर्व अत्यंत प्रेम-भाव से इस संबंध में कारण जानने की बात की, तब आपने यह शर्त रखी कि जब आपके अन्य नातेदार आपके साथ नहीं रह रहे हों, तब ऐसी स्थिति में, आपको (पति) मेरे माता-पिता के घर आना चाहिए और वहीं पर रहना चाहिए । मैं आत्म-सम्मान रखने वाले परिवार का एक सदस्य होने के नाते घर-जमाई बनने से इनकार कर दिया । इसके पश्चात्, आपने अपने माता-पिता के दबाव में आकर अनेक मानसिक और शारीरिक बीमारियों का बहाना किया और आपने एक मानसिक रोगी के रूप में व्यवहार किया । जब मैंने इसका कारण जानने का प्रयास किया, तब आपने बड़ी मुश्किल के पश्चात् बताया कि विवाह के पूर्व आपके साथ एक गंभीर दुर्घटना घटित हुई थी । मैंने अपने बच्चों और आपकी खातिर इसे सहन किया । अपने माता-पिता के घर रहने के लिए आपके द्वारा की गई निरन्तर मांग और आपकी हठ करने की प्रवृत्ति तथा मुझे किसी मिथ्या मामले में फंसाने की धमकी और साथ ही स्वयं अपने आपको क्षति पहुंचाने की धमकी और विषपान करने की धमकी से मैं हताश हो गया था और आपका यह व्यवहार निरंतर होता रहता था जिस पर मैंने आपके मामा से शिकायत की थी किंतु आपके पिता ने यह जवाब दिया कि जब कभी वह (पत्नी) ऐसा करे तब आप (पति) उसे नींद की गोलियां दे दिया करें । मुझे इस बात से बहुत निराशा हुई जब आपके पिता ने मुझे यह बताया कि आप विवाह के पहले से मानसिक रोग की शिकार हैं । मैंने इतनी बड़ी घटना और आपके संबंध में बताई गई बातों पर ध्यान नहीं दिया । परिणामतः, आपके स्वभाव में धृष्टता आ गई थी । जब मैंने ये सब बातें आपके पिता को बताईं तब उन्होंने मुझसे कहा कि यह समय बच्चों की छुट्टियों का है इसलिए, आपको अपने बच्चों के साथ अपने माता-पिता के पास भेज दिया जाए । आप (पति) उन्हें घर के वातावरण में परिवर्तन होने तथा गर्मियों की छुट्टियां समाप्त होने पर वापस ले जाना । आपके पिता की बात मानते हुए मैंने आपको आपके माता-पिता के यहां बच्चों के साथ छोड़ दिया और जब आप अपने माता-पिता के यहां जा रही थीं, आपने वे सभी आभूषण अपने साथ ले लिया जो मैंने आपको दिया था, जिनमें 2 तोले का एक सोने का हार, डेढ़ तोले की सोने की चूड़ियां, आधे तोले की सोने की दो अंगूठियां और 15,000/- रुपए

नकद थे । मैं आपसे आपका हाल-चाल पूछने के लिए मिलता रहता था और समय-समय पर खर्चे के लिए धन भी देता रहता था । मई और जून के महीने में जब मैंने आपको आपके मायके से लाने का प्रयास किया तब आपने बहाने बनाए । मैं, मई से लेकर जुलाई के बीच आपको वहां से लाने का निरन्तर प्रयास करता रहा किंतु अंततः तारीख 3 जुलाई, 2015 को आपने स्पष्ट रूप से वापस आने से इनकार कर दिया और तारीख 7 जुलाई, 2015 को आपके पिताजी दोनों बच्चों को इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर लेकर आए और उन्हें वहीं छोड़ दिया और इसके पश्चात् मुझे फोन पर धमकी दी कि तुम या तो अपनी ससुराल चले आओ और वहीं रहो या फिर अपने बच्चों तथा अपने माता-पिता दोनों की जिम्मेदारी अपने घर में संभालो । इस संबंध में, जब मैंने आपसे मालूम किया तब आपने स्पष्ट शब्दों में वापस आने से इनकार कर दिया और आपने यहां तक कहा कि आप (पति) ही बच्चों का पालन-पोषण करें और मुझे (पत्नी) भूल जाएं या बच्चों के लिए अलग से दूसरी मां ले आएं । इसके पश्चात्, मैं स्वयं को संतुष्ट नहीं कर सका और मैंने आपको वापस लाने के लिए वाद फाइल किया । नोटिस प्राप्त करने के पश्चात्, आपने अनापेक्षित रूप में मुझे फोन पर धमकी दी कि मैं (पत्नी) अतिशीघ्र मुकदमा फाइल करूंगी और आपको बताऊंगी कि ससुराल में घर-जमाई बनकर कैसे रहा जाता है । आपके अयुक्तियुक्त और शरीयत के विरुद्ध आचरण से परेशान होकर, मैंने आपसे अलग होना ही बेहतर समझा, अतः मैंने तारीख 8 दिसंबर, 2015 को आपको वापस लाने के लिए फाइल वाद को खारिज कराने हेतु आवेदन किया और अब मैं अपने पूरे होशो-हवास में तथा हाशिया साक्षियों की मौजूदगी में तथा शरीयत के आधार पर, तीन तलाक के माध्यम से - 'मैं तलाक देता हूं', 'मैं तलाक देता हूं', 'मैं तलाक देता हूं', कहते हुए, अपने विवाह बंधन से आपको मुक्त करता हूं । आज के बाद से मेरे और आपके बीच पति-पत्नी का संबंध सदैव के लिए समाप्त हो जाते हैं । आज के बाद से आप मेरे लिए और मैं आपके लिए गैर कानूनी हो गए । आप अपने तरीके से अपना जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हैं ।

नोट :

जहां तक आपकी मेहर और इद्दत के दौरान दिए जाने वाले खर्चों का संबंध है, मैं तारीख 6 अक्तूबर, 2015 को इलाहाबाद बैंक, करैली, इलाहाबाद शाखा से जारी 10,151/- रुपए के डिमांड ड्राफ्ट

सं. 096976 द्वारा भुगतान कर रहा हूं और साथ ही 5,500/- रुपए इद्दत के दौरान खर्चों के लिए, इस लिखित विवाह-विच्छेद विलेख के साथ भेज रहा हूं, कृपया आप इसकी अभिस्वीकृत प्रदान करें ।

तारीख 10.10.2015

साक्षी

1. मोहम्मद यासीन पुत्र अब्दुल मजीद, निवासी जे. के. कालोनी, घौसनगर, करैली, इलाहाबाद ।

2. अयाज अहमद पुत्र इम्तियाज हुसैन, निवासी जी. टी. बी. नगर, करैली, इलाहाबाद ।

ह./-

हिन्दी में हस्ताक्षर /रिजवान अहमद
पुत्र इकबाल अहमद
घौसनगर, करैली, इलाहाबाद"

8. उपर्युक्त के आधार पर, प्रत्यर्थी-पति का यह पक्षकथन है कि उसने मुस्लिम विवाह-विच्छेद के लिए प्रचलित और विधिमान्य तरीके से तलाक दी है । यह निवेदन किया गया है कि उसके द्वारा की गई विवाह-विच्छेद की उद्घोषणा सुन्नी मुसलमानों के हनफी पंथ के अधीन विधिमान्य विवाह-विच्छेद की सभी अपेक्षाएं पूरी करती हैं और वह "मुस्लिम स्वीय विधि" (शरीयत) के अनुकूल है ।

9. प्रत्यर्थी-पति ने यह भी निवेदन किया है कि याची-पत्नी द्वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल वर्तमान रिट याचिका कायम रखे जाने योग्य नहीं है क्योंकि जो प्रश्न इस याचिका में उद्भूत किए गए हैं वे संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायोचित नहीं हैं ।

10. वर्तमान मामले (और इससे संबंधित अन्य मामलों) में, विचार के लिए उद्भूत जटिल प्रश्नों के तथ्यात्मक पहलू को ध्यान में रखते हुए, आरंभ में ही यह विनिश्चित किया गया था कि केवल "तलाक-ए-बिद्दत" अर्थात् तीन तलाक पर ही विचार किया जाएगा । इस याचिका से संबद्ध अन्य याचिकाओं में उद्भूत अन्य प्रश्नों जैसे बहु-पत्नीत्व और "हलाला" जैसे मुद्दों (और अन्य सहबद्ध विषयों) पर अलग से विचार किया जाएगा । तथापि, यह एक संयोग है कि वर्तमान संविवाद (अर्थात् तीन तलाक का मुद्दा) का अवधारण अन्य मुद्दों से भी जुड़ा हुआ है ।

भाग 2

मुसलमानों में तलाक का प्रचलित तरीका

11. चूंकि विचाराधीन मुद्दा इस्लामिक विवाह-विच्छेद विधि के अधीन "तलाक" द्वारा किया गया विवाह-विघटन है, इसलिए यह अनिवार्य है कि "तलाक" के सिद्धांत को समझा जाए । इस संबंध में यह उल्लेखनीय होगा कि इस्लामिक विधि के अधीन विवाह-विच्छेद तीन वर्गों में विभाजित किया गया है । विवाह-विच्छेद का एक तरीका "तलाक" है जो सामान्य रूप से पति द्वारा अपनाया जाता है । विवाह-विच्छेद का दूसरा तरीका "खुला" है जिसका प्रयोग पत्नी द्वारा किया जाता है । विवाह-विच्छेद का तीसरा तरीका "मुबारात" है जिसका प्रयोग पति और पत्नी दोनों की पारस्परिक सहमति द्वारा किया जाता है ।

12. "तलाक" अर्थात् पति द्वारा किया गया विवाह-विच्छेद, पुनः तीन प्रकार का होता है : "तलाक-ए-अहसन", "तलाक-ए-हसन" और "तलाक-ए-बिद्दत" । इस न्यायालय के समक्ष याची की यह दलील है कि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" दोनों "कुरान" और "हदीस" द्वारा अनुमोदित हैं । "तलाक-ए-अहसन" विवाह-विच्छेद का "अत्यंत युक्तियुक्त" रूप समझा जाता है, जबकि "तलाक-ए-हसन" भी युक्तियुक्त समझा जाता है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" न तो "कुरान" और न ही "हदीस" द्वारा मान्य है और इस प्रकार, इसे मुस्लिम धर्म के अनुसार पवित्र नहीं माना जाना चाहिए । इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए जो संविवाद उद्भूत हुआ है, वह "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में है ।

13. वर्तमान संविवाद के अवधारण के लिए विभिन्न प्रकार की तलाकों के मापदंड और प्रकृति को समझना आवश्यक है । "तलाक-ए-अहसन" पति द्वारा दी गई ऐसी तलाक है जिसमें केवल तलाक देने की एक बार घोषणा की जाती है, इसके पश्चात् प्रविरति काल आता है । इस काल को "इद्दत" कहते हैं । "इद्दत" की अवधि 90 दिन या ऋतुस्राव के तीन चक्र (यदि उस पत्नी को ऋतुस्राव आता हो) हैं । अनुकल्पतः, "इद्दत" की अवधि तीन चन्द्रमास मानी जाएगी (यदि उस पत्नी को ऋतुस्राव नहीं आता है) । यदि "इद्दत" काल के दौरान दंपत्ति सहवास कर लेते हैं या घनिष्ठता बढ़ा लेते हैं तब विवाह-विच्छेद की घोषणा प्रतिसंहृत समझी जाएगी । अतः, "तलाक-ए-अहसन" प्रतिसंहरणीय है । इसके प्रतिकूल, यदि दंपत्ति के बीच "इद्दत" काल के दौरान सहवास या घनिष्ठता नहीं होती है तब "इद्दत" काल के समाप्त होते ही विवाह-विच्छेद अन्तिम और अप्रतिसंहरणीय हो जाता है ।

इसे अप्रतिसंहरणीय इसलिए कहा जाता है कि दंपत्ति वैवाहिक संबंध पुनः नहीं बना सकते हैं जब तक कि वे नए सिरे से और नई "मेहर" के साथ पुनः निकाह न कर लें । "मेहर" एक आज्ञापक संदाय है जो धन या किसी वस्तु का कब्जा, जो निकाह के समय पति या पति के पिता द्वारा पत्नी को दे दिया जाए या दिए जाने का वचन दिया जाए और यह संपत्ति पत्नी की विधिक संपत्ति होगी । तथापि, ऐसे "तलाक" की तीसरी उद्घोषणा किए जाने पर, दंपत्ति एक दूसरे से तब तक विवाह नहीं कर सकते जब तक कि पत्नी पहले अन्य किसी व्यक्ति के साथ विवाह न कर ले और उसके पश्चात् उस व्यक्ति के साथ हुआ विवाह (या तो "तलाक"– विवाह-विच्छेद द्वारा या उस व्यक्ति की मृत्यु द्वारा) समाप्त न हो जाए, तभी वे दंपत्ति दोबारा विवाह कर सकते हैं । मुसलमानों में "तलाक-ए-अहसन" को विवाह-विच्छेद की "अति उत्तम" श्रेणी माना गया है ।

14. "तलाक-हसन" भी इसी प्रकार दी जाती है जिस प्रकार "तलाक-ए-अहसन" की उद्घोषणा की जाती है । "तलाक-ए-हसन" के अन्तर्गत तलाक की एक उद्घोषणा के बदले तीन उत्तरोत्तर उद्घोषणाएं की जाती हैं । तलाक की पहली उद्घोषणा के पश्चात्, यदि एक मास के भीतर पति और पत्नी के बीच सहवास हो जाता है, तब इस प्रकार की गई उद्घोषणा प्रतिसंहृत समझी जाएगी । यदि पति और पत्नी के बीच एक मास की इस अवधि के दौरान सहवास नहीं होता है और अगले महीने तलाक की पुनः उद्घोषणा की जाती है और पुनः एक मास की अवधि के पूर्व ही पति और पत्नी के बीच सहवास हो जाता है तो दूसरे मास में की गई "तलाक" की उद्घोषणा प्रतिसंहृत मानी जाएगी । यह उल्लेखनीय है कि "तलाक" की पहली और दूसरी उद्घोषणा पति द्वारा प्रतिसंहृत की जा सकती है । यदि वह पत्नी के साथ सहवास करके या घनिष्ठता बढ़ाकर ऐसा करता है तब पति द्वारा दी गई "तलाक" की दोनों उद्घोषणाएं इस प्रकार निष्प्रभावी हो जाएंगी, जैसे कभी की न गई हों । यदि तलाक की तीसरी उद्घोषणा की जाती है तब यह तलाक अप्रतिसंहृणीय होगी । अतः प्रथम और द्वितीय उद्घोषणा के पश्चात् पति द्वारा प्रतिसंहरण नहीं किया गया है और पति, पत्नी के तीसरे ऋतुस्राव के पश्चात् उसे तलाक देता है तब जैसे ही तीसरी तलाक की उद्घोषणा की जाएगी वैसे ही तलाक अप्रतिसंहरणीय हो जाएगी और विवाह का विघटन हो जाएगा जिसके पश्चात् पत्नी को इद्दत काल से गुजरना होगा (जिसके दौरान वह पुनर्विवाह नहीं कर सकती । इसका प्रयोजन उस पत्नी से भविष्य में होने वाली संतान का पैतृत्व सुनिश्चित करना होता है ।) "इद्दत" के तीसरे मास के पश्चात् वे पति और पत्नी तब तक पुनर्विवाह नहीं कर सकते जब तक पत्नी पहले अन्य किसी

व्यक्ति के साथ विवाह न कर ले और वह विवाह (दूसरे पति द्वारा तलाक दिए जाने या उसकी मृत्यु हो जाने के कारण) विघटित न हो जाए । "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" के बीच यही अंतर है कि पहली तलाक में "तलाक" दिए जाने की उद्घोषणा केवल एक बार की जाती है जिसके बाद "इद्दत" की अवधि के दौरान प्रविरति काल होता है और दूसरी वाली "तलाक" में "तलाक" दिए जाने की उद्घोषणा तीन मास में प्रविरति काल सहित तीन बार की जाती है । "तलाक-ए-अहसन" को मुसलमानों द्वारा तलाक दिए जाने का अत्यंत उचित रूप माना गया है जबकि "तलाक-ए-हसन" को केवल उचित रूप माना गया है ।

15. तीसरी प्रकार की "तलाक" "तलाक-ए-बिद्दत" है । यह तलाक "तलाक" देने की निश्चित उद्घोषणा द्वारा प्रभावी होती है, अर्थात् यह कहना कि "मैं तुम्हें अप्रतिसंहरणीय रूप से तलाक देता हूं" या तीन समसामयिक उद्घोषणाएं करना अर्थात् "तलाक", "तलाक", "तलाक" एक ही समय पर कहना । "तलाक-ए-बिद्दत" द्वारा विवाह-विच्छेद तत्काल प्रभावी हो जाता है । वर्तमान तलाक, अन्य दो तलाकों से भिन्न उद्घोषणा के तत्काल पश्चात् अप्रतिसंहरणीय हो जाती है । यहां तक कि मुसलमानों में भी "तलाक-ए-बिद्दत" को अनियमित तलाक माना गया है ।

16. याची के अनुसार, कुरान में "तलाक-ए-बिद्दत" का कोई उल्लेख नहीं है । तथापि, यह प्रमाण मिलता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा इस्लाम के आगमन के 100 वर्ष के बाद से किया जाना पाया गया है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन मात्र कुछ सुन्नी शाखाओं द्वारा ही किया गया है । यह सुन्नी मुसलमानों में के हनफी शाखा में सबसे अधिक पाई जाती है । तथापि, इस बात पर बल दिया गया है कि जिस सम्प्रदाय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" अनुमोदित है, उसके अनुसार भी "तलाक-ए-बिद्दत" एक पापयुक्त कार्य है । यह प्रमाणित है कि इस प्रकार के "तलाक" को "धर्मशास्त्र की दृष्टि से अनुचित किन्तु विधि की दृष्टि से उचित" माना गया है । इस प्रक्रम पर, हमने वर्तमान स्थिति अभिलिखित की है क्योंकि परस्पर विरोधी पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों ने एकमत होकर इसे स्वीकार किया है ।

भाग 3

पवित्र कुरान - "तलाक" के संदर्भ में

17. मुसलमानों का यह विश्वास है कि कुरान को लगभग 23 वर्ष की अवधि के दौरान ईश्वर की ओर से पैगम्बर मोहम्मद पर अवतरित किया

गया था जिसका आरंभ, तारीख 22 दिसंबर, 609 से हो गया था और उस समय पैगम्बर मोहम्मद की आयु 40 वर्ष थी । कुरान का यह अवतरण वर्ष 632 ई. तक अर्थात् उनके स्वर्गवास के समय तक चलता रहा । मोहम्मद साहब की मृत्यु के तत्काल पश्चात् उनके अनुयायियों द्वारा कुरान पूरा किया गया जिन्होंने या तो उसका लेखन किया था या उसके भागों को कंठस्थ किया था । कुरान के इन संकलनों में अनुभूति की दृष्टि से अन्तर था । अतः, तीसरे खलीफा उस्मान ने कुरान का मानक पाठ जिसे अब उस्मान्स कोडेक्स कहा जाता है, तैयार किया । इस कोडेक्स का प्रयोग आम तौर पर कुरान की मूल प्रति के रूप में किया जाता है ।

18. इस मामले की सुनवाई के दौरान, अब्दुल्ला यूसुफ अली द्वारा लिखित द होली कुरान : टैक्स्ट ट्रांसलेशन एण्ड कमेन्ट्री (किताब भवन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, 14वां संस्करण) नामक पुस्तक से कुरान के संदर्भ प्रस्तुत किए गए हैं । परस्पर विरोधी पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेलों ने यह दलील दी है कि इस पुस्तक में जो पाठ और उसका अनुवाद दिया गया है वह अत्यंत विश्वसनीय होने के कारण अवलंब लिए जाने योग्य है । इसलिए, पाठ और संदर्भ उपर्युक्त प्रकाशन से ही लिए गए हैं ।

(i) कुरान को सुरा (अध्यायों) में विभाजित किया गया है । प्रत्येक सुरा में आयतें होती हैं जिनको अलग-अलग खण्डों में व्यवस्थित किया गया है । चूंकि हमें केवल 'तलाक-ए-बिद्दत' की विधिमान्यता पर मुस्लिम 'स्वीय विधि' (शरीयत) के अधीन विचार करना है, इसलिए, हम केवल कुरान की उन्हीं आयतों का उल्लेख करेंगे जो कि हमारे उपर्युक्त अवधारण के लिए सुसंगत हैं । इस संबंध में, सबसे पहले हम 'आयत' सं. 222 और 223 को निर्दिष्ट करना चाहेंगे जिसका उल्लेख सुरा सं. II के खण्ड 28 में किया गया है । ये आयतें निम्न प्रकार हैं :-

"222. और वे तुमसे मासिक-धर्म (ऋतुस्राव) के विषय में पूछते हैं । कहो, वह एक कष्टदायक और अपवित्र प्रक्रिया है । अतः, मासिक-धर्म के दिनों में स्त्रियों से अलग रहो और उनके पास न जाओ, जब तक कि वे स्वच्छ और पवित्र न हो जाएं । फिर जब वे भलीभांति स्वच्छ और पवित्र हो जाएं, तब जिस प्रकार ईश्वर ने तुम्हें बताया है, उनके पास आओ । निःसंदेह, ईश्वर क्षमायाचना करने वालों को बहुत पसंद करता है और वह

उन्हें भी पसंद करता है जो स्वच्छता पसंद करते हैं ।

223. तुम्हारी स्त्रियां तुम्हारी खेती हैं । अतः, जिस प्रकार चाहो तुम अपनी खेत में आ सकते हो और अपने लिए अच्छा कार्य करो ; और ईश्वर से डरते रहो ; तुम भलीभांति यह जान लो कि तुम्हें उससे (जवाबदेही के लिए) मिलना हो और धर्म पर चलने वालों को शुभ सूचना दे दो ।"

हमने उपर्युक्त आयतें इस कारण उद्धृत की हैं कि कुरान के अन्तर्गत यह आज्ञापक हैं कि पुरुषों को महिलाओं का सम्मान करना चाहिए । "आयत" सं. 222 का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि महिला की शारीरिक स्वच्छता और शुद्धता पर केवल पुरुष की दृष्टि से ही नहीं अपितु महिला की दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए । इस "आयत" के अधीन यह आज्ञापक है कि यदि महिला को क्षति पहुंचने का भय है तब उसे प्रत्येक सुविधा पाने का अधिकार है । कुरान के अन्तर्गत यह अभिलिखित है कि पुरुषों का व्यवहार महिलाओं के प्रति प्रायः अच्छा नहीं होता है । इसमें यह आदिष्ट है कि वह महिलाओं के मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य के प्रति निर्देश से बेहतर होना चाहिए । "आयत" सं. 223 के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि संभोग जीवन के अन्य किसी भी पहलू की भांति एक सत्यनिष्ठ कार्य है । इसकी तुलना पति की खेती-बाड़ी से की गई है जिससे यह दर्शित होता है कि जिस प्रकार पति अपने खेतों में फसल उगाने के लिए बीज बोता है और अपनी इच्छानुसार खेती के तरीके यह सुनिश्चित करते हुए अपनाता है कि अनुकूल ऋतु के दौरान ही खेती की जाए ताकि मिट्टी व्यर्थ न जाए । इसी प्रकार, पत्नी के प्रति संबंध के मामले में "आयत" सं. 223 के अन्तर्गत पति का स्तर बुद्धिमत्ता के आधार पर नियत किया गया है और उसे (पति) पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे उसे न कोई क्षति पहुंचे और न ही कोई नुकसान । "आयत" सं. 222 और 223 के अन्तर्गत पति को यह उपदेश दिया गया है कि वह हर प्रकार की पारस्परिक सुविधा उपलब्ध कराए जो एक पत्नी के लिए आवश्यक होती है ।

(ii) पवित्र कुरान की सुरा-II के खण्ड 28 में अन्तर्विष्ट आयत सं. 224 से 228 को निर्दिष्ट करना आवश्यक है । इन्हें निम्न प्रकार उद्धृत किया जा रहा है –

"224. अपने नेक और धर्मपरायण होने और लोगों के मध्य सुधारक होने के संबंध में अपने वचनों के द्वारा ईश्वर को आड़

और निशाना न बनाओ और इन कार्यों को त्याग दो । ईश्वर सब-कुछ सुनता और जानता है ।

225. ईश्वर तुम्हें तुम्हारी ऐसी कसमों (वचन) पर नहीं पकड़ेगा जो यूं ही मुंह से निकल गई हों, किन्तु उन कसमों पर वह तुम्हें अवश्य पकड़ेगा जो तुम्हारी हृदय के आशय का परिणाम है । ईश्वर अत्यंत क्षमा करने वाला और सहनशील है ।

226. जो लोग अपनी स्त्रियों से अलग रहने की कसम खा बैठे हैं, उनके लिए चार महीने की प्रतीक्षा (इद्दत काल) आवश्यक है । फिर यदि वे पलट आएं, तब ईश्वर उनके लिए अत्यंत क्षमाशील और दयावान है ।

227. और यदि वे तलाक ही की ठान लें, तब ईश्वर भी सुनने वाला और भलीभांति जानने वाला है ।

228. और तलाकशुदा स्त्रियां तीन मासिक धर्म गुजरने तक अपने आप को रोके रखें और यदि वे ईश्वर और अन्तिम दिन (आखिरत का दिन) पर विश्वास रखती हैं तो उनके लिए यह वैध न होगा कि ईश्वर ने उनके गर्भाशयों में जो कुछ पैदा किया हो वे उसे छिपाए । इस बीच उनके पति, यदि संबंध ठीक करने लेने का आशय रखते हों, तब वे उन्हें वापस लेने के अधिक हकदार हैं । और उन पत्नियों के सामान्य नियम के अनुसार वैसे ही अधिकार हैं, जैसी उन पर जिम्मेदारियां डाली गई हैं और पतियों को उन पर वरीयता प्राप्त है । ईश्वर अत्यंत प्रभुत्वशाली और तत्वदर्शी है ।"

"आयत" सं. 224 का संबंध, बहुत सी विशेष प्रकार की शपथों से है जो अरब के लोगों में प्रचलित थीं । उनमें से कुछ शपथें ऐसी हैं जिनका संबंध संभोग से है । इन शपथों से पति और पत्नी के बीच भ्रांति, मनोविकार, विभाजन या पृथक्करण जैसी परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं । "आयत" सं. 224 से 227 का संबंध ऐसी ही शपथों से है । कुरान की "आयत" सं. 224 के अधीन यह निर्दिष्ट किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को ईश्वर का नाम लेकर ऐसी कोई शपथ नहीं लेनी चाहिए जिसे वह अच्छा काम न करने का आधार बनाए या ऐसा कार्य करने की शपथ न ले जिसे लोग एक दूसरे के निकट आते हैं । अवलंब लिए गए पाठ का यह अर्थ निकलता है कि "आयत" सं. 225 से 227 का पठन "आयत" सं. 224 के साथ किया

जाना चाहिए । "आयत" सं. 224 सामान्य "आयत" है और इसका संबंध अगली तीन "आयतों" के साथ है । ये "आयतें" तत्कालीन प्रचलित रीति-रिवाजों से संबंधित हैं जो विवाहित महिला के लिए अत्यंत अनुचित थे । उदाहरणार्थ, यह स्पष्ट किए जाने की ईप्सा की गई है कि आक्रोश में आकर या मनमौजीपन से कभी-कभी पति ईश्वर का नाम लेकर ऐसी शपथ ले लेता है कि वह अब अपनी पत्नी के साथ संबंध नहीं बनाएगा । पति द्वारा किया गया ऐसा कार्य, जिसे स्पष्ट किए जाने की ईप्सा की गई है, पत्नी को उसके दाम्पत्य अधिकारों से वंचित कर देता है और फिर भी पत्नी अनिश्चित काल के लिए पति से बंधी रहती है क्योंकि ऐसी पत्नी को पुनर्विवाह का कोई अधिकार नहीं होता है । पति द्वारा किए गए ऐसे कृत्य पर भी पत्नी द्वारा आक्षेप किया गया है, स्पष्टीकरण के अन्तर्गत यह उपबंध किया गया है कि पति ईश्वर के नाम की शपथ लेने से आबद्ध हो जाता है । उपर्युक्त आयतों के माध्यम से कुरान के अन्तर्गत विचारहीन शपथों को अमान्य ठहराया गया है और साथ ही समुचित रूप से सत्यनिष्ठ और भानपूर्ण/आशयपूर्ण शपथ का ही प्रयोग वह भी पूर्ण सावधानी से किया जाना चाहिए । उपर्युक्त "आयतों" के अन्तर्गत पतियों को यह चेतावनी दी गई है कि ईश्वर का नाम लेकर ऐसी शपथ लेना कोई विधिमान्य माफी नहीं है क्योंकि ईश्वर आशय देखता है न कि विचारहीन शब्द । ऐसी परिस्थितियों में "आयत" सं. 226 और 227 के अन्तर्गत यह निर्दिष्ट किया गया है कि पति और पत्नी के तनावपूर्ण संबंधों के दौरान चार मास का समय दिया जाता है ताकि वे यह सुनिश्चित कर सके कि उनका साथ रहना संभव है या नहीं । यदि सुलह का अनुमोदन किया जाता है किंतु पति-पत्नी दोनों ही इस सुलह के विरुद्ध हैं तो कुरान के अन्तर्गत यह निदेश दिया गया है कि पत्नी को उसके पति के साथ अनिश्चित काल के लिए बांधकर रखना अनुचित होगा । तद्नुसार, कुरान के अन्तर्गत ऐसी स्थिति में, विवाह-विच्छेद एकमात्र निष्पक्ष और साम्यापूर्ण मार्ग है । तथापि, यह अनुमोदन किया गया है कि ईश्वर की दृष्टि में, विवाह-विच्छेद अत्यंत घृणाजनक कृत्य है :–

(iii) सुरा-II के खण्ड 29 में अन्तर्विष्ट "आयत" सं. 229 से 231 और इसी सुरा के खण्ड 30 में अन्तर्विष्ट "आयत" सं. 232 और 233 तथा खण्ड 31 में अन्तर्विष्ट "आयत" सं. 237 विवाह-विच्छेद के मुद्दे के संदर्भ में सुसंगत हैं । इन आयतों को निम्नलिखित उद्धृत किया जा रहा है –

"229. तलाक दो बार है । फिर सामान्य नियम के अनुसार

(स्त्री को) रोक लिया जाए या भले तरीके से विदा कर दिया जाए । और तुम्हारे लिए यह वैध नहीं है कि जो कुछ तुम उन्हें दे चुके हो, उसमें से कुछ ले लो, सिवाय इस स्थिति के कि दोनों को डर हो कि ईश्वर की (निर्धारित) सीमाओं पर कायम न रह सकेंगे तब यदि तुमको यह डर हो कि वे ईश्वर की सीमाओं पर कायम न रहेंगे तब स्त्री जो कुछ लेकर छुटकारा प्राप्त करना चाहे उसमें उन दोनों के लिए कोई गुनाह (पाप) नहीं । ये ईश्वर द्वारा नियत की गई सीमाएं हैं । अतः, इनका उल्लंघन न करो । और जो कोई ईश्वर की सीमाओं का उल्लंघन करे तो ऐसे लोग अत्याचारी कहलाएंगे ।

230. (दो तलाक के पश्चात्) फिर यदि वह उसे तलाक दे दे, तो इसके पश्चात् वह (पत्नी) उसके लिए वैध न होगी, जब तक कि वह उसके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से निकाह न कर ले । अतः,यदि वह व्यक्ति भी उसे तलाक दे दे तो फिर उन दोनों के लिए एक दूसरे के साथ वापस संबंध बनाने में कोई पाप न लगेगा, यदि वे समझते हों कि ईश्वर की सीमाओं पर हम कायम रह सकते हैं । और ये ईश्वर द्वारा निर्धारित की गई सीमाएं हैं, जिनका उल्लेख वह उन लोगों के लिए कर रहा है जो जानने की इच्छा रखते हैं ।

231. और यदि जब तुम स्त्रियों को तलाक दे दो और वे अपनी निश्चित अवधि (इद्दत काल) को पहुंच जाएं, तब सामान्य नियम के अनुसार उन्हें रोक लो या सामान्य नियम के अनुसार उन्हें विदा कर दो । और तुम उन्हें नुकसान पहुंचाने के ध्येय से न रोको और न ही उग्रता का व्यवहार करो । और जो ऐसा करेगा तो उसने स्वयं अपने ही ऊपर अत्याचार किया समझा जाएगा । और ईश्वर की आयतों को परिहास का विषय न बनाओ और ईश्वर की कृपा जो तुम पर हुई है उसे याद रखो और उस किताब और तत्वदर्शिता को याद रखो जो उसने तुम पर उतारी है, जिसके द्वारा वह तुम्हें नसीहत करता है । और ईश्वर से डरते रहो और भलीभांति यह जान लो कि ईश्वर हर वस्तु का ज्ञान रखता है ।"

पूर्वोक्त "आयतों" का परिशीलन करने से, यह प्रकट होता है कि पारस्परिक असंयोज्यता के कारण विवाह-विच्छेद की अनुमति दी गई है । तथापि, एक

चेतावनी अभिलिखित की गई है कि पक्षकार जल्दबाजी में कार्य न करें और बाद में न पछताएं और इसके पश्चात् फिर उन्हें सुलह न करना पड़े और इसके पश्चात् कहीं उन्हें पृथक् न होना पड़े । त्रुटिपूर्ण और अनियमित तथा निरन्तर पृथक्करण और सुलह को रोकने के लिए दो तलाकों की सीमा विहित की गई है । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि दो तलाकों के पश्चात् सुलह को अनुज्ञात किया गया है । दूसरी बार तलाक देने के पश्चात् पक्षकारों को निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें या तो स्थायी रूप से विवाह-विच्छेद करना है या फिर पारस्परिक प्रेम और सहनशीलता के साथ साम्यापूर्ण निबंधनों के आधार पर ससम्मान साथ-साथ रहना है । तथापि, यदि दूसरी बार तलाक दिए जाने के पश्चात् सुलह के बावजूद पृथक्करण अपरिहार्य है तब ऐसी स्थिति में सुगमतापूर्वक सुलह की अनुज्ञा नहीं है । पति और पत्नी को एक दूसरे पर दोषारोपण करने से रोका गया है । (इन आयतों के अन्तर्गत) यह अधिदिष्ट किया गया है कि पति और पत्नी सभी परिस्थितियों पर संचयी रूप से विचार करने के पश्चात् सही और सम्मानजनक मार्ग चुनेंगे । विवाह-विच्छेद के पश्चात् पति-पत्नी को दिए गए उपहार या संपत्ति वापस नहीं ले सकता । ऐसी संपत्ति का प्रतिधारण करने के लिए पत्नी को अनुज्ञात किया गया है जिसका यह आधार है कि पत्नी आर्थिक रूप से कमजोर है । "आयत" सं. 229 के द्वितीय भाग में एक अपवाद का उल्लेख किया गया है कि एक परिस्थिति ऐसी है जिसमें पति द्वारा विवाह का विघटन करने से इनकार करने पर पत्नी की स्वतंत्रता प्रभावित होती है और संभवतः पति द्वारा उसके साथ क्रूरता का व्यवहार किया जाता है । पत्नी को ऐसी स्थिति में अनुज्ञात किया गया है कि वह पति को कुछ तात्विक प्रतिफल दे । इस प्रकार के पृथक्करण को, जो पत्नी की ओर से मांगा गया है, "खुला" कहा जाता है । "आयत" सं. 230, "आयत" सं. 229 के प्रथम भाग की निरन्तरता में है । इस आयत के अन्तर्गत दो बार तलाक दिए जाने के पश्चात् सुलह की अनुज्ञेयता को मान्यता दी गई है । जब एक ही पक्षकारों के बीच तलाक देने की उद्घोषणा तीसरी बार की जाती है, तब वह तब तक अप्रतिसंहरणीय हो जाता है जब तक कि वह स्त्री किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह न कर ले और वह पुरुष उसे तलाक न दे दे (या वह उसके देहांत के कारण वैवाहिक बंधन से अन्यथा मुक्त न हो जाए) । "आयत" सं. 230 के अन्तर्गत कुरान यह अपेक्षा करता है कि पति को अचानक आवेग या क्रोध में आकर विवाह बंधन विघटित करने से स्वयं को रोकना चाहिए । "आयत" सं. 231 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि वह

व्यक्ति जो दो बार तलाक देने के पश्चात् अपनी पत्नी को वापस बुला लेता है, उसे उस पत्नी पर उसके अधिकारों के प्रतिकूल कोई दबाव नहीं डालना चाहिए । पुनर्विवाह साम्यापूर्ण निबंधनों के आधार पर किया जाना चाहिए जिसके अनुसार पति और पत्नी से यह प्रत्याशा की जाती है कि वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व को ध्यान रखते हुए, स्वच्छ और सम्मानपूर्वक जीवन बिताएंगे । कुरान का यह संदेश है कि पति को या तो अपनी पत्नी को साम्यापूर्ण निबंधनों के आधार पर वापस बुला लेना चाहिए या उसे करुणा के साथ मुक्त कर देना चाहिए ।

(v) ऊपर निर्दिष्ट आयतों को कुरान की सुरा II के खण्ड 20 में अन्तर्विष्ट "आयत" सं. 232 और 233 के साथ समझना चाहिए । ये दोनों आयतें निम्न प्रकार उद्धृत की जा रही हैं :–

> "232. और जब तुम स्त्रियों को तलाक दे दो और वे अपनी निर्धारित अवधि (इद्दत काल) को पहुंच जाएं, तब उन्हें अपने होने वाले दूसरे व्यक्तियों से विवाह करने से न रोको, जब कि वे सामान्य नियम के अनुसार परस्पर सहमति से कार्य करें । यह नसीहत तुममें से उसको की जा रही है जो ईश्वर और अन्तिम दिन पर विश्वास (ईमान) रखता है । यही तुम्हारे लिए अधिक शुभ और स्वच्छ तरीका है । और ईश्वर जानता है जो तुम नहीं जानते हो ।
>
> 233. और जो कोई पूरी अवधि तक (बच्चे को) दूध पिलवाना चाहे, तब माताएं अपने बच्चों को पूरे दो वर्ष तक दूध पिलाएं । और वह जिसका बच्चा है, सामान्य नियम के अनुसार उनके खाने और कपड़े का जिम्मेदार होगा । किसी पर बस उसकी अपनी ही अपनी जिम्मेदारी है न तो कोई माता अपने बच्चे के कारण (बच्चे के पिता को) कष्ट पहुंचाए और न ही पिता अपने बच्चे के कारण (बच्चे की माता को) कष्ट पहुंचाए । और इसी प्रकार की जिम्मेदारी उसके वारिस पर भी आती है । फिर यदि दोनों पारस्परिक स्वेच्छा और परामर्श से (बच्चे का) दूध छुड़ाना चाहें तो उन्हें कोई पाप नहीं लगेगा । और यदि तुम अपनी संतान को किसी अन्य स्त्री से दूध पिलवाना चाहो तो इसमें भी तुम पर कोई पाप नहीं लगेगा, जब कि तुमने जो कुछ बदले में देने का वचन दिया हो, सामान्य नियम के अनुसार उसे पूरा करो । और ईश्वर से डरते रहो और भलीभांति यह जान लो कि जो कुछ तुम करते हो ईश्वर उसे देख रहा है ।"

उपर्युक्त "आयतों" का परिशीलन करने से यह प्रकट होता है कि विवाह की संविदा का पर्यवसान परिवार और सामाजिक जीवन के लिए एक गंभीर मामला माना गया है । इस प्रकार, ऐसी प्रत्येक सलाह की सिफारिश की जाती है जिसके आधार पर ऐसे व्यक्तियों को निकट लाया जा सके जो पहले साथ-साथ रहते थे, परन्तु यह तब किया जा सकता है जबकि आपस में प्रेम हो और वे एक दूसरे के साथ ससम्मान रह सकें । उपर्युक्त मानदण्डों का अनुसरण करने पर, कुरान के अन्तर्गत यह अधिदेश दिया गया है कि किसी को भी पति और पत्नी के सुलह को रोकने का अधिकार नहीं है । "आयत" सं. 233 विवाह-विच्छेद संबंधी विनियमों के बीच स्थित है । यह मूल रूप से विवाह-विच्छेद के ऐसे मामलों को लागू होती है जिसमें कुछ निश्चित नियम आवश्यक है क्योंकि विवाह-विच्छेद के कारण माता-पिता की संभाव्यतया अच्छे निबंधनों तथा बच्चों के हित की सुरक्षा की अनदेखी नहीं की जा सके । चूंकि "आयत" सं. 233 की भाषा सामान्य है इसलिए, इस आयत में अन्तर्विष्ट अधिदेश का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि वह माता और पिता को समान रूप से लागू होता है क्योंकि उन्हें प्रत्येक बच्चों के भरणपोषण के लिए अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करना चाहिए ।

> (v) पवित्र कुरान की सुरा-II की अंतिम सुसंगत 'आयत' का उल्लेख खण्ड 31 में किया गया है जो 'आयत' सं. 237 है । इस 'आयत' को निम्नलिखित उद्धृत किया जा रहा है –
>
> > '237. और यदि तुम उन्हें हाथ लगाने से पहले तलाक दे दो, किन्तु उसका मेहर निश्चित कर चुके हो, तो जो मेहर तुमने निश्चित किया है उसका आधा अदा करना होगा, यह और बात है कि वे (पत्नियां) या पुरुष जिसके हाथ में विवाह का सूत्र है, स्वयं छोड़ दे, वह (पति) संयम से काम ले (और मेहर पूरा अदा कर दे) । और यह कि तुम नरमी से काम लो तो यह संयम के अधिक निकट होगा और तुम एक दूसरे को सीमा से अधिक देना न भूलो । निश्चय ही ईश्वर यह देख रहा है जो तुम करते हो ।'

विवाहोत्तर संभोग के पूर्व, विवाह-विच्छेद किए जाने की स्थिति में यह माना गया है कि पत्नी को केवल मेहर का आधा भाग ही संदत्त किया जाना चाहिए । तथापि, पत्नी आधा मेहर भी माफ करने के लिए स्वतंत्र है । इसी प्रकार, पति भी पत्नी को वह आधा मेहर देने के लिए स्वतंत्र है जिसे वह

माफी देने का हकदार है (और इस प्रकार मेहर की पूरी रकम का संदाय करें) ।

19. पवित्र कुरान की सुरा-IV के खण्ड 6 में अन्तर्विष्ट "आयत" सं. 34 और 35 तथा खण्ड 19 में अन्तर्विष्ट आयत सं. 128 को निर्दिष्ट करना भी आवश्यक है । उपर्युक्त सभी "आयतें" निम्नलिखित उद्धृत की जा रही हैं :–

> "34. पति, पत्नियों के संरक्षक और निगरां हैं क्योंकि अल्लाह ने उनमें से कुछ को कुछ के मुकाबले में आगे रखा है और इसलिए भी कि पतियों ने अपने माल खर्च किए हैं, नेक पत्नियां तो आज्ञा पालन करने वाली होती हैं और गुप्त बातों की रक्षा करती हैं क्योंकि अल्लाह ने उनकी रक्षा की है और जो पत्नियां ऐसी हो जिनकी सरकशी का तुम्हें भय हो, उन्हें समझाओं और बिस्तरों में उन्हें अकेली छोड़ दो (यदि आवश्यक हो तो) उनकी पिटाई भी करो । यदि वे तुम्हारी बात मानने लगे तो उनके विरुद्ध कोई रास्ता न ढूंढो । अल्लाह सबसे उच्च एवं महान है ।
>
> 35. और यदि तुम्हें पति-पत्नी के बीच बिगाड़ का भय हो, तो एक फैसला करने वाला पुरुष के परिवार से और एक फैसला करने वाला स्त्री के परिवार से नियुक्त करो, यदि वे दोनों सुधार करना चाहते हों तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता पैदा कर देगा । निःसंदेह, अल्लाह सब कुछ जानने वाला और खबर रखने वाला है ।
>
> 128. यदि किसी स्त्री को अपने पति की ओर से दुर्व्यवहार या बेरुखी का भय हो तो इसमें उनके लिए कोई दोष नहीं कि वे दोनों आपस में मेल-मिलाप की कोई राह निकाल लें । मेल-मिलाप अच्छी बात है । मन तो लोभ एवं कृपणता के लिए उद्यत रहता है । परन्तु, यदि तुम अच्छा व्यवहार करो और (अल्लाह का) भय रखों, तो अल्लाह को निश्चय ही जो कुछ तुम करोगे उसकी खबर रहेगी ।"

कुरान के अधीन यह अधिदेश दिया गया है कि पुरुष संरक्षक होते हैं और उन पर यह कर्तव्य डाला गया है कि वे अपनी स्त्रियों की देख-रेख करें । पति का सहयोग पाने की हकदार होने के लिए कुरान के अधीन यह अधिदेश किया गया है कि स्त्रियों को धर्मपरायण और धर्मनिष्ठ रूप से पति की, उसकी अनुपस्थिति में भी आज्ञाकारी होनी चाहिए । "आयत" सं. 34 के अधीन पति को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपनी पत्नी को डांट

सके यदि वह वफादार नहीं है या कोई दुर्व्यवहार करती है । ऐसा करने के लिए, पति अपनी पत्नी के साथ एक ही बिस्तर पर सोने से इनकार कर सकता है और यदि अत्यंत आवश्यक हो तो उसकी हल्की पिटाई भी कर सकता है । इसके पश्चात्, यदि स्त्री आज्ञाकारी नहीं बनती है, तब पति, पत्नी को उसके साथ दुर्व्यवहार नहीं करने के लिए समझा सकता है । "आयत" सं. 35 पारिवारिक विवादों को निपटाने के संबंध में है । इस आयत के अन्तर्गत दो मध्यस्थों की नियुक्ति - एक पति के परिवार से और दूसरे पत्नी के परिवार से, का उपबंध किया गया है । मध्यस्थों को सुलह की संभाव्यता का पता लगाना होता है । यदि सुलह संभव नहीं है, तब विघटन की सलाह दी जाती है किन्तु इसका कोई प्रचार नहीं किया जाना चाहिए और न ही चालाकी या धोखे के साथ एक दूसरे पर दोषारोपण किया जाना चाहिए । "आयत" सं. 128 के अधीन पत्नी की ओर से विवाह-विच्छेद किए जाने का उपबंध किया गया है जिसे "खुला" कहा गया है । इसके अन्तर्गत वह स्थिति आती है जब पत्नी को पति द्वारा क्रूरता कारित किए जाने या अभित्यजन किए जाने का भय हो । ऐसी स्थिति में, (विवाह-विच्छेद के लिए) आपसी समझौता किए जाने की इच्छा को उसके प्रति कलंक नहीं माना जा सकता । दम्पत्तियों को तब सर्वाधिक शांतिपूर्ण निबंधनों के आधार पर पृथक् हो जाना चाहिए । पति को सतर्क किया जाता है कि वह लालच से काम न ले । पति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पत्नी के आर्थिक हित की संरक्षा करे । पति-पत्नी के बीच आर्थिक कारणों के आधार पर विवाद होने पर कुरान के अधीन यह अधिदेश किया गया है कि स्वयं विवाह की पवित्रता किसी भी आर्थिक हित से बढ़कर है और तद्नुसार, इसके अन्तर्गत यह उल्लेख किया गया है कि यदि पत्नी को कुछ आर्थिक प्रतिफल देकर पृथक् होने से रोका जा सकता है तब पति के लिए यह बेहतर होगा कि वह पत्नी और बच्चों के भविष्य को संकट में डालने के बजाय रियायत से काम ले ।

20. अंतिम सुसंगत "आयत" सं. 1 और 2 कुरान की सुरा-LXV के खण्ड 1 में अन्तर्विष्ट हैं । इन्हें निम्नलिखित उद्धृत किया जा रहा है :–

> "1. हे अवतार (नबी) ! जब तुम लोग स्त्रियों को तलाक दो तो उन्हें उनकी इद्दत के हिसाब से तलाक दो । और इद्दत के दिनों की गणना करो और ईश्वर से डरते रहो जो तुम्हारा पालनहार है । उन्हें (पत्नियां) उनके घरों से न निकालो और न वे स्वयं निकले, सिवाय इसके कि वे कोई स्पष्ट अशोभनीय कर्म कर बैठें । ये ईश्वर द्वारा

नियत की हुई सीमाएं हैं - और जो ईश्वर की सीमाओं का उल्लंघन करेगा तो वह स्वयं अपने आप पर अत्याचार करेगा - तुम कदाचित नहीं जानते कि इस तलाक के पश्चात् ईश्वर कोई अनुकूल परिस्थिति बना सकता है ।

2. फिर जब वे अपनी नियत की गई इद्दत पूरी कर ले तब या तो उन्हें ससम्मान रोक लो या ससम्मान अलग कर दो । और अपने में से दो न्यायप्रिय व्यक्तियों को साक्षी बना लो और ईश्वर के लिए सत्य साक्ष्य दो । इसकी नसीहत उस व्यक्ति को दी जाती है जो ईश्वर और अन्तिम दिन पर ईमान रखेगा और ईश्वर ऐसे व्यक्ति के लिए (संकट से) बाहर निकलने का मार्ग बना देगा ।"

उपर्युक्त "आयत" सं. 1 स्वयं हजरत मोहम्मद के संबंध में है । इस "आयत" में उन्हें एक अध्यापक और समाज के प्रतिनिधि के रूप में संबोधित किया गया है । इसमें यह अनुमोदन किया गया है कि अनुज्ञात कार्यों में, ईश्वर की नजर में सबसे घृणाजनक कार्य "तलाक" देना है । यद्यपि, इस "आयत" के अधीन तलाक का उपबंध किया गया है, फिर भी यह "आयत" पति को अपनी पत्नी/पत्नियों को घर से निकालने से रोकती है । इस आयत के अधीन यह भी उपबंध है कि पत्नी/पत्नियां अपने पति का घर केवल तब ही छोड़े जब उन्हें दोषी ठहराया जाए । जो व्यक्ति उपर्युक्त सीमा का उल्लंघन करते हैं उन्हें यह चेतावनी दी जाती है कि वे अपनी आत्मा के प्रति अपराध कारित करेंगे । सुलह का सुझाव केवल तब दिया जाए जब ऐसा किया जाना संभव हो । सुलह किसी भी प्रक्रम पर किया जा सकता है । पति-पत्नी के बीच प्रथम गंभीर विवाद को सर्वप्रथम पारिवारिक परामर्शी के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए जो दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है । इस "आयत" के अधीन यह अपेक्षा की गई है कि तलाक मासिक धर्म की अवधि के बाद ही उद्घोषित किया जाना चाहिए । "मेहर" का संदाय किया जाना चाहिए और पति द्वारा अनेक वस्तुओं की सम्यक् रूप से साम्यापूर्ण निबंधनों के आधार पर व्यवस्था की जानी चाहिए । मामले के प्रत्येक पहलू पर विचार किया जाना चाहिए । सुलह की सिफारिश अन्तिम क्षण तक की जानी चाहिए । "आयत" सं. 2 में यह संदेश दिया गया है कि प्रत्येक कार्य निष्पक्षता के साथ और सभी हितों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए । यह अधिदेश किया गया है कि पक्षकारों को यह याद रखना चाहिए कि ऐसे मामलों से उनके जीवन के अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू प्रभावी होते हैं, अतः ऐसे मामलों का संबंध

आध्यात्मिक जगत से भी होता है । अतः, ऊपर उद्धृत "आयत" के अधीन पक्षकारों पर इस बात का प्रभाव डाला गया है कि वे ईश्वर से डरें यह सुनिश्चित करे कि उनके अवधारण उचित और सत्य हों ।

21. कुरान की "आयतों" को समझना इस मामले में आदेशात्मक है क्योंकि याची और उसका समर्थन करने वालों ने अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी है कि "तलाक-ए-बिद्दत" कुरान के स्पष्ट अधिदेशों के अनुरूप नहीं है और अतः, इसे मुस्लिम "स्वीय विधि" का विधिमान्य अवयव नहीं माना जा सकता है ।

भाग-4

मुस्लिम "स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत के विधान

22. यह अभिलिखित करना सुसंगत होगा कि "स्वीय विधि" मुस्लिम धर्म मानने वाले लोगों के कार्यकलाप से संबंधित है जो कि रूढ़ि या प्रथा द्वारा विनियमित है । इसका विनियमन "शरीयत" अर्थात् मुस्लिम "स्वीय विधि" द्वारा भी किया गया है । मुसलमानों द्वारा अपनाई गई रूढ़ि और प्रथा के अन्तर्गत मुस्लिम महिला की हैसियत को महिलाओं के प्रति कष्टदायक माना गया है । भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व, मुस्लिम महिला संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की निन्दा की है कि इससे "शरीयत" के अधीन मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । मुस्लिम महिलाओं ने यह दावा किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि उन्हें भी लागू की जाए । इसीलिए, मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "शरीयत अधिनियम" निर्दिष्ट किया गया है) पारित किया गया । इस अधिनियम की पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक होगा जो शरीयत अधिनियम के अधिनियमन का परिणाम है । इसके उद्देश्यों और कारणों को अभिलिखित किया गया है जो निम्नलिखित हैं :–

> "पिछले कई वर्षों से ब्रिटिश भारत के मुसलमानों की यह परम जिज्ञासा रही है मुस्लिम स्वीय विधि में रूढ़िजन्य विधि का कोई स्थान नहीं होना चाहिए । इस मुद्दे पर निरन्तर प्रेस में आन्दोलन चलता रहा है । जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्द जो कि मुसलमानों का एक बड़ा धार्मिक निकाय है, ने इस मांग का समर्थन किया है और इस संबंध में आवश्यक उपाय तत्काल सुझाने के लिए सभी संबंधित संगठनों का ध्यान आकर्षित किया है । रूढ़िजन्य विधि एक मिथ्यानाम है क्योंकि यह निराधार है और इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते

रहते हैं और यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में इसमें इतनी निश्चितता और स्थिरता आ सके जिसमें सभी विधियों के गुण आ सके । तथाकथित रूढ़िजन्य विधि के अधीन मुस्लिम महिलाओं की हैसियत बड़ी अपमानजनक है । अतः, सभी मुस्लिम महिला संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की निन्दा की है क्योंकि इससे उन महिलाओं के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । इन महिलाओं ने यह मांग की है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) उन्हें लागू होनी चाहिए । मुस्लिम स्वीय विधि की पुरःस्थापना से ये महिलाएं स्वयं ऐसी स्थिति में आ जाएंगी जिसके लिए वे नैसर्गिक रूप से हकदार हैं । वर्तमान उपाय के अतिरिक्त, यदि इस विधि को अधिनियमित किया जाता है, तो इसका समाज पर उपयोगी प्रभाव पड़ेगा क्योंकि इससे समाज के पारस्परिक अधिकारों और बाध्यताओं में निश्चितता और स्थिरता कायम होगी । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) यथार्थ संहिता के रूप में विद्यमान है और यह इतनी प्रचलित है कि इसमें कोई संदेह नहीं है और न ही इसमें गहराई से अनुसंधान करने की कोई आवश्यकता है जो कि रूढ़िजन्य विधि का मुख्य अवयव है ।"

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

23. शरीयत अधिनियम की धारा 2, 3 और 5 सुसंगत हैं और इन्हें निम्नलिखित उद्धृत किया जा रहा है :–

"2. **मुसलमानों को स्वीय विधि का लागू होना** – निर्वसीयती उत्तराधिकार, स्त्रियों की विशेष संपत्ति, जिसमें विरासत में मिली या संविदा या दान या स्वीय विधि के किसी अन्य उपबंध के अधीन प्राप्त हुई स्वीय संपत्ति आती है, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला तथा मुबारात आते हैं, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता, दान, न्यास तथा न्यास-संपत्ति और वक्फ (जो पूर्त तथा पूर्त संस्थाओं तथा पूर्त धार्मिक न्यासों से भिन्न हो) से संबंधित (कृषि भूमि से संबद्ध प्रश्नों के सिवाय) सभी प्रश्नों में तत्प्रतिकूल किसी रूढ़ि या प्रथा के होते हुए भी, ऐसे मामलों में जहां पक्षकार मुसलमान है, वहां विनिश्चय का नियम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) लागू होगा ।"

3. **घोषणा करने की शक्ति** – (1) कोई व्यक्ति, जो विहित प्राधिकारी का यह समाधान कर देता है कि –

(क) वह एक मुसलमान है, और

(ख) वह भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 (1872 का 9) की धारा 11 के अर्थांतर्गत संविदा करने के लिए सक्षम है, और

(ग) वह उस राज्यक्षेत्र का निवासी है जिसमें इस अधिनियम का विस्तार है,

विहित रूप में तथा विहित प्राधिकारी के समक्ष घोषणा फाइल करके यह घोषित कर सकेगा कि वह इस धारा के निबंधनों का फायदा उठाना चाहता है और उसके पश्चात् उस घोषणाकर्ता को तथा उसकी सभी अवयस्क संतान तथा उसके वंशजों को धारा 2 के उपबंध इस प्रकार लागू होंगे मानो उसमें प्रगणित मामलों के अतिरिक्त दत्तक-ग्रहण, बिल तथा वसीयतें भी विनिर्दिष्ट की गई हों ।

(2) जहां विहित प्राधिकारी, उपधारा (1) के अधीन की गई घोषणा स्वीकार करने से इनकार करता है, वहां वह व्यक्ति जो घोषणा करना चाहता है, ऐसे अधिकारी को, जिसे राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा, इस निमित्त नियत करे, अपील कर सकेगा और ऐसा अधिकारी, यदि उसका समाधान हो जाता है कि अपीलार्थी घोषणा करने का हकदार है, विहित प्राधिकारी को यह आदेश दे सकेगा कि वह उस घोषणा को स्वीकार करे ।

* * * * *

5. **कतिपय परिस्थितियों में न्यायालय द्वारा विवाह का विघटन** – मुस्लिम विवाहित महिला द्वारा आवेदन किए जाने पर जिला न्यायाधीश, मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) द्वारा अनुमोदित किसी भी आधार पर, विवाह-विच्छेद कर सकेगा ।"

उपर्युक्त उद्धृत धारा 2 का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर इस बारे में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि उस रूढ़ि और प्रथा का, जैसा कि वह मुसलमानों में विद्यमान थी, उस सीमा तक छोड़ देने की ईप्सा की गई जहां तक वह मुस्लिम स्वीय विधि के प्रतिकूल थी । धारा 2 के अधीन यह आज्ञापक है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) को अनन्य रूप से निर्वसीयती उत्तराधिकार, महिलाओं की विशेष संपत्ति तथा सभी संबंधित ऐसे प्रश्नों के मामलों में "विनिश्चय के नियम" के रूप में लागू किया जाएगा जैसे विरासत में ली गई संपत्ति या संविदा के अधीन या उपहार या स्वीय विधि के अन्य किसी उपबंध के अधीन प्राप्त संपत्ति, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला तथा मुबारात आते हैं,

भरणपोषण, मेहर, दान, न्यास तथा न्यास-संपत्ति और वक्फ की संपत्ति सम्मिलित हैं......... । धारा 3 के अधीन उपर्युक्त सूची में दत्तक, विल और वसीयत को भी जोड़ा गया है जो इस धारा के अधीन की गई घोषणा के अध्यधीन है ।

24. यहां इस बात पर विचार करना सुसंगत होगा कि शरीयत अधिनियम की धारा 5 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि मुस्लिम महिला उन आधारों पर अपने विवाह के विघटन की ईप्सा कर सकती है जो मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन मान्य हैं । यह भी स्पष्ट करना सुसंगत होगा कि शरीयत अधिनियम की धारा 5 का लोप कर दिया गया था और इसे मुस्लिम विवाह-विघटन अधिनियम, 1939 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है ।

25. उपर्युक्त संदर्भ में यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि हनफी संहिता में, मुस्लिम विधि के अधीन विवाहित मुस्लिम महिलाओं के लिए अधिकार के रूप में विवाह के विघटन की ईप्सा करने का कोई उपबंध नहीं किया गया है । तद्नुसार, हनफी विधिवेत्ताओं ने यह अधिकथित किया है कि ऐसे मामलों में जिनमें हनफी विधि को लागू करने से संकट पैदा होता हो, मालिकी, शाफई या हम्बली विधि के सिद्धांतों को लागू करना अनुज्ञेय था । इस स्थिति में, वर्ष 1939 के अधिनियम की पुरःस्थापना तथा इसके उद्देश्यों और कारणों पर सम्यक् रूप से विचार किया गया था । किसी भी स्थिति में, हनफी विधिवेत्ताओं द्वारा सुझाए गए अनुकल्प न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किए जा रहे थे । तद्नुसार, मुस्लिम महिला द्वारा विवाह के विघटन के आधारों को स्पष्ट करने के लिए वर्ष 1939 के अधिनियम को अधिनियमित किया गया । उपर्युक्त अधिनियम के उद्देश्य और कारण सुसंगत हैं जिन्हें निम्नलिखित उद्धृत किया जा रहा है :—

> "मुस्लिम विधि के हनफी संहिता में ऐसा कोई भी परन्तुक नहीं है जिसके अधीन मुस्लिम विवाहित महिला को न्यायालय से ऐसी स्थिति में अपने विवाह के विघटन की डिक्री प्राप्त करने के लिए सशक्त किया गया हो जब उसका पति उसका भरणपोषण करने में उपेक्षा करे, उसका अभित्यजन करके उसका जीवन दयनीय बना दे या उसके साथ निरन्तर दुर्व्यवहार करे या कतिपय अन्य परिस्थितियों में उसे असम्पन्न छोड़कर फरार हो जाए ।
>
> ऐसे उपबंध के न होने से ब्रिटिश भारत में बहुत से मुस्लिम महिलाओं को अबाध वेदना पहुंची है । तथापि, हनफी विधिवेत्ताओं ने

स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया है कि ऐसे मामलों में जिनमें हनफी विधि के लागू किए जाने में कठिनाई उत्पन्न होती है, वहां मालिकी, शाफई या हम्बली विधि के उपबंधों को लागू किया जाना अनुज्ञात है ।

इस सिद्धांत पर कार्य करते हुए उलेमाओं ने इस संबंध में फतवे जारी किए हैं कि ऐसी स्थिति में जो इस विधेयक के भाग क के खण्ड 3 (अब अधिनियम की धारा 2) में प्रगणित है, विवाहित मुस्लिम महिला अपने विवाह के विघटन के लिए डिक्री प्राप्त कर सकती है । इस सिद्धांत की सुस्पष्ट प्रतिपादना मौलाना अशरफ अली साहब द्वारा प्रकाशित हीलत-उन-नजेजा में की गई है जिन्होंने मालिकी विधि के उपबंधों का विस्तृत अध्ययन किया है अर्थात् वह विधि जो भारत में विद्यमान परिस्थितियों के अधीन ऐसे मामलों को लागू होती है । इस विधि का अनुमोदन बहुत से उलेमाओं द्वारा किया गया है और उन्होंने इस पुस्तक पर अपनी सहमति की सुस्पष्ट मुहर लगाई है ।

चूंकि न्यायालयों का मुस्लिम महिला के मामले में मालिकी विधि को लागू करने में संकोच करना निश्चित है, इसलिए, अनगिनत मुस्लिम महिलाओं की पीड़ा को दूर करने की दृष्टि से ऊपर उल्लिखित सिद्धांत को मान्यता देने और उसे प्रवृत्त करने वाले विधान की अपेक्षा की गई है ।

विवाह के विघटन से संबंधित चर्चा के लिए एक मुद्दा और शेष रह जाता है । यह इस प्रकार है । ब्रिटिश भारत में न्यायालयों ने बहुत से मामलों में, यह अभिनिर्धारित किया है कि विवाहित मुस्लिम महिला की विधर्मता से उसके विवाह का स्वयमेव विघटन हो जाता है । न्यायालय में इस मत को कई बार चुनौती दी गई है किन्तु न्यायालय इसी न्यायिक व्यवस्था द्वारा सृजित नजीरों से ही जुड़े रहे हैं जो कि मुस्लिम विधि के गलत दृष्टिकोण पर आधारित है । उलेमाओं ने पत्नी की विधर्मता के आधार पर विवाह का विघटन न किए जाने के समर्थन में फतवे जारी किए हैं । मुस्लिम समाज ने प्रायः न्यायालयों द्वारा अभिनिर्धारित इस दृष्टिकोण के प्रति अपना घोर असंतोष प्रकट किया है । प्रेस में बहुत से लेख प्रकाशित किए गए हैं जिनके अन्तर्गत विधान-मण्डल से यह ईप्सा की गई है कि न्यायालयों द्वारा की गई गलतियों को सुधारा जाए ; इसलिए खण्ड 5 (अब धारा 4) इस विधेयक में सम्मिलित किए जाने का प्रस्ताव रखा गया है ।

इस प्रकार, इस विधेयक द्वारा विवाह के विघटन से संबंधित सम्पूर्ण विधि को एक स्थान पर लाया गया है और इसे इस आशा के साथ समेकित किया गया है कि इसके द्वारा भारत में मुस्लिम समुदाय की लम्बे समय से चली आ रही आवश्यकता पूरी हो जाएगी ।"

26. मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 के अधीन उन आधारों का उपबंध किया गया है जिनके अनुसार मुस्लिम महिला विवाह के विघटन की ईप्सा कर सकती है । इस अधिनियम की धारा 2 निम्न प्रकार है :–

"**2. विवाह विघटन की डिक्री के लिए आधार** – मुस्लिम विधि के अधीन विवाहित स्त्री अपने विवाह के विघटन के लिए निम्न आधारों में से किसी एक या अधिक आधार पर डिक्री प्राप्त करने की हकदार होगी, अर्थात् –

(i) चार वर्ष तक पति का ठौर-ठिकाना ज्ञात नहीं है ;

(ii) पति ने दो वर्ष तक भरणपोषण की व्यवस्था करने में उपेक्षा की है या उसमें असफल रहा है ;

(iii) पति को सात वर्ष या उससे अधिक की अवधि के लिए कारावास का दंड दिया गया है ;

(iv) पति तीन वर्ष तक अपने वैवाहिक कर्तव्यों का पालन करने में समुचित कारण बिना असफल रहा है ;

(v) पति विवाह के समय नपुंसक था और बराबर नपुंसक रहा है ;

(vi) पति दो वर्ष तक उन्मत्त रहा है या कुष्ट या उग्र रतिज रोग से पीड़ित है ;

(vii) पन्द्रह वर्ष की आयु प्राप्त होने से पहले ही उसके पिता या अन्य संरक्षक ने उसका विवाह किया था और उसने अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करने से पूर्व ही विवाह का निराकरण कर दिया है :

परन्तु यह तब जब विवाहोत्तर संभोग न हुआ हो ;

(viii) पति उसके साथ क्रूरता से व्यवहार करता है, अर्थात् –

(क) अभ्यासतः उसे मारता है या क्रूर आचरण से

उसका जीवन दुखी करता है, भले ही ऐसा आचरण शारीरिक दुर्व्यवहार की कोटि में न आता हो, या

(ख) कुख्यात स्त्रियों की संगति में रहता है या गर्हित जीवन बिताता है, या

(ग) उसे अनैतिक जीवन बिताने पर मजबूर करने का प्रयत्न करता है, या

(घ) उसकी सम्पत्ति का व्ययन कर डालता है या उसे उस पर अपने विधिक अधिकारों का प्रयोग करने से रोक देता है, या

(ङ) धर्म को मानने या धर्म-कर्म अनुपालन में उसके लिए बाधक होता है, या

(च) उसकी एक से अधिक पत्नियां हैं तो कुरान के आदेश के अनुसार उसके साथ समान व्यवहार नहीं करता है ;

(ix) कोई ऐसा अन्य आधार है जो मुस्लिम विधि के अधीन विवाह विघटन के लिए विधिमान्य है :

परन्तु –

(क) आधार (iii) पर तब तक कोई डिक्री पारित नहीं की जाएगी जब तक दंडादेश अन्तिम न हो गया हो ;

(ख) आधार (i) पर पारित डिक्री, ऐसी डिक्री की तारीख से छह मास तक प्रभावी नहीं होगी और यदि पति या तो स्वयं या किसी प्राधिकृत अभिकर्ता के माध्यम से उस अवधि में हाजिर हो जाता है और न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि वह अपने दाम्पत्य कर्तव्यों का पालन करने के लिए तैयार है, तो न्यायालय उक्त डिक्री को अपास्त कर देगा ; और

(ग) आधार (v) पर कोई डिक्री पारित करने के पूर्व न्यायालय, पति द्वारा आवेदन किए जाने पर, ऐसा आदेश करेगा जिसमें पति से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह उस आदेश की तारीख से एक वर्ष के भीतर न्यायालय का यह समाधान कर दे कि वह नपुंसक नहीं रह गया है और यदि

पति उस अवधि में इस प्रकार न्यायालय का समाधान कर देता है तो उक्त आधार पर कोई भी डिक्री पारित नहीं की जाएगी ।"

27. हम यहां यह अभिलिखित कर सकते हैं कि मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 इस तथ्य के आधार पर वर्तमान संविवाद के लिए असंगत है कि वर्तमान मुद्दा मुस्लिम पत्नी की ओर से विवाह विघटन से संबंधित नहीं है (अपितु मुस्लिम पति द्वारा विवाह विघटन किए जाने से संबंधित है) । वर्तमान अधिनियमिति के उपबंध याचियों तथा प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेलों द्वारा अपने-अपने पहलू से दी गई दलीलों को समझने के लिए सुसंगत हैं ।

भाग-5

इस्लामिक तथा गैर-इस्लामिक देशों में विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के प्रचलन का निराकरण

28. ताहिर महमूद और सैफ महमूद द्वारा लिखित पुस्तक "मुस्लिम ला इन इंडिया एंड अब्रोड" (यूनिवर्सल ला पब्लिशिंग कम्पनी प्रा. लि., नई दिल्ली, 2012 का संस्करण) के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निराकरण किए जाने के बारे में निम्न स्थिति को विवाह-विच्छेद के तरीके के रूप में कानूनी अधिनियमों के माध्यम से पूरे संसार में अभिलिखित किया गया है । "तलाक-ए-बिद्दत" का उत्सादन करने वाले देशों में अरब देश, दक्षिण-पूर्व एशियाई देश और उप-महाद्वीपीय देश आते हैं । हमने उपर्युक्त वर्गीकरण उन देशों की तथ्यात्मक स्थिति को सिद्ध करने के लिए किया है । प्रथमतः, यह प्रथा पूरे संसार में उन्हीं देशों में प्रचलित थी जहां मुसलमान बड़ी संख्या में रहते थे । द्वितीयतः, यह प्रथा, निम्नलिखित देशों में विधान द्वारा समाप्त कर दी गई है :–

(क) अरब देशों की विधियां

(i) **अल्जीरिया** – यह एक धर्मतंत्रीय देश है जिसके अनुसार इस्लाम धर्म उसका शासकीय धर्म है । इस देश में सुन्नी संप्रदाय के मुसलमानों का बाहुल्य है । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

कोड ऑफ फैमिली ला, 1984

2005 में यथासंशोधित 1984 की विधि सं. 84-11

2017(8) eILR(PAT) SC 110

"अनुच्छेद 49 – विवाह-विच्छेद न्यायालय के निर्णय के सिवाय साबित नहीं किया जा सकता परन्तु यह भी तब जब कि इससे पूर्व तीन मास से अनधिक अवधि के भीतर सुलह का प्रयास कर लिया गया हो ।"

(ii) **मिस्र** – यह एक पंथनिरपेक्ष देश है । इस देश में सुन्नी संप्रदायों के मुसलमानों का बाहुल्य है । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

ला ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1929

1985 की विधि सं. 100 द्वारा यथासंशोधित 1929 की विधि 25

"अनुच्छेद 1 – मत्तता के प्रभाव के अधीन या विवश किए जाने पर दी गई तलाक प्रभावी नहीं होगी ।

अनुच्छेद 2 – ऐसी सशर्त तलाक किसी भी प्रकार से प्रभावी नहीं होगी जिसे तत्काल प्रभावी नहीं होना है, यदि उसका प्रयोग किसी कार्य को करने या उससे विरत रहने की दुष्प्रेरणा के लिए किया गया हो ।

अनुच्छेद 3 – सुव्यक्त या विवक्षित रूप से दी गई तलाक जिसमें तलाक की संख्या का उल्लेख किया गया हो प्रभावी तलाक नहीं होगी सिवाय इसके कि वह एकल प्रतिसंहरणीय तलाक होगी ।

अनुच्छेद 4 – तलाक की संकेतात्मक अभिव्यक्ति, अर्थात् ऐसे शब्द जिनका अर्थ तलाक देने से लगाया जा सके और न भी लगाया जा सके, तब तक तलाक की कोटि में नहीं आएंगे जब तक वास्तव में पति द्वारा तलाक दिया जाना आशियत न हो ।

(iii) **इराक** – यह एक धर्मतंत्रीय देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । इराक के मुसलमानों में शिया बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया गया है :–

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1959

1987 की विधि सं. 90 द्वारा यथा-संशोधित 1959 की विधि 188

"अनुच्छेद 35 – निम्न व्यक्तियों द्वारा दी गई तलाक प्रभावी नहीं होगी –

(क) वह व्यक्ति जो मत्त, उनमत्त या अल्पबुद्धि है, दबाव में है या क्रोध, आकस्मिक विपदा, वृद्धावस्था या रोग के कारण अबोध अवस्था में है ;

(ख) वह व्यक्ति जो प्राणघातक रोग से ग्रसित है या ऐसी अवस्था में है जो सभी संभाव्यताओं से प्राणघातक है और वास्तव में इसी कारण पत्नी के जीवित रहते हुए उसकी मृत्यु हो जाती है ।"

* * * * *

अनुच्छेद 37 – यदि तलाक स्पष्ट या विवक्षित गिनती के साथ दी जाती है, तब एक से अधिक तलाक नहीं होगी ।

(2) यदि किसी महिला को उसके पति द्वारा तीन अलग-अलग अवसरों पर तीन बार तलाक दी जाती है, तब उसके पश्चात् कोई भी प्रतिसंहरण या पुनर्विवाह अनुज्ञेय नहीं होगा ।

* * * * *

अनुच्छेद 39 – (1) जब कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को तलाक देने का आशय करता है, तब वह पर्सनल स्टेटस कोर्ट के समक्ष वाद संस्थित करेगा कि उसके द्वारा दी गई तलाक प्रभावी कर दी जाए और यह कि इस संबंध में आदेश जारी किया जाए । यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार किसी न्यायालय के समक्ष आवेदन नहीं कर सकता है तो इद्दत की अवधि के दौरान उस पति पर न्यायालय में तलाक का रजिस्ट्रीकरण किया जाना आबद्धकर होगा ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

(2) विवाह का प्रमाणपत्र न्यायालय द्वारा रद्द किए जाने तक विधिमान्य बना रहेगा ।"

(iv) **जॉर्डन** – यह एक पंथनिरपेक्ष देश है । मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश में निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया गया है :

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1976

1976 की विधि 61 –

"अनुच्छेद 88 – (1) तलाक तब प्रभावी नहीं होगी यदि उसकी

उद्घोषणा मत्तता, घबराहट, दबाव, मानसिक विकार, अवसाद या निद्रा की अवस्था में दी जाती है ।

(2) 'घबराया हुआ व्यक्ति' वह कहलाएगा जिसने क्रोध या प्रकोपन आदि के कारण समझबूझ खो दी है और वह यह नहीं समझ सकता कि वह क्या कह रहा है ।

* * * * *

अनुच्छेद 90 – जो तलाक स्पष्ट या विवक्षित गिनती के साथ दी जाती है तथा उसी समय बार-बार दी जाती है, वह एक तलाक से अधिक तलाक के रूप में प्रभावी नहीं होगी ।

* * * * *

अनुच्छेद 94 – प्रत्येक तलाक प्रतिसंहरणीय होगी सिवाय उस तलाक के जो अन्तिम तीसरा तलाक है, विवाहोत्तर सहवास के पूर्व दी गई तलाक है और विचार-विमर्श के पश्चात् दी गई तलाक है ।

* * * * *

अनुच्छेद 98 – जहां अप्रतिसंहरणीय तलाक एक या दो बार दी जाती है तब पक्षकारों की सहमति से विवाह को पुनरुज्जीवित करना प्रतिषिद्ध नहीं है ।

(v) **कुवैत** – यह एक धर्मतांत्रिक देश है जिसने इस्लाम को शासकीय धर्म घोषित किया है । इसमें सुन्नी संप्रदाय के मुसलमान बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश में निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया गया है –

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1984

1984 की विधि 51 –

"अनुच्छेद 102 – वयस्क और स्वस्थचित्त व्यक्ति द्वारा अपनी स्वेच्छा से और अपनी कृत्य की विवक्षा को समझते हुए दी गई तलाक प्रभावी हो सकती है । अतः तलाक तब प्रभावी नहीं होगी यदि पति मानसिक रूप से विकलांग, अल्पबुद्धि, प्रपीड़ित, भूल, मत्तता, भय या क्रोध से इस प्रकार ग्रसित है कि उसकी भाषा और कार्य प्रभावित हो जाए ।

* * * * *

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अनुच्छेद 109 – यदि तलाक (दो, तीन) संख्या सहित शब्दों द्वारा सांकेतिक या लिखित रूप में दी जाती है, तब केवल एक तलाक ही प्रभावी होगी ।

(vi) **लेबनान** – यह एक पंथनिरपेक्ष देश है । इसमें मुसलमान बहुसंख्यक हैं जिनका अनुपात 54 प्रतिशत (27 प्रतिशत शिया और 27 प्रतिशत सुन्नी) है । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश में निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया गया है –

कुटुंब अधिकार विधि, 1962

16 जुलाई, 1962 की विधि

"अनुच्छेद 104 – किसी मत्त व्यक्ति द्वारा दी गई तलाक किसी भी प्रकार से प्रभावी नहीं होगी ।

अनुच्छेद 105 – प्रपीड़नाधीन दी गई तलाक प्रभावी नहीं होगी ।"

(vii) लीबिया – यह एक धर्मतंत्रीय देश है । इसमें इस्लाम को शासकीय धर्म घोषित किया गया है । मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश में निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया गया है –

कुटुंब विधि, 1984

1984 की विधि 15 द्वारा यथा-संशोधित 1984 की विधि 10

"अनुच्छेद 28 – तलाक से विवाह बंधन समाप्त हो जाता है । किसी भी स्थिति में कोई तलाक किसी सक्षम न्यायालय की डिक्री द्वारा और अनुच्छेद 30 के उपबंधों के अध्यधीन प्रभावी होगी ।

अनुच्छेद 29 – तलाक दो प्रकार की होती हैं – प्रतिसंहरणीय और अप्रतिसंहरणीय । प्रतिसंहरणीय तलाक से तब तक विवाह समाप्त नहीं होता है जब तक इद्दत की अवधि पूरी न हो जाए । अप्रतिसंहरणीय तलाक से विवाह तत्काल समाप्त हो जाता है ।

अनुच्छेद 30 – सभी तलाकें प्रतिसंहरणीय होंगी सिवाय उस तलाक के जो तीसरी बार दी गई है, एक विवाहोत्तर सहवास के पूर्व दी गई है, एक प्रतिफलार्थ और वह तलाक जिसे इस विधि के अन्तर्गत अप्रतिसंहरणीय के रूप में निर्दिष्ट किया गया है ।

अनुच्छेद 31 – तलाक केवल तभी प्रभावी होगी जब स्पष्ट शब्दों

में उद्घोषित की जाए और जिससे विवाह के विघटन करने का आशय दर्शित होता हो । सांकेतिक या आलंकारिक अभिव्यक्ति से विवाह विघटन नहीं होगा ।

अनुच्छेद 32 – अप्राप्तवय या उन्मत्त व्यक्ति द्वारा दी गई तलाक या प्रपीड़नाधीन या विवाह-विघटन के अस्पष्ट आशय के साथ दी गई तलाक विधि की दृष्टि से प्रभावी नहीं होगी ।

अनुच्छेद 33 – (1) पत्नी द्वारा किए गए किसी भी कार्य या लोप से प्रभावी होने वाली किसी तलाक का कोई विधिक प्रभाव नहीं होगा ।

(2) ऐसी तलाक जिसके द्वारा पत्नी को किसी शपथ से आबद्ध किया जाए या उसे किसी कार्य करने से अवरुद्ध किया जाए, विधि की दृष्टि से प्रभावी नहीं होगी ।

(3) वह तलाक जो स्पष्ट शब्दों में गिनकर या संकेत द्वारा दी गई है, केवल एकल प्रतिसंहरणीय तलाक मानी जाएगी सिवाय ऐसी स्थिति के जब तलाक तीसरी बार दी गई हो ।

* * * * *

अनुच्छेद 35 – विवाह का विघटन पक्षकारों की पारस्परिक सम्मति से किया जा सकता है । ऐसी तलाक का रजिस्ट्रीकरण न्यायालय में किया जाना चाहिए । यदि पक्षकार ऐसी तलाक के निबंधनों से सहमत नहीं हैं तब वे न्यायालय के समक्ष आवेदन करेंगे और न्यायालय मामले को तय करने के लिए या उनके बीच सुलह कराने के लिए मध्यस्थ नियुक्त करेगा ।

* * * * *

अनुच्छेद 47 – तलाक न्यायालय में दूसरे पक्षकार या उसके प्रतिनिधि की मौजूदगी में दी जानी चाहिए । न्यायालय सुलह की सभी संभावनाओं पर विचार करने के बाद ही तलाक को प्रभावी घोषित करेगा ।"

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

(viii) **मोरक्को** – यह एक धर्मतांत्रिक देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । इस देश के मुसलमानों में

सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 2004

2004 की विधि 70.03 –

"अनुच्छेद 79 – जो कोई अपनी पत्नी को तलाक देता है, उसे उस क्षेत्र के पब्लिक नोटरी, जहां वैवाहिक गृह स्थित है या वह स्थान जहां पत्नी रहती है या वह स्थान जहां विवाह हुआ था, उसे रजिस्टर कराने की अनुज्ञा देने के लिए न्यायालय के समक्ष अर्जी प्रस्तुत करनी चाहिए ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

अनुच्छेद 80 – अर्जी में पति और पत्नी का परिचय उनके व्यवसाय, पते, बच्चों की संख्या और उनकी आयु, यदि कोई हो, स्वास्थ्य तथा शैक्षणिक स्तर आदि का उल्लेख किया जाना चाहिए । इसके साथ विवाह-करार की एक प्रति भी लगाई जानी चाहिए और पति की सामाजिक हैसियत और उसकी आर्थिक जिम्मेदारियों से संबंधित दस्तावेज भी संलग्न किए जाने चाहिए ।

अनुच्छेद 81 – न्यायालय पति-पत्नी को बुलाएगा और सुलह का प्रयास करेगा । यदि पति जानबूझकर अनुपस्थित रहता है, तब यह उस अर्जी का प्रत्यहरण समझा जाएगा । यदि पत्नी न्यायालय में अनुपस्थित रहती है तब न्यायालय उसे यह सूचना देगा कि यदि वह स्वयं न्यायालय में प्रस्तुत नहीं होती है तो वह अर्जी उसकी अनुपस्थिति में विनिश्चित कर दी जाएगी । यदि पति ने अपनी पत्नी का कपटपूर्वक गलत पता दिया है, तब उसे पत्नी के कहने पर अभियोजित किया जा सकता है ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

अनुच्छेद 82 – न्यायालय पक्षकारों और उनके साक्षियों की सुनवाई गोपनीयता के आधार पर करेगा और मध्यस्थों या कुटुंब सुलह कौंसिल की नियुक्ति सहित उनके बीच सुलह कराने के सभी संभव कदम उठाएगा और यदि उन पति-पत्नियों के बच्चे हैं तब ऐसा प्रयास 30 दिनों के भीतर ही पूरा किया जाएगा । यदि सुलह हो जाता है, तब न्यायालय के समक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत की जाएगी ।

अनुच्छेद 83 – यदि सुलह सफल नहीं हो पाता है तब न्यायालय ऐसी रकम नियत करेगा जो कि पति द्वारा न्यायालय में 30 दिनों के भीतर पत्नी को तलाक के पश्चात् शोध्यों और भरणपोषण के लिए संदाय हेतु जमा की जाएगी ।

*   *   *   *   *

अनुच्छेद 90 – ऐसे व्यक्ति द्वारा दी गई तलाक अनुज्ञेय नहीं होगी जो अबोध अवस्था में नहीं है या जो प्रपीड़नाधीन है या प्रकोपनाधीन है ।

अनुच्छेद 92 – तलाक देने की मौखिक या लिखित अनेक अभिव्यक्तियों से केवल एक तलाक का ही प्रभाव रखेंगी ।

*   *   *   *   *

अनुच्छेद 123 – पति द्वारा दी गई प्रत्येक तलाक प्रतिसंहरणीय होगी सिवाय उस तलाक के जो तीसरी बार दी गई है, विवाहोत्तर सहवास के पूर्व, पारस्परिक सम्मति द्वारा और खुला द्वारा या तलाक-ए-तफवीज द्वारा दी गई है ।

(ix) **सूडान** – यह एक धर्मतंत्रीय देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । इस देश के मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे के संबंध में इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

तलाक विधि, 1935

1935 की न्यायिक उद्घोषणा सं. 4 –

"अनुच्छेद 1 – मत्तता या विबाध्यता की अवस्था में दी गई तलाक अविधिमान्य और निष्प्रभावी होगी ।

अनुच्छेद 2 – ऐसी समाश्रित तलाक जो तत्काल प्रभावी नहीं होनी है और जिसका प्रयोग उत्प्रेरणा या धमकी के रूप में किया जाता है, प्रभावी नहीं होगी ।

अनुच्छेद 3 – स्पष्ट या विवक्षित गिनती के साथ दी गई तलाक केवल एक तलाक के रूप में ही प्रभावी होगी ।

अनुच्छेद 4 – तलाक के लिए प्रयोग की गई आलंकरिक

अभिव्यक्ति विवाह विघटन का प्रभाव केवल तब रखेगी जब पति का आशय वास्तव में तलाक ही देने का हो ।"

(x) **सीरिया** – यह एक पंथनिरपेक्ष देश है । इस देश के मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1953

1975 की विधि 34 द्वारा यथासंशोधित 1953 की विधि 59 –

अनुच्छेद 89 – कोई भी तलाक प्रभावी नहीं होगी जब तलाक देने वाला व्यक्ति मत्त है, अबोध अवस्था में है या विबाध्यताधीन है । कोई भी व्यक्ति अबोध अवस्था में तब कहलाएगा जब वह क्रोध आदि के कारण यह न समझ सके कि वह क्या कह रहा है ।

अनुच्छेद 90 – सशर्त दी गई तलाक तब प्रभावी नहीं होगी यदि वास्तव में तलाक देने का आशय नहीं है और उसका प्रयोग किसी कार्य को करने या उससे रोकने की उत्प्रेरणा के लिए किया गया हो या उसका प्रयोग शपथ या आग्रह के रूप में किया गया हो ।

* * * * *

अनुच्छेद 92 – यदि तलाक स्पष्ट या विवक्षित गिनती के साथ दी जाती है तब यह तलाक एक से अधिक तलाक के रूप में प्रभावी नहीं होगी ।

* * * * *

अनुच्छेद 94 – प्रत्येक तलाक प्रतिसंहरणीय होगी सिवाय उस तलाक के जो तीसरी तलाक है, विवाहोत्तर सहवास के पूर्व दी गई तलाक है और विचार-विमर्श के पश्चात् दी गई तलाक है और वह तलाक जिसे इस संहिता के अधीन अप्रतिसंहरणीय कहा गया है ।

* * * * *

अनुच्छेद 117 – जब कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को तलाक देता है तब न्यायालय, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि पति ने बिना किसी युक्तियुक्त कारण के मनमाने रूप से ऐसा किया है और यह कि इस तलाक के परिणामस्वरूप पत्नी को नुकसान होगा और वह निराश्रय हो जाएगी, पति की आर्थिक अवस्था और पत्नी की पीड़ा

को ध्यान में रखते हुए, यह विनिश्चित करेगा कि पति, पत्नी को प्रतिकर का संदाय करेगा जो तीन वर्ष के लिए आवश्यक भरणपोषण की रकम से अधिक नहीं होगा, साथ ही इद्दत की अवधि के दौरान आवश्यक भरणपोषण का भी संदाय करना होगा । यह निदेश भी दिया जा सकता है कि भरणपोषण का संदाय एकमुश्त या किस्तों में किया जाए, जैसा भी मामले की परिस्थिति को देखते हुए आवश्यक हो ।

(xi) **ट्यूनिशिया** – यह एक धर्मतंत्रीय देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । इस देश के मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । इस देश में वर्तमान मुद्दे से संबंधित निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

कोड ऑफ पर्सनल स्टेट्स, 1956

1981 की विधि 7 द्वारा यथासंशोधित 1956 की विधि 13-8

अनुच्छेद 31 – (1) तलाक की डिक्री इन परिस्थितियों में दी जाएगी –

(i) पक्षकारों की परस्पर सम्मति से ; या (ii) किसी क्षति कारित किए जाने के आधार पर किसी भी पक्षकार के कहने पर ; या (iii) यदि पति तलाक देने का आग्रह करे या पति तलाक लेने की मांग करे । उपर्युक्त खण्ड (ii) और (iii) के अधीन तलाक द्वारा जिस पक्षकार द्वारा तात्विक या मानसिक क्षति कारित की जाएगी उसे व्यथित पक्षकार की क्षतिपूर्ति करने का निदेश दिया जाएगा ।

2. जहां तक धन के रूप में पहुंची तात्विक क्षति के लिए क्षतिपूर्ति की जाने वाली महिला का संबंध है, उसके लिए धन का संदाय इद्दत की अवधि के पश्चात् किया जाएगा और वह वैवाहिक गृह में बने रहने के रूप में हो सकता है । यह क्षतिपूर्ति पुनरीक्षण, अभिवृद्धि या कमी किए जाने के अध्यधीन होगी जो तलाकशुदा पत्नी की परिस्थितियों में हुए परिवर्तन के अनुसार तब तक की जाएगी जब तक वह जीवित है या पुनर्विवाह के परिणामस्वरूप उसका वैवाहिक स्तर परिवर्तित न हो जाए । यदि पूर्व पति की मृत्यु हो जाती है तब क्षतिपूर्ति उसकी संपदा से की जाएगी और इसकी पूर्ति उसके वारिसों द्वारा की जाएगी यदि वे उसके लिए सहमत हैं और यदि वे असहमति प्रकट करें तो यह न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया जाएगा । पत्नी द्वारा क्षतिपूर्ति की मांग किए जाने पर, वारिस पूर्व पति की मृत्यु के

समय से एक वर्ष की अवधि के भीतर एकमुश्त राशि का संदाय कर सकते हैं ।

अनुच्छेद 32 – (1) तलाक की कोई भी डिक्री तब तक नहीं की जाएगी जब तक न्यायालय पति-पत्नी के बीच विवाद के संबंध में पूर्ण जांच न कर ले और उनके बीच सुलह कराना असफल न हो जाए ।

(2) जब सुलह संभव न हो तब न्यायालय, चाहे इसके लिए मांग न भी की गई हो, पति या पत्नी के निवास से संबंधित सभी महत्वपूर्ण मामलों तथा बच्चों की अभिरक्षा सहित उनसे मुलाकात करने का उपबंध करेगा सिवाय इसके कि जब पक्षकार विशिष्ट रूप से इन सभी अधिकारों या इनमें से किसी एक अधिकार को छोड़ना चाहे । न्यायालय इन सभी तथ्यों के आधार पर भरणपोषण नियत करेगा जो सुलह का प्रयास करते समय न्यायालय के विचार में आते हैं । सभी महत्वपूर्ण मामलों का उपबंध डिक्री में किया जाएगा जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकेगी किन्तु अतिरिक्त उपबंध करने के लिए उसका पुनर्विलोकन किया जा सकता है ।

(3) न्यायालय सबसे पहले तलाक के मामलों में और इससे संबंधित सभी मुद्दों की बाबत, अर्थात् प्रतिकर की वह राशि जिसके लिए इद्दत की अवधि के पश्चात् पत्नी हकदार होती है, आदेश पारित करेगा । अभिरक्षा, भरणपोषण, प्रतिकर, निवास तथा बच्चों से मुलाकात करने के अधिकार से संबंधित डिक्री के भाग निष्पादित किए जाएंगे ।"

(xii) **संयुक्त अरब अमीरात** – यह एक धर्मतंत्रीय परिसंघीय देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । इस देश के संविधान के अधीन स्थापित रीति-रिवाज के अनुसरण में धर्म की स्वतंत्रता है । मुसलमानों में शिया संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । इस देश में वर्तमान मुद्दे से संबंधित निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है –

लॉ ऑफ पर्सनल, 2005

2005 की परिसंघीय विधि सं. 28 –

"अनुच्छेद 140 – (1) यदि कोई पति अपनी एकपक्षीय कार्यवाही करते हुए विधिमान्य विवाहोत्तर संभोग के पश्चात् अपनी

पत्नी को तलाक देता है और वह भी पत्नी द्वारा की गई मांग के बिना, तो पत्नी इद्दत के भरणपोषण के अतिरिक्त प्रतिकर पाने की हकदार होगी । प्रतिकर की राशि पति के साधन और पत्नी द्वारा सहन की गई पीड़ा को ध्यान में रखते हुए विनिश्चित की जाएगी, किन्तु यह राशि उस महिला की हैसियत वाली महिला को संदेय एक वर्ष के भरणपोषण की राशि से अधिक नहीं होगी ।

(2) काजी प्रतिकर के संबंध में डिक्री पारित कर सकता है जो एकमुश्त राशि के रूप में या किश्तों के रूप में पति की सुविधा के अनुसार उसके द्वारा संदत्त की जानी चाहिए ।"

(xiii) **यमन** – यह एक धर्मतंत्रीय देश है जिसने इस्लाम को अपना शासकीय धर्म घोषित किया है । मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक हैं । इस देश ने वर्तमान मुद्दे से संबंधित इस देश ने निम्नलिखित विधान अधिनियमित किया है :–

डिक्री ऑन पर्सनल स्टेट्स, 1992

1992 की डिक्री 20 –

"अनुच्छेद 61 – कोई भी तलाक तब प्रभावी नहीं होगी यदि वह ऐसे व्यक्ति द्वारा दी जाती है जो मत्त है, या अबोधावस्था में है, या सूझ-बूझ से काम लेने के लिए अशक्त है और यह सब उसकी दशा और कृत्य से प्रदर्शित होना चाहिए ।

* * * * *

अनुच्छेद 64 – जो तलाक गिनती के साथ दी जाती है, चाहे वह एक अवसर पर कितनी ही बार दी जाए, केवल एकल प्रतिसंहरणीय तलाक मानी जाएगी ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

अनुच्छेद 65 – ऐसे शब्द बोलना कि यदि पत्नी ने ऐसा कार्य किया या करने में असफल रही तो उसे तलाक हो जाएगी, तलाक की कोटि में नहीं आएगा ।

अनुच्छेद 66 – ऐसे शब्दों से कि यदि कोई शपथ या प्रतिज्ञा तोड़ी गई तो तलाक प्रभावी होगा, विवाह का विघटन नहीं होगा भले ही उक्त शपथ या प्रतिज्ञा तोड़ी गई हो ।

अनुच्छेद 67 – इद्दत की अवधि के दौरान पति द्वारा तलाक का प्रतिसंहरण किया जा सकता है । इद्दत पूरी होने के पश्चात् उनके बीच किया गया सीधा पुनर्विवाह विधिपूर्ण होगा ।

* * * * *

अनुच्छेद 77 – यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को बिना किसी युक्तियुक्त कारण के मनमाने रूप में तलाक देता है और उससे पत्नी आहत होती है, तब ऐसी स्थिति में न्यायालय पत्नी को प्रतिकर मंजूर कर सकता है जो पति द्वारा संदेय होगा जिसकी सीमा पत्नी की हैसियत के अनुसार एक वर्ष के भरणपोषण की रकम से अधिक नहीं होगी । न्यायालय प्रतिकर का संदाय एकमुश्त या किस्तों में किए जाने का विनिश्चय कर सकता है ।"

(ख) दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की विधियां

(i) **इंडोनेशिया** – इंडोनेशिया का संविधान इंडोनेशियाई नागरिकों को धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी देता है । तथापि, सरकार द्वारा केवल छह शासकीय धर्मों को मान्यता दी गई है – इस्लाम, प्रोटेस्टेन्टवाद, कैथोलिकवाद, हिन्दुवाद, बौद्धधर्म, कंफूसियसवाद । इस देश के मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक है । इस देश में वर्तमान मामले से संबंधित निम्न विधान विद्यमान हैं –

(क) विवाह विधि, 1974

1974 की विधि 1 –

"अनुच्छेद 38 – तलाक केवल न्यायालय में ही प्रभावी होगी और न्यायालय पक्षकारों के बीच सुलह का प्रयास किए जाने के पूर्व तलाक की अनुज्ञा नहीं देगा । तलाक केवल विवाह-विघटन से संबंधित पर्याप्त कारणों के आधार पर ही अनुज्ञेय होगा ।

* * * * *

अनुच्छेद 41 – तलाक की दशा में माता-पिता दोनों अपने बच्चों के भरणपोषण के लिए जिम्मेदार बने रहेंगे । जहां तक बच्चों की अभिरक्षा से संबंधित विवाद का संबंध है, न्यायालय ही विनिश्चय पारित करेगा । भरणपोषण और शिक्षा से संबंधित खर्चों का निर्वहन करने की प्राथमिक जिम्मेदारी पिता की होगी किन्तु यदि वह इस जिम्मेदारी का निर्वहन करने में असमर्थ रहता है, तो न्यायालय इस

भार को माता पर डाल सकता है । न्यायालय पूर्व पति को यह निदेश भी दे सकता है कि वह तलाकशुदा पत्नी को निर्वाहिका का संदाय करे ।"

(ख) विवाह विनियम, 1975

1975 का विनियम 9 –

"अनुच्छेद 14 – जो व्यक्ति इस्लामिक विधि के अधीन विवाह की गई अपनी पत्नी को तलाक देना चाहेगा, वह जिला न्यायालय के समक्ष इस संबंध में कार्यवाही किए जाने के लिए अपने इस आशय की सूचना पत्र द्वारा देगा ।

अनुच्छेद 15 – इस पत्र की प्राप्ति पर न्यायालय तीस दिनों के भीतर पक्षकारों को समन जारी करेगा और उनसे सभी सुसंगत तथ्यों की जानकारी एकत्र करेगा ।

अनुच्छेद 16 – यदि न्यायालय का नीचे उल्लिखित अनुच्छेद 19 में उल्लिखित किसी भी आधार की विद्यमानता के बारे में समाधान हो जाता है और न्यायालय इस बात से सहमत हो जाता है कि पक्षकारों के बीच सुलह की कोई संभावना नहीं है, तो न्यायालय तलाक अनुज्ञात करेगा ।

अनुच्छेद 17 – उपर्युक्त अनुच्छेद 16 में यथा-अधिकथित तलाक मंजूर किए जाने के तत्काल पश्चात् न्यायालय तलाक का प्रमाणपत्र जारी करेगा और इसे तलाक के रजिस्ट्रीकरण के लिए रजिस्ट्रार को भेजेगा ।

*   *   *   *   *

अनुच्छेद 19 – तलाक किसी भी पक्षकार की याचिका पर मंजूर की जा सकती है, यदि अन्य पक्षकार –

(क) ने जारकर्म कारित किया है या मद्यपान, स्वापक पदार्थ, जुआ खेलने या अन्य किसी गंभीर बुराई का आदी हो गया है ;

(ख) ने व्यथित पक्षकार का दो वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए बिना किसी विधिक आधार के तथा उक्त पक्षकार की इच्छा के विरुद्ध अभित्यजन किया है ;

(ग) को कम से कम पांच वर्ष की अवधि के लिए कारावास

भेजा गया है ;

(घ) ने व्यथित पक्षकार के साथ हानिकर प्रकृति की क्रूरता का व्यवहार किया है ;

(ङ) किसी ऐसी शारीरिक विरूपता से ग्रसित हो गया है जिससे दाम्पत्य कर्तव्य प्रभावित होते हों या पति और पत्नी के बीच संबंधों में इतना तनाव आ गया हो कि उनका सुलह कराया जाना असंभव हो ।

(ii) **मलेशिया** – मलेशिया के संविधान के अधीन इस्लाम उसका शासकीय धर्म है किन्तु अन्य धर्मों को भी शान्ति और सौहार्द के लिए अनुज्ञात किया गया है । इस देश के मुसलमानों में सुन्नी संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक है । इस देश में वर्तमान मामले से संबंधित निम्नलिखित विधान विद्यमान हैं –

इस्लामिक फैमिली ला ऐक्ट, 1984

1984 का अधिनियम, 304 –

अनुच्छेद 47 – (1) ऐसा कोई पति या पत्नी जो तलाक देना या लेना चाहता है, वह इस कानूनी घोषणा के साथ विहित प्ररूप में न्यायालय के समक्ष तलाक के लिए आवेदन प्रस्तुत करेगा (क) विवाह के ब्यौरे और बच्चों, यदि कोई हैं, के नाम, आयु और उनका लिंग ; (ख) धारा 45 के अधीन न्यायालय की अधिकारिता से संबंधित तथ्यों के ब्यौरे ; (ग) पक्षकारों के बीच पूर्व में चलाई गई वैवाहिक कार्यवाहियों के ब्यौरे और वह स्थान जहां कार्यवाहियां चलाई गई हैं ; (घ) विवाह की ईप्सा के लिए कारण (ङ) इस संबंध में कथन कि क्या सुलह कराए जाने का कोई कदम उठाया गया है, यदि हां, तो कौन से कदम उठाए गए ; (च) पत्नी और विवाह से उत्पन्न बच्चों के भरणपोषण और आवास से संबंधित किसी भी करार के निबंधन और पक्षकारों द्वारा किए गए संयुक्त प्रयास से प्राप्त की गई आस्तियों, यदि कोई है, का विभाजन या किसी करार के निष्पादित न किए जाने की स्थिति में, इन मुद्दों से संबंधित आवेदक के प्रस्ताव ; और (छ) ईप्सा किए गए आदेश के ब्यौरे ।

(2) तलाक का आवेदन प्राप्त किए जाने पर, न्यायालय अन्य पक्षकार को समन तामील कराएगा जिसके साथ आवेदन की एक प्रति तथा आवेदक द्वारा की गई घोषणा संलग्न की जाएगी और समन

द्वारा अन्य पक्षकार को न्यायालय में प्रस्तुत होने का निदेश दिया जाएगा ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अन्य पक्षकार इस तलाक से सहमत हैं या नहीं ।

(3) यदि अन्य पक्षकार तलाक के लिए सहमत हैं और न्यायालय का सम्यक् रूप से जांच और पूछताछ के पश्चात् यह समाधान हो जाता है कि विवाह का असुधार्य रूप से भंग हो गया है, तो न्यायालय पति को यह सलाह देगा कि वह उसके समक्ष एक बार बोलकर तलाक दे ।

(4) न्यायालय एक तलाक की उद्घोषणा के तथ्य को अभिलिखित करेगा और इस अभिलेख की प्रमाणित प्रति समुचित रजिस्ट्रार और महारजिस्ट्रार को रजिस्ट्रीकरण के लिए भेजेगा ।

(5) यदि अन्य पक्षकार इस तलाक से सहमत नहीं हैं या न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि पक्षकारों के बीच सुलह कराए जाने की युक्तियुक्त संभावना है, तो न्यायालय यथाशीघ्र सुलह समिति का गठन करेगा जिसका अध्यक्ष एक धार्मिक अधिकारी होगा और उसमें दो अन्य व्यक्ति होंगे जिनमें से एक पति की ओर से और दूसरा पत्नी की ओर से होगा और मामले को इसी समिति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा ।

(6) उपधारा (5) के अधीन दो व्यक्तियों को नियुक्त करने के लिए, न्यायालय, जहां भी संभव हो, पक्षकारों के ऐसे निकट नातेदारों को वरीयता देगा जिन्हें मामले की परिस्थितियों की जानकारी हो ।

(7) न्यायालय सुलह समिति को इस संबंध में निदेश दे सकता है कि सुलह का संचालन किस प्रकार किया जाए और यह समिति इस प्रकार दिए गए निदेशों के अनुसार ही कार्य करेगी ।

(8) यदि यह समिति न्यायालय से सहमत होने में असमर्थ है या न्यायालय का समिति द्वारा किए गए सुलह के कार्य से समाधान नहीं होता है तो न्यायालय ऐसी समिति को हटा देगा और उसके स्थान पर एक अन्य समिति नियुक्त करेगा ।

(9) समिति अपनी गठन की तारीख से छह मास या न्यायालय द्वारा यथा अनुज्ञात अतिरिक्त अवधि के भीतर सुलह की कार्यवाही करने का प्रयास करेगी ।

(10) समिति पक्षकारों को अपने समक्ष उपस्थित होने की अपेक्षा करेगी और प्रत्येक पक्षकार को सुनवाई का अवसर देगी और समिति इस संबंध में, ऐसे अन्य व्यक्तियों को भी सुन सकती है और ऐसी जांच भी करा सकती है जो वह उचित समझे, और यदि समिति आवश्यक समझे तो अपनी कार्यवाहियों को समय-समय पर स्थगित भी कर सकती है ।

(11) यदि सुलह समिति सुलह कराने में असमर्थ है और पक्षकारों के वैवाहिक संबंधों को पुनरुज्जीवित कराने में असमर्थ रहती है, तो वह इस संबंध में एक प्रमाणपत्र जारी करेगी और उस प्रमाणपत्र में ऐसी सिफारिश भी कर सकती है, जिसे वह इस विवाह से जन्म लिए अप्राप्तवय बच्चों, यदि कोई हो, के भरणपोषण और अभिरक्षा, संपत्ति के विभाजन और विवाह से संबंधित अन्य बातों के संबंध में उचित समझे ।

(12) सुलह समिति के समक्ष कोई भी अधिवक्ता और सालिसिटर किसी कार्यवाही में किसी भी पक्षकार की ओर से उपस्थित नहीं होगा और न ही कोई कार्य करेगा और सुलह समिति की इजाजत के बिना पति या पत्नी के परिवार के सदस्य के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति उनकी ओर से प्रतिनिधित्व नहीं करेगा ।

(13) यदि समिति न्यायालय के समक्ष यह रिपोर्ट प्रस्तुत करती है कि सुलह करा दिया गया है और पक्षकारों ने अपने दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन कर लिया है, तो न्यायालय तलाक के आवेदन को खारिज कर देगा ।

(14) यदि समिति न्यायालय के समक्ष यह प्रमाणपत्र प्रस्तुत करती है कि वह सुलह कराने और पक्षकारों को अपने दाम्पत्य संबंधों को पुनर्ग्रहण कराने में असमर्थ रही है, तो न्यायालय पति को यह सलाह देगा कि वह उसके समक्ष एक बार बोलकर तलाक दे, और यदि न्यायालय एक बार बोलकर तलाक देने के लिए पति को न्यायालय में उपस्थित कराने की स्थिति में नहीं है या पति तलाक देने से इनकार करता है तो न्यायालय इस मामले को हाकम (मध्यस्थ) के समक्ष धारा 48 के अनुसार कार्रवाई किए जाने के लिए प्रस्तुत करेगा ।

15. सुलह समिति से संबंधित उपधारा 5 की अपेक्षा ऐसी स्थिति

को लागू नहीं होगी – (क) जहां आवेदक का यह अभिकथन हो कि उसे उसके जीवन साथी द्वारा अभित्यजित कर दिया गया है और उसके पते-ठिकाने की कोई जानकारी नहीं है ; (ख) जहां अन्य पक्षकार पश्चिमी मलेशिया से दूर रहता है और ऐसी संभावना न हो कि वह आवेदन की तारीख के पश्चात् छह मास के भीतर न्यायालय की अधिकारिता वाले क्षेत्र में आ जाएगा या आ जाएगी ; (ग) जहां अन्य पक्षकार को तीन वर्ष या उससे अधिक समय के लिए कारावास भेजा गया हो ; (घ) जहां आवेदक का यह अभिकथन हो कि अन्य पक्षकार किसी असाध्य मानसिक रोग से ग्रसित है ; या (ङ) जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी आपवादिक परिस्थितियां हैं जिनके आधार पर सुलह समिति अव्यवहारिक हो जाए ।

16. उपधारा 17 में उपबंधित बातों के सिवाय, पति द्वारा दी गई तलाक या न्यायालय द्वारा दिया गया आदेश तब तक प्रभावी नहीं होगा जब तक इद्दत की अवधि पूरी न हो जाए ।

17. यदि पत्नी तलाक के समय या न्यायालय द्वारा आदेश दिए जाने के समय पर गर्भवती है, तब ऐसी तलाक या ऐसा आदेश गर्भावस्था के समाप्त होने तक प्रभावी नहीं होंगे ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

(iii) **फिलीपीन्स** – यह एक पंथनिरपेक्ष देश है । इस देश के बहुसंख्यक ईसाई हैं । इस देश में वर्तमान मुद्दे से संबंध में देश में निम्नलिखित विधान है –

कोड ऑफ मुस्लिम पर्सनल ला, 1977

1977 की डिक्री सं. 1083 –

अनुच्छेद 46 – (1) पति द्वारा दी गई तलाक एक बार प्रभावी होगी जब यह तलाक पत्नी के मासिक धर्म से निवृत्त होने के पश्चात् उस अवधि (तुहर काल) में दी जाए जब पति ने पत्नी से शारीरिक संबंध स्थापित करने से स्वयं को पूर्णतया रोक लिया हो ।

(2) एक तुहर काल में कई बार दी गई तलाकें केवल एक ही तलाक मानी जाएंगी और वह इद्दत अवधि के पूरे होने के पश्चात् अप्रतिसंहरणीय होगी ।

2017(8) eILR(PAT) SC 110

(3) तलाक देने वाले पति को चाहे तलाक पहली बार दी गई हो या दूसरी बार, यह अधिकार होगा कि वह इद्दत अवधि के पूरा होने के पूर्व, विवाह की नई संविदा (निकाह) निष्पादित किए बिना, पत्नी के साथ सहवास करके उसे वापस अपने साथ रख सकता है । यदि पति इद्दत पूरी होने के पूर्व ऐसा नहीं कर पाता है तब दी गई तलाक अप्रतिसंहरणीय होगी ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

* * * * *

अनुच्छेद 85 – तलाक का प्रतिसंहरण किए जाने के सात दिनों के भीतर पति, पत्नी की सम्मति से, उस सर्किट रजिस्ट्रार के समक्ष कथन प्रस्तुत करेगा जिसके अभिलेख में यहां पूर्व में तलाक दिए जाने के संबंध में प्रविष्टि कराई गई थी ।

* * * * *

अनुच्छेद 161 – (1) तलाक देने वाला मुस्लिम पुरुष बिना विलंब के उस क्षेत्र के शरिया सर्किट न्यायालय के क्लर्क के समक्ष जहां उसका परिवार निवास करता है, इस तथ्य और परिस्थितियों से संबंधित लिखित नोटिस फाइल करेगा जिसकी एक प्रति पत्नी को पहले ही तामील करा देगा । दी गई तलाक तब तक अप्रतिसंहरणीय नहीं होगी जब तक इद्दत की विहित अवधि समाप्त न हो जाए ।

(2) इस नोटिस की प्राप्ति के सात दिनों के भीतर न्यायालय का क्लर्क दोनों पक्षकारों से प्रतिनिधि नामित करने की ईप्सा करेगा । प्रतिनिधियों की नियुक्ति न्यायालय द्वारा न्यायालय के क्लर्क को अगामा (धार्मिक विद्वान्) मध्यस्थ कौंसिल के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त करते हुए की जाएगी जो विचारण करेगी और न्यायालय के समक्ष मध्यस्थता के परिणाम के आधार पर रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी जिसके आधार पर मंजूर किए गए ऐसे अन्य साक्ष्य को दृष्टिगत करते हुए न्यायालय आदेश पारित करेगा ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

(3) इस अनुच्छेद के उपबंधों का अनुपालन तब किया जाएगा यदि पत्नी तलाक-ए-तफवीज के अधिकार का प्रयोग करती है ।

* * * * *

अनुच्छेद 183 – जो व्यक्ति इस संहिता के अनुच्छेद 85, 161 और 162 की अपेक्षाओं का पालन करने में असफल रहता है उसे कारावास से या 200 से 2000 पीसोस या दोनों से दंडित किया जाएगा ।

(ग) उप-महाद्वीपीय देशों की विधियां

(i) **पाकिस्तान और बांग्लादेश** – ये दोनों धर्मतंत्रीय देश हैं जिनका शासकीय धर्म इस्लाम है । दोनों देशों में बहुसंख्यक सुन्नी मुसलमान हैं । इन देशों में वर्तमान मामले से संबंधित निम्नलिखित विधान विद्यमान है –

मुस्लिम फैमिली लॉज आर्डिनेन्स, 1961

1985 के आर्डिनेन्स 114 द्वारा बांग्लादेश में संशोधित 1961 का आर्डिनेन्स VIII

(बांग्लादेश ने निम्नलिखित सुसंगत उपबंधों में परिवर्तन किए हैं)

धारा 7(1) कोई भी ऐसा व्यक्ति जो अपनी पत्नी को तलाक देना चाहता है, वह किसी भी प्रकार से दी गई तलाक के तत्काल पश्चात् अध्यक्ष के समक्ष ऐसा किए जाने से संबंधित लिखित में नोटिस प्रस्तुत करेगा और उसकी एक प्रति पत्नी को भेजेगा ।

(2) जो कोई उपधारा (1) के उपबंधों का अतिलंघन करता है वह (1) साधारण कारावास से, जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से, जो पांच हजार रुपए तक का हो, या दोनों से दंडनीय होगा ।

(बांग्लादेश – दस हजार टका)

(3) उपधारा (5) में किए गए उपबंध के सिवाय, कोई भी तलाक जब तक वह स्पष्ट रूप से या अन्यथा प्रतिसंहृत न कर दी जाए तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक उस दिन से 90 दिन की अवधि पूरी न हो जाए जिसको उपधारा (1) के अधीन अध्यक्ष को नोटिस भेजा गया था ।

(4) उपधारा (1) के अधीन सूचना की प्राप्ति के 30 दिनों के भीतर अध्यक्ष पक्षकारों के बीच सुलह कराए जाने के प्रयोजनार्थ एक मध्यस्थ कौंसिल गठित करेगा और मध्यस्थ कौंसिल ऐसा सुलह कराने

के लिए सभी आवश्यक कदम उठाएगा ।

(बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)

(5) यदि पत्नी तलाक की उद्घोषणा किए जाने के समय गर्भवती है तो तलाक तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक उपधारा (3) में उल्लिखित अवधि या गर्भावस्था, दोनों में से जो भी बाद में हो, समाप्त न हो जाए ।

(6) वह पत्नी जिसका विवाह इस धारा के अधीन दी गई तलाक द्वारा विघटित किया गया है किसी अन्य व्यक्ति के साथ अन्तर्वर्ती विवाह किए बिना, किसी भी प्रकार से अपने ही पति के साथ पुनर्विवाह करने से कोई भी बात तब तक विवर्जित नहीं करेगी जब तक ऐसा विघटन तीसरी बार प्रभावी न किया गया हो ।

(ii) **श्रीलंका** – यह एक पंथ निरपेक्ष देश है इस देश के बहुसंख्यक बौद्ध हैं । इस देश में वर्तमान मुद्दे से संबंधित निम्न विधान विद्यमान है –

मुस्लिम मैरिज एण्ड डाइवोर्स ऐक्ट, 1951

2006 के अधिनियम, 40 द्वारा यथासंशोधित 1951 का अधिनियम 6 –

धारा 17(4) प्रत्येक विवाह, इसमें इसके पश्चात् स्पष्ट रूप से अन्यथा उपबंधित के सिवाय, इस अधिनियम के आरंभ के पश्चात् मुसलमानों के बीच संविदा किया गया विवाह, जैसा कि इसमें इसके पश्चात् उपबंधित है उस विवाह से संबंधित निकाह समारोह के पूर्ण होने के तत्काल पश्चात् रजिस्ट्रीकृत किया जाएगा ।

(5) ऐसे प्रत्येक विवाह में विवाह रजिस्ट्रीकृत कराने का कर्तव्य विवाह से संबंधित निम्न व्यक्तियों पर एतद्द्वारा अधिरोपित किया जाता है ; (क) वर, (ख) वधू के संरक्षक, और (ग) वह व्यक्ति जिसने इस विवाह से संबंधित निकाह समारोह का आयोजन किया है ।

धारा 27 - यदि पति अपनी पत्नी को तलाक देना चाहता है तो अनुसूची (II) में अधिकथित प्रक्रिया का अनुपालन किया जाएगा ।"

(2) यदि कोई पत्नी अपने पति से तलाक लेने की इच्छा ऐसे किसी आधार पर प्रकट करती है जो उपधारा (1) में निर्दिष्ट नहीं है,

जो पक्षकारों से संबंधित संप्रदाय को शासित करने वाली मुस्लिम विधि द्वारा किसी पत्नी को अनुज्ञात किसी वर्णन का कोई तलाक है, प्रत्येक मामले में मांगी गई तलाक की प्रकृति के आधार पर जहां तक संभव या आवश्यक हो, अनुसूची 3 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुपालन किया जाएगा ।

29. "तलाक-ए-बिद्दत" जैसे ही बोलकर दी जाएगी, तभी प्रभावी हो जाएगी । यह तलाक जब एक बार दे दी जाती है, अप्रतिसंहरणीय हो जाती है ।

भाग-6

"तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर न्यायिक उद्‌घोषणाएं

30. **राशीद अहमद** बनाम **अनीसा खातून**[1]

(i) **तथ्य** – उपर्युक्त मामले में न्यायनिर्णयन के लिए प्राथमिक मुद्दा गयासुद्दीन द्वारा अपनी पत्नी अनीसा खातून अर्थात् प्रत्यर्थी सं. 1 को बोलकर दी गई "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता से संबंधित है जो कि हनफी विचारधारा वाला एक सुन्नी मुसलमान है । प्रत्यर्थी का विवाह ग्यासुद्दीन के साथ तारीख 28 अगस्त, 1905 को हुआ था । ग्यासुद्दीन ने अपनी पत्नी को लगभग 13 सितंबर, 1905 को तलाक दे दी । ग्यासुद्दीन ने साक्षियों की मौजूदगी में किन्तु अपनी पत्नी - अनीसा खातून की अनुपस्थिति में उसे तीन बार बोलकर तलाक दे दी । प्रत्यर्थी सं. 1 - अनीसा खातून को उसी दिन "मेहर" के रूप में 1,000/- रुपए प्राप्त हुए जिसकी पुष्टि रजिस्ट्रीकृत रसीद द्वारा कराई गई है । इसके पश्चात्, ग्यासुद्दीन ने तारीख 17 सितंबर, 1905 को तलाकनामा (तलाक की डिक्री) निष्पादित की जिसमें तलाक दिए जाने का वर्णन किया गया । यह अभिकथन किया गया है कि अनीसा खातून - प्रत्यर्थी सं. 1 को तलाकनामा दे दिया गया है ।

(ii) **चुनौती** – अनीसा खातून – प्रत्यर्थी सं. 1 ने तलाक की विधिमान्यता को चुनौती दी है जिसमें पहला कारण यह दिया है कि वह तलाक की उद्‌घोषणा के समय मौजूद नहीं थी । दूसरा कारण यह है कि ऊपर कथित तलाक दिए जाने के पश्चात् भी सहवास 15 वर्षों तक निरन्तर बना रहा है अर्थात् ग्यासुद्दीन की मृत्यु हो जाने तक । इस अन्तराल के

---

[1] ए. आई. आर. 1932 प्रिवी कौंसिल 25 = (1931) एस. सी. सी. (प्रिवी कौंसिल).

2017(8) eILR(PAT) SC 110

दौरान ग्यासुद्दीन और अनीसा खातून के यहां पांच बच्चों ने जन्म लिया । अनीसा खातून के अनुसार ग्यासुद्दीन उसे अर्थात् प्रत्यर्थी सं. 1 को अपनी पत्नी के रूप में मानता रहा और जिन बच्चों को उसने जन्म दिया है वे उसके धर्मज बच्चे हैं । प्रत्यर्थी सं. 1 का यह भी पक्षकथन है कि 1,000/- रुपए की जो रकम उसे दी गई थी वह तत्काल दी जाने वाली मेहर थी और इस प्रकार यह वह रकम नहीं है जो ग्यासुद्दीन द्वारा दी गई "तलाक-ए-बिद्दत" के अनुसरण में हो ।

(iii) **प्रतिकर** – तारीख 13 सितंबर, 1905 को बोलकर दी गई "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता और अनीसा खातून द्वारा जन्म दिए गए बच्चों की धर्मजता पर विचार करते हुए प्रिवी कौंसिल ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया –

> "15. माननीय न्यायाधीशों की यह राय है कि ग्यासुद्दीन द्वारा तीन बार बोलकर दी गई तलाक तत्काल प्रभावी तलाक गठित करती थी और उनका यह समाधान हो गया है कि उच्च न्यायालय का वर्तमान मामले में साक्ष्य के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकालना न्यायोचित नहीं है । उनकी यह राय है कि इस तलाक की विधिमान्यता और प्रभावशालिता ग्यासुद्दीन के मानसिक आशय द्वारा इस रूप में प्रभावित नहीं होगी कि इसे असली तलाक नहीं माना जाए क्योंकि ऐसा दृष्टिकोण सभी नजीरों के प्रतिकूल है । जो तलाक वास्तव में दबाव या उपहास में आकर दी जाती है वह विधिमान्य और प्रभावी होती है : बेलीज डायजेस्ट, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 208, अमीर अलीज मोहम्मडन ला, तृतीय संस्करण, जिल्द ii, पृष्ठ 518, हेमिल्टन्स हिदाया, जिल्द i, पृष्ठ 211.
>
> (बल देने के लिए रेखाकंन किया गया है)
>
> 16. प्रत्यर्थियों ने स्वीकृत तथ्यों के आधार पर यह ईप्सा की है कि ग्यासुद्दीन द्वारा तलाक दिए जाने के पश्चात् लगभग 15 वर्षों से वह अनीसा फातिमा को अपनी पत्नी और बच्चों को धर्मज बच्चों के रूप में मान्यता देते चला आ रहा था और अपीलार्थी सं. 1 और औपचारिक प्रत्यर्थी सं. 10 जो कि ग्यासुद्दीन के भाई हैं, द्वारा स्वीकार की गई बातों के आधार पर जब एक बार तलाक साबित हो जाती है तब ऐसे तथ्य उसके प्रभाव को समाप्त नहीं कर सकते या प्रत्यर्थी अपनी पूर्व स्थिति में नहीं आ सकते ।

17. यह स्वीकार करते हुए, तीन तलाक द्वारा किए गए विवाह-विच्छेद के आधार पर ग्यासुद्दीन विधिवत रूप से अनीसा फातिमा के साथ पुनर्विवाह नहीं कर सकता था जब तक कि वह अन्य किसी व्यक्ति से विवाह न कर लेती और वह पति उसे तलाक न दे देता या उसकी मृत्यु न हो जाती । प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी कि तलाक के पश्चात् ग्यासुद्दीन की धर्मज सन्तान होने की अभिस्वीकृति से यह उपधारित किया जा सकता है कि अनीसा फातिमा ने अन्य किसी व्यक्ति के साथ बीच के समय में विवाह कर लिया था जिसकी मृत्यु हो चुकी थी या उसने अनीसा फातिमा को तलाक दे दी थी, और ग्यासुद्दीन ने अनीसा फातिमा से पुनर्विवाह किया था और यह भी उपधारित किया जा सकता है कि अपीलार्थियों का यह कर्तव्य था कि वह इस उपधारणा को खारिज करते । इस दलील के समर्थन में, उन्होंने हबीबुर्रहमान चौधरी **बनाम** अल्ताफ अली चौधरी (एल. आर. 48 आई. ए. 114) वाले मामले में इस बोर्ड के निर्णय में दिए गए सिद्धांतों को आधार माना है । माननीय न्यायाधीशों ने इस दलील को गंभीरता से नहीं लिया है क्योंकि यह सिद्धांत इसके पूर्णतः प्रतिकूल है । निर्णय के जिस पैरा का अवलंब लिया है वह एक पुत्र को धर्मज पुत्र के रूप में स्वीकार करके मुस्लिम विवाह के अप्रत्यक्ष सबूत से संबंधित है जो कि इस प्रकार है – यह साबित करना प्रथमदृष्ट्या असंभव नहीं हो सकता अर्थात् अभिस्वीकृति ऐसी स्थिति में नहीं होनी चाहिए जब आयु ऐसी हो कि अभिस्वीकृतिदाता के लिए अभिस्वीकृतिग्राही का पिता होना असंभव हो जाए या माता यह कहे कि वह एक अन्य पुरुष की पत्नी रही है, या वह अभिस्वीकृतिदाता के साथ रक्त संबंध के आधार पर प्रतिषिद्ध डिग्री के अधीन रह रही हो तब यह स्पष्ट होगा कि माता ने या तो जारकर्म किया था या सगोत्र संभोग किया है । अभिस्वीकृति का निराकरण अभिस्वीकृतिग्राही द्वारा किया जा सकता है । किन्तु यदि ऐसा कोई भी आक्षेप न किया जाए तब अभिस्वीकृति का महत्व साक्ष्य के महत्व से अधिक हो जाता है । इससे यह उपधारणा की जा सकती है कि विवाह हुआ था – यह ऐसी उपधारणा है जिसका लाभ दावेदार-पत्नी या दावेदार-पुत्र ले सकता है । तथापि, यह तथ्य की उपधारणा, न कि विधि की निश्चायक उपधारणा है, इसलिए यह अन्य किसी भी उपधारणा जैसी होती है जिसे प्रतिकूल सबूत के आधार पर अपास्त किया जा सकता है ।

18. वर्तमान मामले में तलाक द्वारा सृजित पुनर्विवाह करने का विधिक वर्जन यह उपधारणा करने को समान रूप से बाधित करेगा । यदि प्रत्यर्थियों ने, तलाक के पश्चात् और पति की मृत्यु के पश्चात् या बच्चे के जन्म के पूर्व पति द्वारा तलाक दिए जाने और बच्चों को धर्मज अभिस्वीकृत किए जाने के पश्चात् अनीसा फातिमा का अन्य के साथ विवाह साबित करके उस वर्जन का समाप्त किया जाना साबित कर दिया गया है, ऐसी परिस्थिति में ही प्रत्यर्थियों को उपधारणा का लाभ मिल सकता है अन्यथा नहीं ।

19. अतः, माननीय न्यायाधीशों ने यह राय व्यक्त की है कि अपील मंजूर की जानी चाहिए अर्थात् उच्च न्यायालय द्वारा पारित डिक्री उलट देनी चाहिए और यह कि अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पारित डिक्री प्रत्यावर्तित की जानी चाहिए, अपीलार्थियों को इस अपील के खर्चे और उच्च न्यायालय के समक्ष की गई अपील के खर्चे दिलाए जाएं । माननीय न्यायाधीशों ने तद्नुसार सलाह दी है ।"

(iv) **निष्कर्ष** – प्रिवी कौंसिल ने पत्नी की अनुपस्थिति में और बिना उसकी जानकारी के, 'तलाक-ए-बिद्दत' अर्थात् पति द्वारा दी गई तीन तलाक को विधिमान्य अभिनिर्धारित किया है यद्यपि पति और पत्नी भले ही उसके बाद से 15 वर्ष तक सहवास में रहे और इस बंधन से पांच बच्चों ने जन्म लिया ।

31. **जियाउद्दीन अहमद** बनाम **अनवारा बेगम**[1] (तत्कालीन एकल न्यायमूर्ति बहारुल इस्लाम द्वारा दिया गया निर्णय)

(i) **तथ्य** – प्रत्यर्थी अनवारा बेगम ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन भरणपोषण के लिए अर्जी प्रस्तुत की । उसकी ओर से यह दलील दी गई कि वह अपने पति के साथ विवाह के पश्चात् लगभग 9 मास तक रही है । उस अवधि के दौरान विवाहोत्तर संभोग हुआ था । अनवारा बेगम ने यह अभिकथन किया है कि उपर्युक्त अवधि के पश्चात् उसका पति उसके साथ यातनापूर्ण व्यवहार करने लगा और वह उसकी पिटाई भी किया करता था । अतः इसी कारण उसने विवश होकर अपने पति का साथ छोड़ दिया और वह अपने पिता के साथ रहने लगी जो एक दैनिक मजदूर था । अनवारा बेगम को तिनसुकिया के प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट द्वारा सम्यक् रूप से भरणपोषण मंजूर किया गया । अर्जीदार जियाउद्दीन

---

[1] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358.

अहमद अर्थात् अनवारा बेगम के पति ने प्रत्यर्थी द्वारा किए गए भरणपोषण के दावे को गुवाहाटी उच्च न्यायालय के समक्ष इस आधार पर चुनौती दी कि उसने अपनी पत्नी को "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए तलाक दे दिया है ।

(iii) **चुनौती** – उपर्युक्त परिस्थितियों को दृष्टिगत करते हुए "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता और पत्नी के भरण-पोषण के प्रति हक पर गुवाहाटी उच्च न्यायालय द्वारा विचार किया गया और इस न्यायालय ने "तलाक-ए-बिद्दत" की संकल्पना की विधिमान्यता की परीक्षा की ।

(iv) **विचार** – (क) उच्च न्यायालय ने कुरान की सुरा IV के खण्ड 19 में अन्तर्विष्ट आयत 128 से 130 और सुरा II के खण्ड 29 और 30 में अन्तर्विष्ट आयत 229 से 232 का अवलंब लिया और इसके संबंध में अब्दुल्ला यूसुफ अली और मौलाना मोहम्मद अली द्वारा की गई उपर्युक्त आयतों की तफसीर (व्याख्या) और तलाक से संबंधित विधिवेत्ता (अमीर अली तथा फैजी) द्वारा व्यक्त किए गए मतों को निर्दिष्ट करते हुए निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

> "इस्लाम धर्म में विवाह बंधन को बनाए रखने का यथासंभव प्रयास किया गया है विशेषकर ऐसी स्थिति में जहां उस बंधन से बच्चों ने जन्म लिया हो किन्तु ऐसा करना पुरुषों और महिलाओं की स्वतंत्रता के प्रतिषेध के विरुद्ध ऐसे अत्यंत महत्वपूर्ण मामलों में होगा जिनमें प्रेम और परिवार के जीवन का प्रश्न हो । ऐसा करने से जल्दबाजी में किए गए कार्य पर यथासंभव रोक लगेगी और कई प्रक्रमों पर सुलह की संभावना रहेगी । तलाक के पश्चात् भी विचारहीन कार्यवाही के विरुद्ध कतिपय पूर्वावधानियों के अधीन रहते हुए सुलह का सुझाव दिया जाता है । इद्दत की तीन मासिक क्रम की अवधि विहित की गई है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यदि किसी शर्त के कारण विवाह विघटित हो जाता है तब उस मुद्दे को तय करते हुए सुलह किया जा सके । किन्तु यह ऐसे मामलों में आवश्यक नहीं है जहां तलाक दी गई महिला कुंवारी है । यह सुनिश्चित रूप से घोषित किया जाता है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के प्रति समान अधिकार रखेंगे ।
>
> यूसुफ अली ने यह भी मत व्यक्त किया है :–
>
> "जब पारस्परिक बेमेल के कारण तलाक मंजूर की जाती है, तब

2017(8) eILR(PAT) SC 110

यह भय रहता है कि पक्षकार जल्दबाजी से काम लेकर अलग हो सकते हैं, उसके बाद अनुताप कर सकते हैं और फिर दोबारा अलग होने की इच्छा कर सकते हैं । बार-बार ऐसी व्यर्थ प्रक्रिया से बचने के लिए एक सीमा विहित की गई है । केवल दो तलाक (इस बीच सुलह सहित) अनुज्ञात किए जा सकते हैं । इसके पश्चात् पक्षकारों को एकमत होकर निश्चित कर लेना चाहिए कि वे अपना संबंध स्थायी रूप से समाप्त करना चाहते हैं या सम्मानपूर्वक एक-दूसरे के साथ पारस्परिक प्रेम और सहनशीलता कायम रखते हुए तथा समान शर्तों पर जीवन बिताना चाहते हैं, जिसमें दोनों पक्षकार विवाह से संबंधित अपने कर्तव्यों और जिम्मेदारियों की उपेक्षा न करे ।"

यूसुफ अली ने यह भी व्यक्त किया है :–

"यहां विहित किए गए सभी प्रतिषेध और सीमाएं दोनों पक्षकारों के अच्छे और सम्मानजनक जीवन के हित में है और बिना किसी सामाजिक या निजी कलंक के स्वच्छ तथा आदरपूर्ण सामाजिक जीवन के पक्ष में होते हैं ... ।"

*   *   *   *

दो तलाकों के बाद सुलह अनुज्ञेय है, तीसरी बार दी गई तलाक तब अप्रतिसंहरणीय तक हो जाती है जब तक वह स्त्री अन्य किसी पुरुष के साथ विवाह न कर ले और वह पुरुष उसे तलाक न दे दे । यह लगभग असंभव स्थिति है । इसमे यह समझाया गया है - यदि कोई व्यक्ति किसी महिला से प्रेम करता है तो उसे अचानक आवेश में या क्रोध में उत्प्रेरित होकर जल्दबाजी में कोई कार्य नहीं करना चाहिए ... ।

यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी के साथ दो तलाकों के बाद सुलह करता है, उसे केवल साम्यापूर्ण निबंधनों के आधार पर ऐसा करना चाहिए अर्थात् पति को चाहिए कि वह पत्नी पर ऐसा कोई दबाव न डाले जिससे उसके अधिकारों पर किसी भी प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पड़े और पति-पत्नी को एक-दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करते निर्विवाद और सम्मानजनक जीवन बिताना चाहिए ... ।"

विद्वान् टिप्पणकर्ता ने यह भी व्यक्त किया है :–

"विवाह बंधन का समाप्त होना परिवार और सामाजिक जीवन के लिए एक गंभीर मामला है । प्रत्येक विधिपूर्ण युक्ति सुझायी जाती है

जो साम्यापूर्ण रूप से उन व्यक्तियों का सुलह कराती है जो साथ-साथ रहते थे, परन्तु यह तब जब कि उनके बीच पारस्परिक प्रेम हो और वे एक-दूसरे के साथ सम्मानपूर्वक रह सकें । यदि इन शर्तों को पूरा कर दिया जाता है, तब बाहरी किसी भी व्यक्ति को ऐसा कोई अधिकार नहीं होगा जो इस सुलह को रोक सके या उसमें बाधा बन सके । पति-पत्नी को संपत्ति और अन्य प्रतिफलों से प्रबलित किया जा सकता है ।

(ख) उच्च न्यायालय ने कुरान की सुरा IV के खण्ड 6 में अन्तर्विष्ट आयत 35 का भी अवलंब लिया है और अब्दुल्ला यूसुफ अली द्वारा की गई उपर्युक्त टिप्पणी को पुनः निर्दिष्ट किया है जिन्होंने इसका निम्नलिखित निर्वचन किया है :–

"पारिवारिक विवादों को एक-दूसरे पर कीचड़ उछाले बिना विधि की प्रवंचनाओं का सहारा लिए बिना तय करना चाहिए । लैटिन देशों ने अपने विधिक तंत्र में इस तरीके का अनुमोदन किया है । यह दुर्भाग्य की बात है कि मुसलमानों में सार्वभौमिक रूप से इसे नहीं अपनाया जाता है जैसा कि अपनाया जाना चाहिए । प्रत्येक परिवार के मध्यस्थों को दोनों पक्षकारों के तौर-तरीकों पर विचार करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर की कृपानुसार वास्तविक सुलह हो जाएगा ।"

मौलाना मोहम्मद अली ने उपर्युक्त आयत के संबंध में इस प्रकार विचार व्यक्त किया है :–

"इस आयत में वह प्रक्रिया अधिकथित की गई है जिसे उस स्थिति में अपनाया जाता है जब तलाक का कोई मामला सामने आता है । पति अपनी पत्नी से स्वयं अलग नहीं हो सकता, मामले को विनिश्चित करने का कार्य न्यायाधीश का होता है । तलाक से संबंधित मामला सार्वजनिक भी नहीं किया जाना चाहिए । न्यायाधीश से यह अपेक्षा की जाती है कि वह दो मध्यस्थों को नियुक्त करे जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से हो । दोनों मध्यस्थों का कार्य वास्तविकता का पता लगाना होगा किन्तु उनका उद्देश्य दोनों पक्षकारों के बीच सुलह कराना होगा । यदि सुलह की सभी आशाएं विफल हो जाती है, तब तलाक की मंजूरी दी जाती है । किंतु अंतिम निर्णय न्यायाधीश का ही होता है जो तलाक की उद्‌घोषणा करने के लिए विधिक रूप से हकदार है । इस्लाम के आगमन के समय में इस आयत में अन्तर्विष्ट निदेशों के अनुसरण में,

मामलों का विनिश्चय किया जाता था ।"

विद्वान् लेखक ने अपनी पुस्तक रिलीजन ऑफ इस्लाम में उपर्युक्त आयत (IV - 35) के संबंध में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

"जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि तलाक देने के लिए न केवल कोई ठोस कारण होना चाहिए अपितु इस अंतिम उपाय का अवलंब लेने से पूर्व सुलह कराने के लिए आवश्यक सभी उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए । यह धारणा कि एक मुसलमान पति अपनी पत्नी को अपनी इच्छा से छोड़ देता है, तलाक की इस्लामी प्रथा का घोर दुरुपयोग है ।

फैजी ने तलाक की भर्त्सना करते हुए, उसे अर्थहीन और अनुचित कहा है । अब्दुर रहीम ने यह कहा है :–

"मैं यह कह सकता हूं कि विधि-वेत्ताओं द्वारा तलाक की विधि का निर्वचन, विशेषकर हनफी विचारधारा के अनुसार, एक बदनाम कार्य है जिसमें केवल शब्दों को बोलने से और उनके अर्थ की रहस्यमता के परिणामस्वरूप इस विषय से संबंधित विधि के स्वीकृत सिद्धांत का सीधा विरोध होता है ।

12. **मोहम्मद अली** ने इस प्रकार विचार व्यक्त किया है –

तलाक की इस प्रकार हतोत्साहित किया जाता है –

"यदि आप उनसे (अर्थात् अपनी पत्नियों से) घृणा करते हैं, तब इसका अर्थ यह होगा कि आप उसे नापसंद कर रहे हैं जिसमें अल्लाह ने बहुत सी अच्छाइयां रखीं हैं । जहां तक हो सके तलाक से बचने के लिए उपचार भी सुझाए गए हैं –

"अगर तुम्हें पति और पत्नी के बीच कोई भंग होने का भय हो तब एक निर्णायक पति की ओर से और दूसरा निर्णायक पत्नी की ओर से नियुक्त करो, यदि वे दोनों एक दूसरे के साथ सहमत हो जाते हैं तो अल्लाह उनके बीच सौहार्द्र कायम करेगा ।

पवित्र कुरान के इन्हीं उपदेशों के कारण पैगम्बर पर साहब ने ईश्वर की ओर से अनुज्ञात किए गए कामों में तलाक अत्यंत घृणित माना है ... मुसलमानों की मानसिकता यह है कि वैवाहिक जीवन की परेशानियों का मुकाबला उसकी सुविधाओं के साथ करना चाहिए और

पारिवारिक संबंधों को जहां तक हो सके विनाश से बचाने के लिए अंत में जाकर ही तलाक का आश्रय लिया जाना चाहिए ।"

विद्वान् लेखक ने यह भी मत व्यक्त किया है –

"पवित्र कुरान ने उल्लिखित तलाक का सिद्धांत, जिसमें वास्तव में सभी कारणों को अधिक या कम सम्मिलित किया गया है, वह विनिश्चय है जिसके अनुसार पति और पत्नी को साथ नहीं रहना चाहिए । वास्तव में विवाह पति और पत्नी के एक साथ रहने के करार के सिवाय कुछ नहीं है और जब दोनों में से कोई भी पक्षकार स्वयं को इस प्रकार जीवन बिताने योग्य नहीं समझता है, तब तलाक का अवलंब लेना चाहिए । वास्तव में, इसका यह अर्थ नहीं है कि पति और पत्नी के बीच प्रत्येक असहमति का परिणाम तलाक होगा, यह केवल पति-पत्नी के रूप में आगे जीवन बिताने के लिए असहमति मात्र है ....।"

इसके पश्चात् लेखक ने कुरान की सुरा IV आयत 35 में, अधिकथित शर्तों को निर्दिष्ट किया है । विद्वान् लेखक ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

"'शिकाक' या विवाह करार का भंग किसी भी पक्षकार के आचरण द्वारा भी किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, यदि उनमें कोई भी दूसरे के साथ कदाचार करता है या निरन्तर क्रूरता का व्यवहार करता है या जैसा कि कभी-कभी होता है कि स्वभाव की अप्रसांगिकता उस सीमा तक बढ़ जाती है कि वे एक-साथ वैवाहिक करार के अनुसार नहीं चल पाते हैं ।

इन मामलों में 'शिकाक' को अधिक स्पष्ट किया गया है किन्तु यह पक्षकारों पर निर्भर होगा कि वे इसे बनाए रखे या नहीं । तलाक केवल तब ही प्रभावी बनाया जाना चाहिए जब दोनों में से एक पक्षकार के लिए विवाह के करार को बनाए रखना असंभव हो और वह इस करार को तोड़ने के लिए विवश हो जाए । देखने से ही यह प्रतीत होना चाहिए कि पक्षकारों को अत्यधिक छूट दी गई है कि विवाह बंधन बना रहे, इस प्रकार यदि पति-पत्नी का एक-दूसरे के साथ मेल न खाने के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है तब यह निश्चित होगा कि ऐसे मतभेद को लेकर पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं कर सकते, दोनों के लिए और उनकी सन्तान तथा

समाज के लिए यह बेहतर होगा कि वे अलग हो जाएं और अलग होना विवश होकर साथ रहने से बेहतर है । प्रत्येक घर नाम मात्र ही होता है यदि उसमें शान्ति की बजाय कलह का वातावरण हो और ऐसा विवाह अर्थहीन होगा जिसमें पति-पत्नी के बीच प्रेम की कोई आशा न हो । यह मानना गलत होगा कि पति-पत्नी को इस प्रकार की छूट देने से विवाह में अस्थिरता आएगी क्योंकि विवाह एक स्थायी और पवित्र संबंध है जो एक पुरुष और नारी के प्रेम पर आधारित है और ऐसी स्थिति में तलाक सौहार्द वातावरण को कायम रखने का एक ऐसा उपचार बन जाता है जो विवाह बंधन से नहीं बन सकता ।

तलाक देने से संबंधित पति के अधिकार के बारे में विद्वान् लेखक ने यह मत व्यक्त किया है –

> "यद्यपि पवित्र कुरान में यह उल्लेख है कि तलाक पति द्वारा दी जाएगी, फिर भी उसके इस अधिकार को परिसीमित किया गया है ।"

विद्वान् लेखक ने कुरान की सुरा IV, आयत 35 में अधिकथित प्रक्रिया को, जो ऊपर उद्धृत की गई है, निम्न प्रकार व्यक्त किया है –

> 'यह देखा गया है कि पति और पत्नी के बीच विवाद के सभी मामलों में, भंग होने का भय रहता है, इसलिए दोनों पक्षकारों की ओर से एक-एक निर्णायक नियुक्त किया जाना चाहिए । इन निर्णायकों को सबसे पहले दोनों पक्षकारों के बीच सुलह कराने का प्रयास कराना चाहिए जिसके असफल होने पर ही तलाक प्रभावी की जाए । अतः, यद्यपि पति को ही तलाक की उद्घोषणा करनी होती है फिर भी वह इन निर्णायकों द्वारा दिए गए विनिश्चय द्वारा उसी प्रकार बाध्य है जिस प्रकार पत्नी बाध्य होती है । इससे यह दर्शित होता है कि पति अपनी इच्छानुसार विवाह-विच्छेद नहीं कर सकता । मामला सबसे पहले दो निर्णायकों के पास भेजा जाना चाहिए और उनका विनिश्चय पक्षकारों पर बाध्यकारी होगा ....। पैगम्बर साहब ने पति द्वारा दी गई तलाक में हस्तक्षेप किया है और उसे नामंजूर भी किया है तथा वैवाहिक संबंध को पुनःस्थापित भी किया है (बुखारी 68 : 2) निःसंदेह, यह प्रक्रिया की बात है किन्तु इससे यह दर्शित होता है कि विधि द्वारा गठित प्राधिकरण को तलाक के मामलों में

हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है ।'

विद्वान् लेखक ने यह भी व्यक्त किया है –

'तलाक मौखिक रूप से या लिखित में दी जा सकती है किन्तु ऐसा साक्षियों की मौजूदगी में किया जाना चाहिए ।'

(v) **निष्कर्ष** – कुरान की ऊपर निर्दिष्ट आयतों के आधार पर उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

'13. उपर्युक्त उद्धृत कुरान की आयतों और मोहम्मद अली और यूसुफ अली जैसे जाने-माने विद्वानों द्वारा किए गए उसके टिप्पणियों का परिशीलन करने पर और अमीर अली तथा फैजी जैसे महान विधि-वेत्ताओं द्वारा व्यक्त किए गए मतों का परिशीलन करने पर मैकनैगटन द्वारा व्यक्त किया गया यह मत पूरी तरह अभिखंडित हो जाता है कि "तलाक के लिए किसी भी मामले विशेष में किसी कारण की कोई गुंजाइश नहीं होती और मात्र सनक ही पर्याप्त है," और न्यायमूर्ति बेचलर (आई.एल.आर. 30 बाम्बे 537) द्वारा व्यक्त किया गया यह मत कि "पति द्वारा सनक में और अस्थिर मन से दी गई तलाक विधि की दृष्टि से उचित है, यद्यपि धर्म की दृष्टि से गलत है ।" ये मताभिव्यक्तियां इस धारणा पर आधारित हैं कि महिलाएं पुरुषों की जंगम संपत्ति हैं जिसके संबंध में पवित्र कुरान में इसका कोई समर्थन नहीं किया गया है । न्यायमूर्ति कोस्टेलो ने 59 कलकत्ता 833 में, ससम्मान तलाक की उचित विधि अधिकथित नहीं की है । मेरी राय में, पवित्र कुरान द्वारा अनुमोदित तलाक की सही विधि यह है कि तलाक युक्तियुक्त कारण के आधार पर ही दी जानी चाहिए और उसके पूर्व पति और पत्नी के बीच सुलह कराने के लिए उनके अपने-अपने मध्यस्थ द्वारा प्रयास किया जाना चाहिए । यदि यह प्रयास असफल हो जाता है तब तलाक प्रभावी हो सकती है ।

*　　*　　*　　*

16. वर्तमान मामले में, याची ने अपने लिखित कथन में मजिस्ट्रेट के समक्ष मात्र यह अभिकथन किया है कि उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दी थी ; किन्तु, पति ने न्यायालय में अपनी परीक्षा नहीं कराई और न ही उसने इस 'तलाक' को साबित करने के लिए नाममात्र के लिए भी कोई साक्ष्य प्रस्तुत किया । तलाक दिए जाने या उसके रजिस्ट्रीकरण का कोई सबूत नहीं है । आसाम मुस्लिम विवाह

और तलाक रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1935 के अधीन विवाह और तलाक का रजिस्ट्रीकरण कराना स्वैच्छिक और एकपक्षीय है । यदि तलाक या विवाह का मात्र रजिस्ट्रीकरण साबित हो जाता है, तब भी इससे ऐसी तलाक विधिमान्य नहीं होगी जो मुस्लिम विधि के अधीन अन्यथा अविधिमान्य है ।'

उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के आधार पर उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित किए गए निष्कर्ष का परिशीलन करने पर किसी भी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है कि बिना किसी युक्तियुक्त कारण के पति द्वारा तलाक-ए-बिद्दत दी गई थी और यह कि सुलह कराने का कोई प्रयास भी नहीं किया गया था और उसमें पति और पत्नी की ओर से सम्यक् रूप से मध्यस्थों द्वारा प्रतिवेदन नहीं किया गया था इसलिए इसे विधिमान्य तलाक नहीं कहा जा सकता । उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला है कि याची जियाउद्दीन अहमद ने मुख्य रूप से यह अभिकथन किया है कि उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दी थी किन्तु इस संबंध में कोई भी तर्कसम्मत साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है । इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर कि पक्षकारों के बीच अभी भी विवाह बना हुआ है, उच्च न्यायालय ने पत्नी अनवारा बेगम को भरणपोषण अधिनिर्णीत करने वाले आदेश को कायम रखा ।

32. **मुसम्मात रुकैया खातून** बनाम **अब्दुल खालीक लश्कर**[1] (तत्कालीन मुख्य न्यायमूर्ति बहारुल इस्लाम द्वारा दिया गया खण्ड न्यायपीठ का निर्णय)

(i) **तथ्य** – रुकैया खातून का विवाह अब्दुल खालिकक लश्कर के साथ हुआ था । विवाह के पश्चात् पति-पत्नी लगभग तीन मास तक साथ-साथ रहे । उस दौरान विवाहोत्तर संभोग हो गया था । रुकैया खातून ने यह अभिकथन किया है कि उपर्युक्त अवधि के पश्चात्, उसके पति ने उसे छोड़ दिया और उसकी उपेक्षा की । उसे अभिकथित रूप से कोई भी भरणपोषण नहीं दिया गया और इस प्रकार वह निर्धनता में लगभग तीन मास से जीवन बिता रही थी और इसके पश्चात्, उसने भरणपोषण मंजूर कराने के लिए आवेदन किया । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन फाइल किया गया भरणपोषण आवेदन उपखंड मजिस्ट्रेट, हैलाकंडी द्वारा खारिज कर दिया । पत्नी ने भरणपोषण के अपने दावे को खारिज करने वाले आदेश को गुवाहाटी उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती

---

[1] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट्स 375.

दी । प्रत्यर्थी-पति अब्दुल खालिक लश्कर ने भरणपोषण के दावे का प्रतिवाद करते हुए, यह प्राख्यान किया कि यद्यपि उसने याची के साथ विवाह किया था किन्तु उसने तारीख 12 अप्रैल, 1972 को "तलाक-ए-बिद्दत" द्वारा अपनी पत्नी के साथ विवाह-विच्छेद कर लिया था और इसके पश्चात् उसने एक तलाकनामा भी निष्पादित किया था । पति ने यह भी प्राख्यान किया है कि उसने याची को मेहर का संदाय भी कर दिया था । भरणपोषण के लिए याची पत्नी का दावा इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि उसे प्रत्यर्थी-पति द्वारा तलाक दे दिया गया था ।

(ii) **चुनौती** – उपर्युक्त परिस्थितियों में, प्रत्यर्थी-पति द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से किए गए विवाह-विच्छेद की विधिमान्यता और भरण-पोषण के लिए पत्नी के हक पर विचार करने के लिए मामला प्रस्तुत किया गया है ।

(iii) **विचार** – गुवाहाटी उच्च न्यायालय ने तारीख 12 अप्रैल, 1972 को प्रत्यर्थी-पति द्वारा दी गई तलाक की विधिमान्यता के संबंध में, निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

> "7. अतः, पहली बात यह विनिश्चित की जानी चाहिए कि क्या विरोधी पक्षकार ने याची को तलाक दिया है । मुस्लिम विधि में 'विवाह-विच्छेद' के समतुल्य शब्द 'तलाक' है । मुस्लिम विधि में विधिमान्य 'तलाक' किसे कहते हैं, इस संबंध में, हममें से एक (तत्कालीन न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम) द्वारा एकल न्यायाधीश के रूप में दांडिक पुनरीक्षण सं. 199/77 पर विचार किया गया था । 'तलाक' शब्द का शाब्दिक रूप से अर्थ 'स्वतंत्र होना' या 'बंधन से मुक्त' होना है । 'तलाक' शब्द का अर्थ पति द्वारा पत्नी से विवाह-विच्छेद करना है । मुस्लिम विधि के अधीन विवाह एक सिविल संविदा है । फिर भी इसके परिणामस्वरूप अधिकार और उत्तरदायित्व अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिनका संबंध समाज कल्याण से होता है और इसे अत्यधिक पवित्र माना जाता है । किन्तु विवाह के स्वरूप की पवित्रता के बावजूद इस्लाम धर्म के अधीन आपवादिक परिस्थितियों में यह आवश्यकता समझी गई है कि विवाह के विघटन के लिए भी रास्ता खुला होना चाहिए ।
>
> मुस्लिम विधि के अधीन 'तलाक' की प्रथा के संबंध में अत्यधिक मिथ्या धारणा बनी हुई है । पवित्र कुरान और हदीस से यह प्रतीत

होता है कि यद्यपि तलाक देने की अनुमति प्रदान की गई है, फिर भी इस अधिकार का प्रयोग केवल आपवादिक परिस्थितियों में ही किया जा सकता है । पैगम्बर साहब ने इस प्रकार कहा है –

> ‘अल्लाह ने तलाक के सिवाय किसी भी घृणाजनक कार्य को कभी भी मंजूर नहीं किया है । इब्ने उमर की रिवायत के अनुसार, पैगम्बर साहब ने यह कहा है - अल्लाह ने अत्यंत घृणित कार्यों में ही तलाक को अनुज्ञात किया है ।’ (मौलाना मोहम्मद अली द्वारा लिखित पुस्तक रिलीजन आफ इस्लाम का पृष्ठ 671 देखें)

अहमद कासिम मौला **बनाम** खातून बीबी (आई.एल.आर. कलकत्ता 833) वाले मामले में, जिसे तलाक से संबंधित विधि के क्षेत्र में एक प्रमुख माना जाता है, न्यायमूर्ति कोस्टेलो ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

> ‘तलाक के मुद्दे से संबंधित बहुत सी नजीरें हैं और मैंने इस मुद्दे पर पूर्व के नजीरों पर सावधानीपूर्वक यह समझने के लिए विचार किया है कि मैं न्यायालयों के हाल ही के विनिश्चयों से सहमत हो सकता हूं या नहीं । मुझे खेद है कि मेरा यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान विधि के आधार पर कोई भी मुसलमान अपनी पत्नी को अपनी स्वेच्छा और सनक के साथ तलाक दे सकता है ।’

न्यायमूर्ति मैक्नेटन ने यह अभिनिर्धारित किया है – “इस बात की कोई गुंजाइश नहीं है कि तलाक देने के लिए कोई विशेष कारण हो और बिना सोचे-समझे तलाक बोल देना पर्याप्त है” और न्यायमूर्ति बैचलर और न्यायमूर्ति कोस्टेलो ने साराबाई **बनाम** बबियाबाई (आई. एल. आर. 30 बाम्बे 537) वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया है –

> ‘विधि की दृष्टि से यह ठीक है, यद्यपि धर्म की दृष्टि से गलत है ।’

अमीर अली ने अपनी पुस्तक ‘ट्रिटीज आन मोहम्मडन ला’ में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

> ‘पैगम्बर साहब ने तलाक को सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रति

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अत्यंत नापसंदीदा कार्य घोषित किया है ।

यदि बिना किसी कारण के 'तलाक' दिया जाता है तब इसे मूर्खता और ईश्वर के प्रति अकृतज्ञता कहा जाएगा ।'

विद्वान् लेखक ने इसी पुस्तक में यह भी कहा है –

मुलतेका (इब्राहिम हलेबी) नामक पुस्तक के लेखक ने अत्यंत संक्षिप्त रूप से विचार किया है । उसने कहा है – 'विधि, पुरुष को प्राथमिक रूप से विवाह-विच्छेद करने की शक्ति देती है ; यदि उसकी पत्नी अपनी दुष्टता और दुश्चरित्रता के कारण वैवाहिक जीवन को दुखदायी बना देती है, किन्तु गंभीर कारणों के न होने पर कोई भी मुसलमान धर्म या विधि की दृष्टि से तलाक को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता है । पैगम्बर साहब के अनुसार, यदि वह अपनी पत्नी को छोड़कर चला जाता है और अपनी सनक में आकर उसे दूर कर देता है और तब ऐसी स्थिति में वह अपनी ओर 'ईश्वरीय श्राप' के रूप में आपदा आकर्षित करता है ।'

आई. एल. आर. मद्रास 22 में न्यायमूर्ति मुनरो और न्यायमूर्ति अब्दुल रहीम द्वारा गठित मद्रास उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है –

'निःसंदेह, विवाह का विघटन करने के अधिकार के मनमाने या अयुक्तियुक्त प्रयोग की कुरान के अधीन कड़ी निन्दा की गई है और पैगम्बर साहब की हदीसों की रिवातों के अनुसार इसे आध्यात्मिक अपराध कहा गया है । किंतु, पति के आचरण की अशिष्टता से उसके द्वारा सम्यक् रूप से दिया गया तलाक की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।'

न्यायमूर्ति मुनरो और अब्दुर रहीम ने एक मामले (आई. एल. आर. 30 मद्रास 22) में, संक्षिप्त रूप से यह अभिनिर्धारित किया था कि पति के आचरण की अशिष्टता से उसके द्वारा सम्यक् रूप से दी गई तलाक की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । इस बात पर बल दिया गया था कि तलाक केवल तब विधिमान्य होगा जब वह मुस्लिम विधि के अनुसार दिया जाए ।

आई. एल. आर. 5, रंगून 18, में प्रिवी कौंसिल के माननीय न्यायाधीशों ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है –

'मुस्लिम विधि के अनुसार, पति जब भी उसकी इच्छा हो, तलाक दे सकता है ।

किंतु प्रिवी कौंसिल ने ऐसा नहीं कहा है कि तलाक सम्यक् रूप से देने की आवश्यकता नहीं है या यह कि कुरान में उल्लिखित प्रक्रिया का अनुपालन करने की आवश्यकता नहीं है ।'

8. यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पवित्र कुरान, प्राथमिक स्रोत है और मुस्लिम विधि के अधीन किसी भी विषय के संबंध में एक प्रबल प्राधिकार है । दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 199/77 में एकल न्यायाधीश ने कुरान की सुसंगत आयतों को तलाक के मामले में कार्यवाही करने के लिए निर्दिष्ट किया है । हमें सभी आयतों को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है । उनमें से केवल एक आयत अर्थात् सुरा IV की आयत 35 को निर्दिष्ट करना ही पर्याप्त होगा जो निम्नलिखित प्रकार है –

'और यदि तुम्हें पति-पत्नी के बीच बिगाड़ का भय हो, तो एक फैसला करने वाला (निर्णायक) पति की ओर से हो और दूसरा फैसला करने वाला पत्नी की ओर से नियुक्त करो, यदि वे दोनों सुधार करना चाहेंगे तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता स्थापित कर देगा । निःसंदेह, अल्लाह सब कुछ जानने वाला और खबर रखने वाला है ।'

उपर्युक्त उद्धृत आयत से यह प्रतीत होता है कि एक पुरोभाव्य शर्त है जिसका अनुपालन तलाक देने के पूर्व किया जाना चाहिए । पुरोभाव्य शर्त इस प्रकार है कि यदि पति और पत्नी के बीच संबंध तनावपूर्ण हैं और पति का इरादा पत्नी को 'तलाक' देने का है, तब पति को अपनी ओर से एक मध्यस्थ चुनना चाहिए और पत्नी को भी ऐसा ही करना चाहिए और इन मध्यस्थों को थोड़े समय बाद जब दोनों के बीच शांत वातावरण बन जाए, सुलह का प्रयास करना चाहिए । यदि अंततः सुलह संभव न हो, तब पति को 'तलाक' देने का हक होगा । 'तलाक' अच्छे परिणाम के लिए दी जानी चाहिए न कि मात्र पति की इच्छा पूरी करने और न ही स्वेच्छाचारिता के लिए । यह गोपनीय नहीं होनी चाहिए ।

मौलाना मोहम्मद अली, जो कि एक विख्यात मुस्लिम विधिवेत्ता हैं, ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन आफ इस्लाम' को निर्दिष्ट करते हुए

2017(8) eILR(PAT) SC 110

और इस विषय से सुसंगत आयतों पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है –

> 'जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तलाक देने के लिए न केवल कोई ठोस कारण होना चाहिए अपितु तलाक के पूर्व सुलह के सभी प्रयास कराए जाने चाहिए । यह धारणा कि मुस्लिम पति अपनी पत्नी को मात्र स्वेच्छाचारिता के आधार पर अपने से अलग कर सकता है, तलाक के इस्लामिक तरीके में घोर विकृति है ।'

विद्वान् विधिवेत्ता ने यह भी विचार व्यक्त किया है –

> 'तलाक केवल तब दिया जाना चाहिए जब दोनों में एक पक्षकार के लिए विवाह करार को बनाए रखना असंभव हो और वह इसको तोड़ने के लिए विवश हो जाए।'

9. न्यायमूर्ति कोस्टेलो ने आई. एल. आर. 59 कलकत्ता 833 वाले उपर्युक्त मामले में आई. एल. आर. 33 मद्रास 22 तथा आई. एल. आर. 5 रंगून 18 वाले उपर्युक्त मामलों में, न्यायमूर्ति मुनरो और न्यायमूर्ति अब्दुर रहीम के निर्णयों पर विचार किया है । किंतु, विद्वान् विधिवेत्ता ने आई. एल. आर. 30 बाम्बे 537 वाले उपर्युक्त मामले में, न्यायमूर्ति मैकनेगटन और बैचलर द्वारा व्यक्त किए गए मतों को वरीयता दी है । इसका कारण ए. यूसुफ रौथर **बनाम** सोरम्मा (ए. आई. आर. 1971 केरल 261) वाले मामले में, न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर (जो अब उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश हैं) द्वारा व्यक्त किया गया है –

> 'डाउनिंग स्ट्रीट, लंदन में न्यायिक समिति मनु और मोहम्मद आफ इंडिया एण्ड अरबिया के निर्वचन में छोटी-मोटी विकृतियां अपरिहार्य हैं । सांस्कृतिक विधि की भावना को अपनाया गया है और समाज की संस्कृति की प्रवर्तनीय अभिव्यक्ति को बाहर के लोगों द्वारा पूरी तरह समझा नहीं जा सकता है ।'

10. ए. आई. आर. 1971 केरल 261 वाले उपर्युक्त मामले में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने यह भी मत व्यक्त किया है –

> 'यह मत कि मुस्लिम पति मनमानी और एकपक्षीय शक्ति का प्रयोग तत्काल तलाक देने में करते हैं, इस्लामिक व्यादेश के

अनुसार नहीं हैं । वास्तव में, इस विषय पर गहन चिन्तन द्वारा तलाक से संबंधित एक आश्चर्यजनक रूप से युक्तियुक्त, वास्तविक और नवीन विधि प्रकट हुई है .... ।'

विद्वान् न्यायाधीश ने यह भी मत व्यक्त किया है –

'यह एक सार्वजनिक भ्रम है कि कुरान के अधीन मुस्लिम पुरुष को विवाह विघटित करने की बेलगाम प्राधिकार प्राप्त है । सम्पूर्ण कुरान में स्पष्ट रूप से पुरुष को रोका गया है कि वह अपनी पत्नी को तलाक देने का बहाना तब तक तलाश न करे जब तक वह उसके लिए विश्वसनीय और आज्ञाकारी बनी रहती है, यदि पत्नियां, पतियों के लिए आज्ञाकारी हैं तब उन्हें पत्नियों के विरुद्ध कोई भी मार्ग नहीं अपनाना चाहिए (सुरा IV : आयत 34) ।

(iv) **निष्कर्ष** – उपर्युक्त विचार के आधार पर उच्च न्यायालय ने निम्न निष्कर्ष अभिनिर्धारित किया है –

'11. हमारी राय में पवित्र कुरान द्वारा विहित 'तलाक' की सही विधि इस प्रकार है – (i) 'तलाक' युक्तियुक्त कारण से ही दी जानी चाहिए, और (ii) तलाक देने के पूर्व पति-पत्नी के बीच दो मध्यस्थों द्वारा सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए जिनमें से एक पत्नी के परिवार से दूसरा पति के परिवार से होना चाहिए । यदि मध्यस्थ द्वारा किए गए प्रयास असफल हो जाते हैं, तब 'तलाक' दिया जा सकता है । हमारी राय में, एकल न्यायाधीश ने दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 199/77 (उपर्युक्त) में ठीक ही अधिकथित किया है, जबकि आई. एल. आर. 59 कलकत्ता 833 में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा और आई. एल. आर. 30 बाम्बे 537 में बाम्बे उच्च न्यायालय द्वारा उचित विधि अधिकथित नहीं की गई है ।'

उपर्युक्त उद्धृत विचार का गहराई से परिशीलन करने पर यह प्रकट होता है कि उच्च न्यायालय ने मुस्लिम विधि के अधीन विधिमान्य तलाक के आवश्यक संघटक निम्न प्रकार सूचीबद्ध किए हैं । प्रथमतः, 'तलाक' किसी ठोस कारण के आधार पर दिया जाना चाहिए और यह पति की मात्र इच्छा, चाहत, सनक और स्वेच्छा के आधार पर नहीं दिया जाना चाहिए । द्वितीयतः, यह गुप्त नहीं होना चाहिए । तृतीयतः, तलाक की उद्घोषणा और उसके अन्तिम होने तक एक समय अन्तराल होनी चाहिए ताकि

पक्षकारों का आवेश शान्त हो जाए और उनके बीच सुलह संभव हो सके । चतुर्थतः, मध्यस्थता की प्रक्रिया (सुलह के लिए) भी अपनाई जानी चाहिए जिसमें पति और पत्नी दोनों की ओर से मध्यस्थ प्रतिनिधि के रूप में कार्य करें । यदि उपर्युक्त संघटक विद्यमान नहीं हैं, तब 'तलाक' अविधिमान्य होगी । यह कारण कि 'तलाक-ए-बिद्दत' अर्थात् प्रत्यर्थी-पति अब्दुल खालिक लश्कर द्वारा दी गई तीन-तलाक द्वारा सभी संघटकों का समाधान विधिमान्य तलाक के रूप में नहीं हुआ है, इसलिए, उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विवाह का अस्तित्व बना हुआ है, तद्नुसार, यह अभिनिर्धारित किया गया कि पत्नी, भरणपोषण पाने की हकदार है ।

33. **मसरूर अहमद** बनाम **राज्य (राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र, दिल्ली)**[1] तत्कालीन न्यायमूर्ति बदर दुर्रेज अहमद द्वारा दिया गया एकल न्यायपीठ का निर्णय :

(i) **तथ्य** – आयशा अंजुम का विवाह तारीख 2 अप्रैल, 2004 को अर्जीदार मसरूर अहमद के साथ हुआ था । विवाह के पश्चात्, पति-पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंध सम्यक् रूप से स्थापित हुए थे और तारीख 22 अक्तूबर, 2005 को उनके यहां एक पुत्री ने जन्म लिया । पत्नी आयशा अंजुम द्वारा यह अभिकथन किया गया है कि पति के परिवार वालों ने उसे तारीख 8 अप्रैल, 2005 को दहेज की मांग पूरी न करने के कारण उसके वैवाहिक गृह से बाहर निकाल दिया । पत्नी आयशा अंजुम जब अपने मायके में रह रही थी, पति मसरूर अहमद ने तारीख 23 मार्च, 2006 को वरिष्ठ सिविल न्यायाधीश, दिल्ली के समक्ष दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए एक मामला फाइल किया । उपर्युक्त कार्यवाहियों के दौरान पत्नी, जो कि अपने मायके वापस चली गई थी, तारीख 13 अप्रैल, 2006 को पुनः अपने पति के पास वापस आ गई और उनके बीच वैवाहिक संबंध पुनः स्थापित हो गए । पति-पत्नी के बीच फिर से विवाद हो गया और मसरूर अहमद ने तारीख 28 अगस्त, 2006 को "तलाक-ए-बिद्दत" दे दिया । पत्नी आयशा अंजुम ने यह अभिकथन किया है कि उसे बाद में यह पता चला कि उसके पति मसरूर अहमद ने अपने "तलाक-ए-बिद्दत" के अधिकार का प्रयोग करते हुए आयशा अंजुम के भाइयों की मौजूदगी में अक्तूबर, 2006 में विवाह-विच्छेद किया है । पत्नी ने यह भी अभिकथन किया है कि पति ने न्यायालय के समक्ष (और स्वयं पत्नी के समक्ष) यह मिथ्या कथन किया है कि उसने तलाक नहीं दिया है, इसीलिए, पति ने

---

[1] (2008) 103 डी. आर. जे. 137.

न्यायालय के समक्ष दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की ईप्सा यह दर्शाते हुए की है कि वैवाहिक संबंध अभी भी बना हुआ है । पत्नी द्वारा यह दावा किया गया है कि यदि उसे तलाक की जानकारी होती तो वह पति के साथ सहवास न करती । अतः, मसरूर अहमद के साथ सहवास करने की जो सहमति पत्नी द्वारा दी गई थी, वह पत्नी आयशा अंजुम से कपट द्वारा प्राप्त की गई थी । अतः, पत्नी ने मसरूर अहमद को भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 376 के अधीन अपराध अर्थात् बलात्संग का अपराध कारित करने का आरोप लगाया है । पत्नी ने अपने पति से दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन भरणपोषण पाने का भी दावा किया है । उपर्युक्त कार्यवाहियों के लंबित रहने के दौरान दोनों पक्षकारों के बीच तारीख 1 सितंबर, 2007 को मैत्रीपूर्ण समझौता हो गया था ।

(ii) **चुनौती** – इस निर्णय के पैरा 12 में, उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त की गई स्थिति के आधार पर चुनौती स्पष्ट हो जाती है । पैरा 12 निम्न प्रकार है :–

> "12. मुस्लिम विधि के सिद्धांतों से संबंधित बहुत से प्रश्न विचार के लिए उद्‌भूत हुए हैं । वे निम्नलिखित हैं –
>
> 1. तीन तलाक की विधिमान्यता और प्रभाव क्या है ?
>
> 2. क्या क्रोध में आकर दी गई तलाक से विवाह विघटन हो सकता है ?
>
> 3. पत्नी को तलाक की संसूचना न मिलने का क्या परिणाम होगा ?
>
> 4. क्या अक्तूबर, 2005 में दी गई तात्पर्यित तलाक विधिमान्य थी ?
>
> 5. तारीख 19 अप्रैल, 2006 को किए गए दूसरे निकाह का क्या प्रभाव है ?"

(iii) **विचार** – "तलाक-ए-बिद्दत" की वैधता और प्रभाव पर विचार करते हुए, उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मत अभिलिखित किया है :–

> 'तलाक-ए-बिद्दत' या तीन-तलाक की पवित्रता और प्रभाव
>
> 24. अहसन या हसन तलाक में कोई भी कठिनाई नहीं है । दोनों प्रकार की तलाकों को सभी शाखाओं शिया या सुन्नी में विधिक मान्यता प्राप्त है । परेशानी तीन तलाक के साथ है जिसे बिद्दत (नया

2017(8) eILR(PAT) SC 110

कार्य) कहा गया है । आमतौर पर शिया शाखा के अन्तर्गत तीन तलाक को वैध तलाक[1] के रूप में मान्यता नहीं दिया गया है । तथापि, सुन्नी शाखा के अन्तर्गत अलग-अलग राय हैं कि क्या तीन तलाक को तीन तलाक माना जाए जिसमें कि वैवाहिक संबंधों का अप्रतिसंहरणीय रूप से अंत हो जाता है या वह एक प्रतिसंहरणीय तलाक[2] है जैसा कि वह अहसन तलाक के रूप में प्रवर्तित होता है ।

---

[1] तीन तलाक के संबंध में लेखक फैजी ने इस प्रकार टिप्पणी की है: ऐसी तलाक विधिपूर्ण है, यद्यपि हनफी विचारधारा के अनुसार ऐसा करना पाप है; किंतु इसना आशारी और फातमी विधि के अधीन यह अनुज्ञेय नहीं है (पृष्ठ 154 देखें) । अमीर अली ने इस प्रकार टिप्पणी की है : शिया और मालिकी विचारधारा के मुसलमान 'तलाक-उल-बिद्दत' की विधिमान्यता का अनुमोदन नहीं करते हैं जबकि हनफी और शाफई विचारधारा के मुसलमान इस बात से सहमत हैं कि इस प्रकार बिद्दत के रुप में दी गई तलाक प्रभावी होगी, यद्यपि इस प्रकार तलाक देने वाला पुरुष पाप का भागीदार होगा (पृष्ठ 435 देखें) । ये कथन मालिकी और शाफई मुसलमानों के मतानुसार संभवतः उचित नहीं है, किन्तु यह सार्वभौमिक रूप से अनुमोदित है कि ऊपर उल्लिखित शिया विचारधारा के अधीन तीन-तलाक को विधिमान्य तलाक नहीं माना गया है ।

[2] विशेषकर शास्त्रीय हनफी विधि, जिसका भारत में प्रचलन है, के अनुसार यह प्रतीत होता है कि तीन तलाक देना पाप है, फिर भी इस प्रकार दी गई तलाक अप्रतिसंहरणीय होगी । मुल्ला द्वारा लिखित पुस्तक के पृष्ठ 261-262 देखें ; हिदाया नामक पुस्तक के पृष्ठ 72-73 और 83 देखें । इसके प्रतिकूल विद्वान् अमीर अली ने यह विचार व्यक्त किया है कि तीन-तलाक का इद्दत की अवधि के दौरान प्रतिसंहरण किया जा सकता है, पृष्ठ 436 देखें । असगर अली इंजीनियर, न्यू डोन : नई दिल्ली (2005) द्वारा लिखित द कुरान, वुमन एण्ड माडर्न सोसाइटी नामक पुस्तक में मौलाना उमर अहमद 'उस्मानी' ने यह कहा गया है कि मोहम्मद इब्ने मुक्कतिल, जो कि हनफी विचारधारा वाले विधिवेत्ता थे, ने यह साक्ष्य प्रस्तुत किया है कि इमाम अबु हनीफा ने अपना दूसरा विचार भी प्रस्तुत किया था कि तीन-तलाक से केवल एक ही तलाक सृजित होती है और इद्दत अवधि के दौरान इसका प्रतिसंहरण किया जा सकता है । मौलाना उमर अहमद उस्मानी ने हाफिज इब्ने जहार अल असकलानी द्वारा लिखित फतह-उल-बारी नामक पुस्तक से यह उद्धृत किया है कि बहुत से महान विधिवेत्ताओं ने यह मत व्यक्त किया है कि एक बार में दी गई तीन-तलाकों से केवल एक ही तलाक गठित होती है । मौलाना वहीदुद्दीन खां ने कनसर्निंग डिवोर्स, गुडवर्ड बुक्स: नई दिल्ली (2003) नामक पुस्तक के पृष्ठ 29 पर यह कहा है कि यदि ऐसा कोई पुरुष जो भावुक होकर आवेश में आ जाता है और तीन बार तलाक दे देता है, तब "उसके द्वारा तीन बार बोलकर दी गई तलाक उसकी भावनाओं की तीव्रता को व्यक्त करने की कोटि मे आएगा और इस प्रकार यह केवल एक बार दी गई तलाक के

समतुल्य होगी ।" मौलाना वहीदुद्दीन खां ने इमाम अबु दाउद द्वारा रिवायत की गई हदीस का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है जिसमें रुकाना इब्ने अबु यजीद ने अपनी पत्नी को एक ही बार में तीन-तलाकें दी और इसके पश्चात् उसने अपने इस कृत्य पर पश्चाताप किया । जब रुकाना इब्ने अबु यजीद ने पैगम्बर मोहम्मद को इस संबंध में बताया कि उसने अपनी पत्नी को किस प्रकार तलाक दी, तब पैगम्बर साहब ने यह कहा कि "तीन बार दी गई तलाक केवल एक तलाक है । अगर तुम चाहो तो इसका प्रतिसंहरण कर सकते हो" (मूल हदीस मुसलद अहमद इब्ने हम्बल में पृष्ठ 28-29 पर देखें) । अब्दुल्ला इब्ने अब्बास द्वारा रिवायत की गई एक हदीस यह भी है कि पैगम्बर साहब के जीवनकाल, खलीफा अबु बकर और खलीफा उमर इब्ने खत्ताब की खिलाफत के दौरान तीन-तलाक को केवल एक ही तलाक ही माना जाता था किन्तु इसके पश्चात् खलीफा उमर ने तीन-तलाक को अपने अनुयायियों पर बाध्यकारी बना दिया ताकि उन्हें जल्दबाजी में किए गए अपने परिणामों की समझ हो सके, (सही मुस्लिम नामक पुस्तक की हदीस संख्या 3491 देखें) । मौलाना वहीदुद्दीन खां ने इस नियम को अल्पकालिक प्रकृति का माना था और वह नियम केवल उसी क्षेत्र के लोगों को लागू होने के लिए था और खलीफा उमर के साथियों द्वारा किया गया इजमा (एकमत) भी अल्पकालिक था क्योंकि इजमा को पवित्र कुरान के अधीन विहित की गई तलाक की प्रक्रिया के प्रति वरीयता नहीं दी जा सकती, (पृष्ठ 30-32 देखें) । मौलाना ने यह भी कहा है कि शरीयत सदैव के लिए है किन्तु मुस्लिम शासक विशेष परिस्थितियों में आपवादिक कार्य कर सकता है और यह सुनिश्चित कर सकता है कि ऐसे नियम से प्रभावित महिलाओं को पूरी तरह प्रतिकर दिया जाएगा, पृष्ठ 30-31 देखें) । मौलाना ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आज के युग में हमारे विद्वान् खलीफा उमर के उपर्युक्त नियम (प्राधिकार) को प्रस्तुत करके तीन-तलाक को न्यायोचित नहीं ठहरा सकते क्योंकि हमारे विद्वानों को हजरत उमर जैसे खलीफा के रूप में शक्ति प्रदत्त नहीं है, (पृष्ठ 32 देखें) । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के भारतीय हनफी विद्वानों ने इस राय को स्वीकार किया है : द कम्पेन्डियम आफ इस्लामिक लाज, 2001, भाग-II, खण्ड 24, नामक पुस्तक के अनुसार यदि कोई व्यक्ति तलाक देता है और यह कहता है कि मेरा आशय केवल एक तलाक देने का था और उसने 'तलाक' शब्द को केवल बल देने के लिए दोहराया था और उन शब्दों का अर्थ एक से अधिक तलाक देने का नहीं था, तब ऐसी स्थिति में सशपथ दिया गया उसका कथन स्वीकार्य होगा । महमूद द्वारा अनुवादित । (मुस्लिम ला आफ इंडिया, तृतीय संस्करण, ताहिर महमूद लेक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ्स : नई दिल्ली,2002, पृष्ठ 107 भी देखें जिसमें विद्वान् लेखक ने इस प्रकार टिप्पणी की है : "भारत में इस संबंध में कोई भी विधान नहीं है किंतु आज के मुफ्ती इस बात से सहमत हैं कि यदि कोई पुरुष तथाकथित तीन तलाक देता है किंतु तत्पश्चात् सशपथ यह कहता है कि उसका आशय तीन बार तलाक देने का नहीं था, तब ऐसी स्थिति में उसके द्वारा की गई घोषणा केवल एक तलाक का ही प्रभाव रखेगी और वह इद्दत अवधि के दौरान प्रतिसंहरणीय होगी और यदि इस प्रकार प्रतिसंहरण नहीं किया जाता है तब पत्नी की सम्मति से नए सिरे से निकाह कराए जाने की गुंजाइश बनी रहती है") । संभवतः, ऐसा मत अल उमरु

(iv) **निष्कर्ष** – उपर्युक्त अभिलिखित मत के आधार पर उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है :–

"26. विधि की सभी शाखाओं द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि 'तलाक-ए-बिद्दत' पाप है[1] । फिर भी कुछ शाखाओं ने इसे वैध बताया है । भारत में न्यायालयों ने भी इसे वैध अभिनिर्धारित किया है । प्रायः इस संदर्भ में **धर्मशास्त्र की दृष्टि से गलत किंतु विधि की दृष्टि वैध** अभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाता है । वास्तविकता यह है कि इसे पाप समझा गया है । 'तलाक-ए-बिद्दत' का खंडन पैगम्बर मोहम्मद द्वारा भी किया गया है[2] । किसी भी शाखा द्वारा इसकी सिफारिश या अनुमोदन निश्चित रूप से नही किया गया है । शिया शाखा

बिमकासिदिहा अर्थात कृत्य को आशय के आधार पर ही समझा जा सकता है के निम्न विधिक सिद्धांत पर आधारित है ।

शेख सैय्यद साबिक ने फिकाह अस-सुन्नाह नामक पुस्तक में तीन-तलाक के विषय पर यह व्यक्त किया है कि यद्यपि बहुमत की यह राय है कि तीन तलाक एक तलाक मानी जाएगी, तथापि, इब्ने तेमिय्या और इब्ने अलकय्यूम तथा उनके साथी अता, तवूस, इब्ने दीनार, अली इब्ने अबू तालिब, इब्ने मसूद, अब्दुल रहमान इब्ने आफ, अज-जुबैर का यह मत था कि उपर्युक्त तीन तलाक केवल एक तलाक है । इसके पश्चात् विद्वान् साबिक ने यह कहा, "यह विश्वास किया जाता है कि बाद में दिया गया मत सबसे सही है ।" कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि यह इजमा किया गया है कि तीन-तलाक, गिनती में एक ही तलाक है । तथापि, इजमा की अपेक्षाओं के अनुसार (हनफी विचारधारा के अनुरूप) "इजमा करने के पूर्व किसी भी साथी या मुजतहिद द्वारा प्रश्न किए जाने पर कोई भी प्रतिकूल राय नहीं दी जानी चाहिए और इस विनिश्चय में भाग लेने वाला कोई भी मुजतहिद बाद में अपनी राय नहीं बदल सकता ।" अब्दुल रहीम, पृष्ठ 145 । यहां निश्चित रूप से पहली शर्त पूरी नहीं की गई है और दूसरी शर्त भी पूरी न किए जाने का तर्क दिया गया है । अन्तिमतः, अलजीरिया, मिस्त्र, जार्डन, मोरक्को, सूडान, सीरिया और यमन जैसे बहुत से मुस्लिम देशों ने जो विधि कार्यान्वित की है उसमें इस धारणा को कायम रखा गया है कि तीन-तलाक केवल गिनती में एक ही तलाक है । विद्वान् ताहिर महमूद द्वारा लिखित पर्सनल ला इन इस्लामिक कंट्रीज, अकेडमी आफ ला एण्ड रिलीजन, नई दिल्ली (1987) देखें ।

[1] हनफी मदहब की इस राय के संबंध में उपर्युक्त फुटनोट 25 और 26 देखें कि तीन-तलाक देना पाप है ।

[2] उस समय की बात है जब एक बार पैगम्बर मोहम्मद को किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में बताया गया था जिसने एक ही समय पर एक साथ तीन-तलाक दी थी । वह क्रोध से खड़े हो गए और कहने लगे, जब मैं तुम्हारे साथ हूं, तब तुम लोगों ने अल्लाह की किताब को खेल क्यों बना रखा है ? अन-नसाई द्वारा रिवायत किया गया ।

द्वारा भी इसे वैध तलाक नहीं माना गया है । सुन्नी शाखा के अधीन यह मत है कि तीन तलाक जो एक बार में दिया जाता है, गिनती में तीन के बजाय केवल एक ही माना जाएगा । इस तथ्य का न्यायिक अवेक्षा की जा सकती है कि तीन तलाक की कठोरता से तलाक दिया गया महिला को अत्यंत पीड़ा होती है और इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति के सामने भी इस गलती को सुधारने या सुलह करने का कोई रास्ता नहीं होता । यह एक ऐसा नया कार्य है जिसका प्रयोग केवल इतिहास में एक विशेष समय पर किया गया है[1] किन्तु यदि इसका प्रयोग बंद कर दिया जाए तब उससे इस्लाम या कुरान के किसी भी मूलभूत सिद्धांत या पैगम्बर मोहम्मद के किसी भी प्राधिकार का अतिक्रमण नहीं होगा ।

27. इस पृष्ठभूमि को दृष्टिगत करते हुए मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि (तलाक-ए-बिद्दत) सुन्नी मुसलमानों के लिए भी एक प्रतिसंहरणीय तलाक है । इस तलाक के अन्तर्गत पति को सोचने का पर्याप्त अवसर मिलेगा और वह इद्दत की अवधि के दौरान प्रतिसंहरण कर सकता है । इन सब बातों के दौरान पति और पत्नी के परिवार के सदस्य सुलह कराने का प्रयास कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त, यदि इद्दत की अवधि पूरी हो जाती है और तलाक का प्रतिसंहरण नहीं किया जा सकता है, तब भी उन दम्पत्तियों को नए सिरे से निकाह करके और नया मेहर सुनिश्चित करके विवाह बंधन में बंधने का अवसर प्राप्त होता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों का परिशीलन करने पर यह प्रकट होता है कि एक ही समय पर दिया गया तीन-तलाक, केवल एक तलाक है । अतः विवाह बंधन को अन्तिम रूप से समाप्त करने के लिए पति को विहित प्रक्रिया पूरी करनी होगी और उसके पश्चात् दोनों पक्षकारों को तलाकशुदा माना जाएगा ।

---

[1] हदीस की सटीक भाषा इस प्रकार है – अब्दुल्ला इब्ने अब्बास ने यह रिवायत की है कि अल्लाह के अवतार, खलीफा अबू बकर के जीवनकाल तथा खलीफा उमर के जीवनकाल के दो वर्षों के दौरान तीन-तलाक को एक तलाक माना जाता था । किंतु खलीफा उमर इब्ने अल खत्ताब ने यह कहा है, लोग इस मामले में अत्यधिक जल्दबाजी से काम लेते हैं जिसमें उन्हें विलंब से काम लेना चाहिए । इसलिए यदि हमने उन लोगों पर यह अधिरोपित कर दिया तो ऐसा करने से [वे लोग जल्दबाजी करने से रुक जाएंगे] और उन्होंने इसे उन लोगों पर अधिरोपित कर दिया । सही मुस्लिम का पृष्ठ 3491 देखें ।

34. **नजीर** बनाम **शमीमा**[1] वाले मामले में (न्यायमूर्ति ए. मोहम्मद मुश्ताक की एकल न्यायपीठ का निर्णय) इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

(i) **तथ्य** – उपर्युक्त निर्णय के माध्यम से उच्च न्यायालय ने तीन रिट याचिकाओं सहित जिनमें पतियों ने तीन-तलाक अर्थात् "तलाक-ए-बिद्दत" देकर अपनी पत्नियों के साथ विवाह-बंधन को समाप्त किया है, कई रिट याचिकाओं का निपटारा किया है । उनके वैवाहिक बंधन के समाप्त होने पर पति ने या पत्नी ने या दोनों ने (निर्णय में इस स्थिति को स्पष्ट नहीं किया गया है) पासपोर्ट प्राधिकरण के समक्ष आवेदन किया है कि उनके जीवनसाथी का नाम उनके पासपोर्टों से हटा दिया जाए । पासपोर्ट प्राधिकारियों ने ऐसे दम्पत्तियों की प्रार्थना को स्वीकार करने से इस आधार पर इनकार कर दिया कि इस प्रकार आवेदन करना पक्षकारों का निजी कार्य है और इस संबंध में केवल अनाधिप्रमाणित तलाकनामे प्रस्तुत किए गए थे । पासपोर्ट प्राधिकारियों द्वारा यह दलील दी गई कि विवाह-विच्छेद की औपचारिक डिक्री न होने की स्थिति में पति या पत्नी के नाम को निरस्त नहीं किया जा सकता । अन्तरिम निदेश देते हुए, उच्च न्यायालय ने पासपोर्ट प्राधिकारियों को पति-पत्नियों के ब्यौरों को उनकी इच्छानुसार सही करने का आदेश उनकी इस स्वीकृति के आधार पर किया कि वैवाहिक बंधन का विघटन हो चुका है ।

(ii) **चुनौती** – यद्यपि "तलाक-ए-बिद्दत" की अधिप्रमाणिकता और/या वैधता उच्च न्यायालय के लिए विचार का प्रश्न नहीं है, फिर भी उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है .... "यद्यपि तीन-तलाक से संबंधित मुद्दा इन रिट याचिकाओं में प्रत्यक्ष रूप से उद्भूत नहीं हुआ है जिसमें इस न्यायालय से तीन तलाक की विधिमान्यता विनिश्चित किए जाने की अपेक्षा की गई हो, तथापि, यह न्यायालय स्वीकृति के आधार पर अनुतोष मंजूर करते समय इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकता, कि इस न्यायालय द्वारा दिए गए निदेश से थोड़ा या बहुत अन्याय होगा यदि न्यायालय पति-पत्नी की इच्छा द्वारा विवाह के निराकरण के प्रभाव के प्रति असावधान रहता है .... ।" अतएव, उच्च न्यायालय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता की परीक्षा की गई ।

(iii) **विचार** – उच्च न्यायालय ने विख्यात विद्वान् लेखकों की पुस्तकों पर विचार किया है, उदाहरणार्थ, वेल बी. हलक द्वारा लिखित पुस्तक

---

[1] (2017) 1 के. एल. टी. 300.

"शरीया", मोहम्मद हाशिम कमाली द्वारा लिखित पुस्तक "शरीया ला, एन इंट्रोडक्शन", बशीर अहमद मोहीदीन द्वारा लिखित पुस्तक "कुरान : द लिविंग ट्रूथ", डा. ताहिर महमूद द्वारा लिखित पुस्तक "मुस्लिम ला इन इंडिया एण्ड अब्रोड", शेख यूसुफ अल करादवी द्वारा लिखित पुस्तक "द लाफुल एण्ड द प्रोहिबिटिड इन इस्लाम" और मौलाना वहीदुल खां द्वारा उर्दू भाषा में लिखित पुस्तक "हिकमत-उल-इस्लाम" । उच्च न्यायालय ने कुरान की आयतों (जिन्हें उपर्युक्त उद्धृत किया गया है) का भी परिशीलन किया है । उच्च न्यायालय ने गुवाहाटी उच्च न्यायालय के दो निर्णयों (जिन्हें उपर्युक्त निर्दिष्ट किया गया है) पर भी विचार किया है और इसके साथ उच्च न्यायालय के अन्य निर्णयों का परिशीलन करते हुए, निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

"12. इस मामले से केवल उन कटु वास्तविकताओं का पता चलता है जिनसे मुस्लिम समाज की महिलाएं जुझती रही हैं विशेषकर ऐसी महिलाएं जिनका संबंध निम्न वर्ग से होता है । न्यायालयों के लिए यह एक अनुस्मारक है कि जब तक राज्य द्वारा बनाए गए विधान के माध्यम से बड़े पैमाने पर पीड़ितों की पीड़ा कम नहीं की जाती है तब तक किसी को न्याय देना राज्य के लिए दूर की बात होगी और "विधि के समक्ष समता" के वचन के प्रतिकूल होगी । राज्य सांविधानिक रूप से विधि के प्रति गरिमा और समता के वचन को पूरा करने के लिए बाध्य है और वह धर्म के आधार पर मुस्लिम महिलाओं द्वारा भोगी जा रही व्याधि के प्रति मूक दर्शक बनकर अपनी इस बाध्यता से मुहं नहीं मोड़ सकता है और न्याय के लिए कठोरतापूर्वक जांच-पड़ताल ने आध्यात्मिक विधि की सभी प्रतिज्ञाओं को तोड़ दिया जिसकी आस्था रखने वालों और विश्वसनीय लोगों ने भी निन्दा की है । अतः, निर्णय का सार राज्य को सशक्त बनाता है और कानून उन परेशानियों को दूर करता है जो चार दशकों से अधिक समय से चली आ रही हैं और उसके पूर्व मोहम्मद हनीफा (उपर्युक्त) वाले मामले में, न्यायालय का अनुस्मारक प्रस्तुत किया गया था ।

13. राज्य सांविधानिक रूप से समाज में संगत आदेश बनाए रखने के लिए बाध्य है जिसकी बुनियाद परिवार द्वारा रखी जाती है । इस प्रकार, विवाह की विद्यमानता और पवित्रता से समाज में मजबूती आएगी जिसके बिना न कोई सभ्यता कायम रह सकती है और न उन्नति हो सकती है । इस निर्णय में विधि की घोषणा करके और

मामला विनिश्चित करके कुरान के दृष्टिकोण से तीन-तलाक से संबंधित उचित सिद्धांत अधिकथित करके मेरा यह प्रयास पूर्ण हो गया है । तथापि, मुझे इस संदर्भ में संदेह है कि यह अकेली समस्या नहीं है जो न्याय निर्णयन द्वारा मुकदमेबाजों के बीच विवाद के समाधान की मांग करने के लिए उद्‌भूत हुई है । अपितु भारत में तीन तलाक को विनियमित करने के लिए विधान के माध्यम से राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जाना अपेक्षित है । अतः, तलाक से संबंधित विधि का तय किया जाना आवश्यक है और इसके अतिरिक्त की गई चर्चाओं के आधार पर राज्य को इस देश में मुसलमानों से संबंधित तलाक विधि में संभव सुधार करने पर विचार करना चाहिए । इस मामले में, अनुकल्पिक शोध, राज्य द्वारा की गई ऐसी कार्रवाई को न्यायोचित ठहराता है । यह उल्लेखनीय है यदि भारत में मुसलमानों को वास्तव में इस्लामी विधि लागू की जाती, तब भारत में मुस्लिम महिलाओं को मनमाने तरीके से तलाक दिए जाने से छुटकारा मिल जाता जो कि कुरान के व्यादेश के प्रतिकूल है ।

* * * *

15. इससे मेरा ध्यान उस प्रश्न की ओर जाता है कि राज्य को सुधार करने में इतना संकोच क्यों है । लोक विचार-विमर्श से यह प्रतीत होता है कि उलेमाओं के एक छोटे से वर्ग की ओर से इस आधार पर प्रतिरोध किया जा रहा है कि शरीयत अपरिवर्तनीय है और इसमें कोई भी हस्तक्षेप किया जाना संविधान के अधीन गारंटीकृत धर्म की स्वतंत्रता को नकारने की कोटि में आएगा । मेरा यह निषकर्ष है कि उलेमाओं की यह दुविधा ईश्वरीय विधि और पंथ-निरपेक्ष विधि की प्रतिकूलता के अनुमान पर आधारित है । राज्य यह उपधारित करने में अनिच्छुक प्रतीत होता है कि धार्मिक प्रथा में सुधार करने से भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत धर्म की स्वतंत्रता का अतिक्रमण होगा । इससे मेरा ध्यान इस्लामी विधि के पहलुओं पर चर्चा करने की ओर जाता है । मेरा यह निष्कर्ष है कि सांविधानिक राज्यव्यवस्था के अधीन तीन-तलाक से संबंधित स्वीय विधि में सुधार करने के बारे में चर्चा करना समान रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी विधिकता के पारिणामिक महत्व को धार्मिक कार्यों की स्वतंत्रता के अधीन परखना चाहिए ।"

(iv) **निष्कर्ष** – उपर्युक्त विचार की पृष्ठभूमि में, उच्च न्यायालय ने

निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

"पति द्वारा 2003 की रिट याचिका (सिविल) सं. 37436 यह अभिकथन करते हुए फाइल की गई है कि उसके द्वारा दी गई तीन तलाक इस्लामी विधि के अनुसरण में विधिमान्य नहीं है । अतः, मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 की धारा 3 और पश्चात्वर्ती आदेश के अधीन मजिस्ट्रेट के समक्ष संस्थित कार्यवाहियां अपास्त करनी पड़ेंगी । इस मामले से तीन-तलाक का दुरुपयोग किया जाना प्रदर्शित होता है, यह प्रतीत होता है कि पत्नी ने तलाक स्वीकार की है और पति द्वारा की गई मूर्खता के आधार पर मजिस्ट्रेट के समक्ष आवेदन किया है । जैसा कि शोध में निर्दिष्ट आनुभाविक डाटा से प्रकट होता है, ऐसे बहुत से मामले हैं जिनमें कोई भी पक्षकार स्वीय विधि के अनुसार तलाक देने की प्रक्रिया से अवगत नहीं है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय से यह प्रत्याशा नहीं की जाती है कि वह तथ्य के विवादित प्रश्नों पर विचार करे । इस निर्णय में सम्पूर्ण बल राज्य को इस संबंध में सचेत करने पर दिया गया है कि कहीं न्याय को लेकर मुस्लिम स्त्री के साथ छल तो नहीं हो रहा है और यह कि इसका उपचार तलाक की विधि को संहिताबद्ध से है । यह न्यायालय रिट याची को कोई भी अनुतोष प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि दिए गए तथ्यों के आधार पर विधि को ठीक प्रकार से लागू किए जाने पर विचार उस न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए जो उस मामले का विचारण कर रहा है । अधीनस्थ न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे यह सुनिश्चित करें कि तीन तलाक द्वारा विवाह-विच्छेद के मामले में इस्लामी विधि को लागू किया गया है या नहीं । अतः, अधिकारितः रिट याचिका खारिज की जाती है ।

2015 की रिट (सिविल) याचिका सं. 25318 और 26373 और 2016 की 11438.

इन रिट याचिकाओं में तीन तलाक की विधिमान्यता का प्रश्न नहीं उठया गया है । तथापि, इस प्रश्न पर इस कारण से व्यापक रूप से विचार किया गया है कि यदि पक्षकारों की स्वीकृति के आधार पर तीन तलाक द्वारा विवाह का निराकरण करने के लिए न्यायालय कोई भी अनुतोष प्रदान करता है, तब वह विधि के अनुसार न दी गई तीन तलाक को मान्यता देने की कोटि में आएगा, क्योंकि इस न्यायालय

के पास ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिससे यह पता लगाया जा सके कि तलाक किस प्रकार दी गई है । न्यायालय, पासपोर्ट अधिकारियों को तलाक स्वीकार करने के लिए दिए गए निदेशों की आड़ में निष्प्रभावी तलाक के अनुमोदन के लिए चल रही कार्यवाही में पक्षकार नहीं बन सकता है । ऐसी तलाक के विधिक प्रभाव की जांच तथ्य संबंधी निष्कर्ष निकालने वाले प्राधिकारी द्वारा सही इस्लामी विधि के अनुसार की जानी चाहिए । ऐसी तलाक स्वीकार करने के लिए जो विधि के अनुसरण में नहीं दी गई है, पासपोर्ट प्राधिकारी को आदेश करते हुए न्यायालय द्वारा किए गए अनुमोदन की मुहर से यह भाव उत्पन्न होगा कि न्यायालय ने एक ऐसे कार्य को करने के लिए लोक प्राधिकारी को निदेश देने में सीमा से परे कार्य किया है, जो विधि के अनुसरण में नहीं किया गया था । यद्यपि, इन रिट याचिकाओं में अत्यावश्यकता पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने याचियों की प्रार्थना पर कार्यवाही करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को निदेश देते हुए अन्तरिम आदेश मंजूर किया । अनेक रिट याचिकाओं में इस न्यायालय के समक्ष एक ही जैसे अनुतोषों की बड़ी संख्या को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय का यह मत है कि यह मुद्दा, उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में, विधि को संहिताबद्ध करने वाले बृहत्तर उपचार के माध्यम से ही तय किया जा सकता है । अन्तरिम आदेश के प्रकाश में, इन रिट याचिकाओं को निपटाया जा रहा है ।

निष्कर्ष :

न्यायालय विधि का निर्वचन करते हैं और विधि के ऐसे निर्वचन में न्याय अंतर्निहित होता है । विधि का निर्माण विधान-मण्डल के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है । भारत में मुस्लिम स्त्री के लिए न्याय उनके धर्म पर चलने के कारण छल नहीं बना है, अपितु विधिक औपचारिकतावाद के पूरा न होने के कारण ऐसा हुआ है जिसके परिणामस्वरूप विधि से उन्मुक्ति मिल जाती है । विधि का अनुपालन न्याय के साथ किया जाना चाहिए । इस समस्या का समाधान विधि-निर्माताओं के हाथ में है । विधि का निर्माण करने वालों का कर्तव्य यह है कि वे तलाक से संबंधित विधि और सामाजिक घटनाओं को संस्थागत रूप में न्याय देने के लिए विधान की प्रक्रिया के माध्यम से सह-संबद्ध करें । यह आज्ञापक है कि न्याय करने के लिए विधि का निर्माण, भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत धर्म की स्वतंत्रता को किसी भी प्रकार से प्रभावित किए बिना किया जाना चाहिए । राज्य

का यह कर्तव्य है कि वह मामले में कार्यवाही करने के लिए संहिताबद्ध विधि के निर्माण पर विचार करे । अतः, उन लोगों का ध्यान पवित्र कुरान की निम्न आयतों (47: 2) की ओर आकर्षित करते हुए, मैं अपनी बात पूरी करता हूं जो भारत में मुस्लिम समुदाय की तलाक-विधि में किसी भी प्रकार का सुधार किए जाने का प्रतिरोध करते हैं –

'रहे वे लोग जो ईमान लाए और उन्होंने अच्छे कर्म किए और उस चीज पर ईमान लाए जो हजरत मोहम्मद पर अवतरित किया गया और उनके रब की ओर से वही सत्य है, उसने उसकी बुराइयां दूर कर दी और उनका हाल ठीक कर दिया ।'

'इस प्रकार हम उन लोगों के लिए आयतें खोल-खोलकर प्रस्तुत करते हैं जो बुद्धि से काम लेते हैं ।'

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

अध्याय 30 : 28

रजिस्ट्री विभाग इस निर्णय की प्रति भारत के विधि मंत्रालय और भारत के विधि आयोग को अग्रेषित करेगा ।"

उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष का परिशीलन करने पर यह प्रकट होता है कि न्यायालय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा की आलोचना की गई है । तथापि, न्यायालय ने इस मुद्दे से संबंधित विधि का संहिताबद्ध करने के लिए विधान-मण्डल को निदेश दिया है जिससे संस्थापक रूप में न्याय होगा ।

भाग 7

याचियों और मध्यक्षेपियों की दलीलें

35. याची की ओर से, स्वयं याची के अतिरिक्त ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री अमित सिंह चड्ढा द्वारा भी दलीलें दी गई हैं । विद्वान् अधिवक्ता ने न्यायालय का ध्यान मुस्लिम "स्वीय विधि" (अधिक जानकारी के लिए भाग-4 अर्थात् मुस्लिम "स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत का विधान देखें) की ओर ध्यान दिलाया है । यह दलील दी गई है कि भारत के संविधान के भाग III में अन्तर्विष्ट मूल अधिकार न्यायोचित हैं । अतः, यह भी दलील दी गई है कि इस न्यायालय के समक्ष याची का हेतुक ऐसे अधिकार से संबंधित है जिसे न्यायोचित माना गया है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार,

2017(8) eILR(PAT) SC 110

"तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा द्वारा पुरुष को अस्पष्ट अनुज्ञात किया गया है कि वह वैवाहिक बंधन समाप्त कर सके । यह दलील दी गई है कि पत्नी को तीन तलाक द्वारा तलाक देने के अधिकार का प्रयोग किसी कारण को प्रकट किए बिना किया जा सकता है और वास्तव में बिना कारण ही किया जाता है । यह दलील दी गई है कि पत्नियों को इस मामले में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है क्योंकि "तलाक-ए-बिद्दत" की उद्घोषणा पत्नी की अनुपस्थिति में और उसकी जानकारी के बिना की जा सकती है । यह दलील दी गई है कि तीन तलाक द्वारा किया गया विवाह-विच्छेद अन्तिम होता है और दोनों पक्षकारों पर बाध्यकारी होता है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, इन बातों से पति को मनमाना अधिकार निहित किया गया है और इस प्रकार, ऐसा करने से संविधान के अनुच्छेद 14 में समाविष्ट समता खण्ड का अतिक्रमण होता है । यह दलील दी गई है कि संविधान के अधीन उपर्युक्त अनुच्छेद के माध्यम से विधि के समक्ष समता और विधि के अधीन समान संरक्षा परिकल्पित होती है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, इस अधिकार से, पति द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से तलाक देने के कारण पत्नियों को स्पष्ट रूप से वंचित रखा गया है । इसके अतिरिक्त, यह दलील दी गई है कि संविधान के अनुच्छेद 15 के अधीन स्पष्ट रूप से लिंग के आधार पर विभेद किए जाने पर रोक लगाई है । यह भी दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" से उपर्युक्त कथित उस मूल अधिकार का अतिक्रमण होता है जो पुरुष और स्त्री के बीच समता का आधारतत्व है । विद्वान् काउंसेल ने **केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य**[1] और **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामलों में, इस न्यायालय के विनिश्चयों का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह किसी भी व्यक्ति के मूल अधिकार के अतिक्रमण के मामले में हस्तक्षेप करे और उसमें न्याय करे । यह भी दलील दी गई है कि मुसलमानों में वैवाहिक बंधन से संबंधित स्त्री के अधिकार लैंगिक विभेद से बुरी तरह प्रभावित हो रहे हैं जो संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन मानव अधिकारों के अतिक्रमण की कोटि में आता है । तद्नुसार, विद्वान् काउंसेल ने मुस्लिम पत्नियों के प्रति घोर अन्याय के संबंध में हस्तक्षेप करने की ईप्सा की है ।

36. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री अमित सिंह चड्ढा ने **जियाउद्दीन**

---

[1] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = (1973) 4 एस. सी. सी. 225.

[2] (1980) 3 एस. सी. सी. 625.

अहमद (उपर्युक्त) और **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामलों का अवलंब लिया है (अधिक जानकारी के लिए भाग 6 अर्थात् "तलाक-ए-बिद्दत" पर न्यायिक उद्घोषणा देखें) । उपर्युक्त निर्णयों के आधार पर यह दलील दी गई है कि इस देश के न्यायालयों ने तीन तलाक की प्रथा का समर्थन उस रीति में नहीं पाया है जैसा भारत में प्रचलित है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" को इस्लाम की घोषणा, आचरण और प्रसार नहीं समझना चाहिए । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" इस्लाम धर्म मानने के लिए अति पवित्र नहीं है । तद्नुसार, यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय को हस्तक्षेप करने और न्याय देने का अकाट्य अधिकार प्राप्त है । सांविधानिक नैतिकता के आधार पर अपने दावे, जिसमें आवेदकों ने न केवल लिंग की समता पर प्रश्न उठाया है अपितु गरिमा के साथ वैवाहिक जीवन बिताने पर भी बल दिया है और इस संबंध में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने **मनोज नरुला** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले का अवलंब लिया है, जिसमें इस न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया है :-

> "भारत का संविधान एक सजीव लिखत है जिसमें अपरिमित गतिवाद की सक्षमताएं हैं । यह संविधान प्रगतिशील समाज के लिए बनाया गया है । ऐसे संविधान का कार्यकरण विद्यमान वातावरण और शर्तों पर निर्भर करता है । डा. अम्बेडकर ने पूरे विचार-विमर्श के दौरान यह महसूस किया कि संविधान, सांविधानिक नैतिकता के आधार पर ही कार्य और उन्नति कर सकता है । इसी पर बात करते हुए उन्होंने कहा –
>
> 'सांविधानिक नैतिकता नैसर्गिक भावना नहीं है । यह पैदा की जाती है । हमें यह सोचना चाहिए कि अभी हमारे लोगों को इसे सीखना है । भारत में लोकतंत्र मात्र दिखावा है जिसे लोकतंत्र कहा ही नहीं जा सकता ।'
>
> **[संविधान सभा विचार-विमर्श, 1948, जिल्द VII, 38]**
>
> सांविधानिक नैतिकता के सिद्धांत का मूल अर्थ संविधान के मानकों के प्रति समर्पण करना है और ऐसा कोई कार्य नहीं करना है जिससे विधि के नियम का अतिक्रमण होता हो या मनमाना कार्य प्रतिबिंबित होता हो । लोकतांत्रिक गरिमा वहां बनी रहती है और

[1] (2014) 9 एस. सी. सी. 1.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

सफल होती है जहां सभी सामान्य लोग और संस्थाओं के भारसाधक सांविधानिक मानदण्डों का पालन किसी विचलन के बिना करते हैं और संस्थात्मक विश्वसनीयता और आवश्यक सांविधानिक अवरोध कायम रखना प्राथमिक चिन्ता के रूप में प्रतिबिंबित हो । संविधान के प्रति प्रतिबद्धता सांविधानिक नैतिकता का एक पहलू है ...।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

वर्तमान निवेदन की निरंतरता में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह भी दलील दी कि संविधान के अनुच्छेद 25, 26 और 29 सांविधानिक नैतिकता के स्पष्ट भंग को ठीक करने के लिए इस न्यायालय की अधिकारिता का किसी भी प्रकार से ह्रास नहीं करते हैं । इस संबंध में न्यायालय का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया गया है कि स्वयं अनुच्छेद 25 के अधीन यह उपबंधित है कि उसके अधीन अनुध्यात स्वतंत्रताएं, संविधान के भाग-III - मूल अधिकार में समाविष्ट सिद्धांतों के अध्यधीन होगी । यह दलील दी गई कि इस प्राख्थिति की पुष्टि **वल्लामटट्म** बनाम **भारत संघ**[1], **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य**[2] और **खुर्शीद अहमद खां** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[3] वाले मामलों में दिए गए इस न्यायालय के निर्णयों से होती है ।

37. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर भी दिलाया है कि बहुत से देशों ने सुव्यक्त विधानों द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को समाप्त कर दिया है । यह दलील दी गई है कि यदि तलाक एक साथ तीन बार बोलकर दिया जाता है, तब उसे विधान द्वारा अनेक देशों में, जिनके अंतर्गत वे देश भी हैं जिन्होंने इस्लाम को शासकीय धर्म घोषित किया है, एक ही तलाक माना गया है । तद्नुसार, यह दलील दी गई है कि यदि "तलाक-ए-बिद्दत" धर्म का कोई आवश्यक संघटक होता अर्थात् यदि उससे ऐसा कोई महत्वपूर्ण विश्वास गठित किया होता जिस पर इस्लाम धर्म आधारित है, तो इसमें ऐसे विधायी मध्यक्षेप द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता था । तद्नुसार, यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय को किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई उस समस्या को दूर करने में नहीं होनी चाहिए जिसके लिए याचियों ने इस न्यायालय के समक्ष आवेदन किया है क्योंकि इससे संविधान में समाविष्ट मूल अधिकारों का अतिक्रमण ही नहीं होता है, अपितु इससे उद्भूत सांविधानिक नैतिकता के सिद्धांतों

---

[1] (2003) 6 एस. सी. सी. 611.

[2] [2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369.

[3] (2015) 8 एस. सी. सी. 439.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

का अतिलंघन भी होता है ।

38. अंत में, यह दलील दी गई है कि किसी ने भी इस न्यायालय के समक्ष यह पक्षकथन नहीं किया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" कुरान से अनुमोदित है । यह दलील दी गई है कि तीन तलाक का अनुमोदन इस्लाम की बहुत-सी विचारधाराओं द्वारा नहीं किया गया है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, इस मुद्दे से संबंधित सभी विद्वानों ने "तलाक-ए-बिद्दत" का अनियमित, पितृ-शासित और पापमय माना है । यह दलील दी गई है कि इसे इस्लाम धर्म की सभी विचारधाराओं यहां तक कि सुन्नी मुसलमानों ने भी स्वीकार किया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" "धर्मशास्त्र की दृष्टि से गलत है किन्तु विधि की दृष्टि से ठीक है" । इसके अतिरिक्त, यह भी दलील दी गई है कि भारत संघ ने भी इस न्यायालय के समक्ष उपर्युक्त कथित प्रास्थिति की पुष्टि की है । ऐसी स्थिति में, यह प्रार्थना की गई कि इस न्यायालय ने सांविधानिक न्यायालय की हैसियत से संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन अपनी सांविधानिक जिम्मेदारी का निर्वहन अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अधीन संरक्षक, प्रवर्तक और अभिभावक के रूप में किया है । यह दलील दी गई कि उपर्युक्त सांविधानिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करने में इस न्यायालय को "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को संविधान के उपबंधों द्वारा अनुध्यात मूल अधिकारों और सांविधानिक नैतिकता का अतिक्रमण मानते हुए, समाप्त करना चाहिए । यह भी दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की यह प्रथा ठीक उसी प्रकार समाप्त की जानी चाहिए जिस प्रकार सती, देवदासी और बहु-पत्नीत्व को समाप्त किया गया था जिसका सीधा संबंध हिन्दू धर्म और आस्था से था । विद्वान् काउंसेल ने अंत में एच. एम. सीरवई द्वारा लिखित और एन. एम. त्रिपाठी प्राइवेट लिमिटेड, बाम्बे द्वारा प्रकाशित पुस्तक के चौथे संस्करण की जिल्द-2 से उद्भूत किया जिसके पृष्ठ 1281 पर खण्ड 12.60 में लेखक ने निम्न मत व्यक्त किया है :—

> "12.60 मैं इस बात से अवगत हूं कि ऐसी विधि का प्रवर्तन, जिनका अतिलंघन किया जाता है, सरकार की जिम्मेदारी है और हाल ही में आए बहुत से मामलों में इस जिम्मेदारी का निर्वहन नहीं किया गया है । अंतिम उदाहरण में भी धार्मिक मुखियाओं के मनमाने कार्यों से धर्म की स्वतंत्रता का घोर अतिक्रमण हुआ है जिस पर हमारे उच्चतम न्यायालय द्वारा दृढ़ता से विचार किया जाना चाहिए । हमारे संविधान के लागू होने के पूर्व इस जिम्मेदारी का निर्वहन हमारे उच्च

न्यायालयों और प्रिवी कौंसिल द्वारा दृढ़तापूर्वक किया गया है । हमारे देश के प्रति इससे बड़ी कार सेवा नहीं हो सकती जितना उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय अपने कर्तव्य का निर्वहन दृढ़तापूर्वक, लोकप्रिय मांग की अवहेलना करते हुए और व्यक्तिगत पूर्वानुराग को अनदेखा करते हुए करे । मैं वर्तमान राजनैतिक और न्यायिक वातावरण से अनभिज्ञ नहीं हूं किन्तु मैं एक महान व्यक्ति के शब्दों **'कभी हताश नहीं होना चाहिए'**, के साथ अपनी बात पूरी करता हूं कि जब बुराई अत्यधिक बढ़ जाती है तब उसका अन्त भी निकट आ जाता है ।"

39. विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री आनन्द ग्रोवर जकिया सोमन अर्थात् प्रत्यर्थी-10 की ओर से हाजिर हुए । प्रत्यर्थी-10 को तारीख 29 जून, 2016 को उसके द्वारा फाइल किए गए अन्तर्वर्ती आवेदन के आधार पर प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाया गया । विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता ने जिसमें सबसे पहले हमारा ध्यान मुसलमानों में दी जाने वाली अनेक प्रकार की तलाकों की ओर दिलाया है (अधिक जानकारी के लिए **द प्रैक्टिस्ड मोड्स आफ तलाक अमंग्स्ट मुस्लिम्स, भाग-2** देखें) । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" का अनुमोदन कुरान और "हदीस" द्वारा किया गया है । यह भी दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन न तो कुरान द्वारा किया गया है और न ही "हदीस" द्वारा । "तलाक-ए-बिद्दत" के संबंध में यह प्राख्यान किया गया है कि यह तलाक कुरान के सिद्धांतों के प्रतिकूल है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा इस्लाम के आगमन के पश्चात् दूसरी शताब्दी से प्रारंभ हुई है । यह प्राख्यान किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन कुछ ही सुन्नी विचारधाराओं द्वारा किया गया है जिनमें हनफी विचारधारा भी सम्मिलित है । इस संबंध में हमारे ध्यान में यह बात भी लाई गई कि भारत में जो सुन्नी मुसलमान रहते हैं उनका संबंध अधिकांशतः हनफी विचारधारा से है । यह दलील दी गई है कि हनफी विचारधारा के अन्तर्गत भी "तलाक-ए-बिद्दत" एक पापमय तलाक है किन्तु इसे इस आधार पर न्यायोचित ठहराने की ईप्सा की गई है कि यद्यपि धर्मशास्त्र की दृष्टि से यह गलत है किन्तु विधि की दृष्टि से ठीक है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार भारत में, "तलाक-ए-बिद्दत" को इस आधार पर विधिमान्यता दी गई है कि स्वतंत्रता के पूर्व ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा इसे स्वीकृति दी गई थी । यह भी दलील दी गई है कि ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा

दिए गए निर्णय अन्तिम रूप से प्रिवी कौंसिल के अनुसार **राशीद अहमद**[1] वाले मामले में प्राधिकृत रूप से स्पष्ट किए गए थे । यह भी दलील दी गई है कि इसके पश्चात् भारत में "तलाक-ए-बिद्दत" का प्रयोग निरन्तर रूप से किया गया है ।

40. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की ओर से पहली दलील यह दी गई कि संविधान के अंगीकरण के पश्चात् भारत में अनेक उच्च न्यायालयों ने "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता पर विचार किया जिसका प्रयोग अपनी पत्नियों को तलाक देने में मुसलमान पुरुषों द्वारा किया जा रहा था । सभी उच्च न्यायालयों ने (जिन्होंने इस मुद्दे पर विचार किया था) एकमत होकर यह निष्कर्ष निकाला कि "तलाक-ए-बिद्दत" का समर्थन कुरान या "हदीस" से नहीं होता है । इस संबंध में, न्यायालय का ध्यान **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय की एकल न्यायपीठ और **रकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के निर्णयों सहित उच्च न्यायालयों के अनेक निर्णयों की ओर दिलाया है । **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय की एकल न्यायपीठ और **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में, केरल उच्च न्यायालय की एकल न्यायपीठ (अधिक जानकारी के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय से संबंधित भाग 6 - न्यायिक उद्घोषणा देखें) वाले निर्णयों को निर्दिष्ट किया गया । यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालयों की राय और उनके निष्कर्ष पूर्णतः न्यायोचित थे । यह भी दलील दी गई है कि ऊपर कथित निर्णयों के बावजूद, मुस्लिम पति अपनी पत्नियों को "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से तलाक देते रहे, अतः इस विषय पर एक प्रमाणिक निर्णय इस न्यायालय की ओर से दिया जाना अपेक्षित था । अवलंब लिए गए विनिश्चयों के आधार पर यह दलील दी गई कि मुस्लिम पति तलाक देने के लिए मनमानी या एकपक्षीय शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करना इस्लाम के रीति-रिवाज के अनुसार नहीं है । यह भी दलील दी गई है कि तलाक देने की उद्घोषणा प्रतिपादित युक्तियुक्त कारण के आधार पर होनी चाहिए और उसके पूर्व दोनों पक्षों की ओर से एक-एक मध्यस्थ द्वारा सुलह कराए जाने का प्रयास होना चाहिए । उपर्युक्त स्थिति को पुष्ट करने के लिए विद्वान् काउंसेल ने **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले का अवलंब यह प्राख्यान करने के

---

[1] ए. आई. आर. 1932 प्रिवी कौंसिल 25 = (1931) एस. सी. सी. 78 (प्रिवी कौंसिल).

[2] (2002) 7 एस. सी. सी. 518.

लिए लिया कि इस न्यायालय ने ऊपर निर्दिष्ट निर्णयों का अनुमोदन किया है । तद्नुसार, यह प्राख्यान किया गया कि इस न्यायालय ने पहले ही कुरान की सुरा IV की आयत 128 से 130 और सुरा II की आयत 229 से 232 तथा सुरा IV की आयत 35 का अनुमोदन किया है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार इन आयतों के अधीन तलाक के विषय को लेकर अत्यंत युक्तियुक्त स्थिति स्पष्ट की गई है (अधिक जानकारी के लिए तलाक से संबंधित पवित्र कुरान का भाग 3 देखें) । विद्वान् काउंसेल ने **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का दृढ़तापूर्वक अवलंब लिया है और साथ ही **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के निर्णय का भी अवलंब अपनी इस दलील को साबित करने के लिए लिया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" पूर्णतया अन्यायोचित है और इसे मुस्लिम समाज में तलाक का विधिमान्य तरीका नहीं माना जा सकता । विद्वान् काउंसेल द्वारा एक प्रबल दलील यह दी गई है कि आवेदकों की ओर से जो विधिक स्थिति दर्शाई गई है वह स्पष्ट रूप से ऊपर निर्दिष्ट निर्णयों से उद्भूत हुई है और इसे इस न्यायालय द्वारा अंगीकार किए जाने और उद्घोषणा किए जाने के लिए आधार माना जाना चाहिए । अतः, यह प्रार्थना की गई है कि यह घोषणा की जानी चाहिए कि तीन-तलाक, जिसका भारत में प्रचलन है, विधि की दृष्टि से कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

41. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह भी दलील दी गई है कि भारत सहित सभी सामान्य विधि अधिकारिताओं में लागू होने वाला सुस्थापित सिद्धांत यह है कि न्यायालय सांविधानिक विधि और प्रक्रिया का परीक्षण ऐसी स्थिति में नहीं करते हैं जब पक्षकारों के बीच उद्भूत मुद्दा अन्य आधारों पर विनिश्चित किया जा सके । यह दलील दी गई है कि जब अनुतोष की ईप्सा की जाती है केवल तब वह विधि की सांविधानिकता पर विचार किए बिना मंजूर नहीं किया जा सकता और केवल ऐसी ही स्थिति में न्यायालय को सांविधानिक वैधता की अपेक्षा पर विचार करने की आवश्यकता होती है । विद्वान् काउंसेल ने हमारा ध्यान **बिहार राज्य** बनाम **राय बहादुर हरदूत राय मोदीलाल जूट मिल्स**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय की ओर दिलाया है जिसमें इस न्यायालय ने कतिपय उपबंधों की सांविधानिक वैधता को परखने से इनकार करते हुए निम्न अभिनिर्धारित किया है :–

---

[1] ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 378.

"7. अपीलार्थी श्री लाल नारायण सिन्हा की ओर से यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में गलती की है कि धारा 14क के परन्तुक से संविधान के अनुच्छेद 20(1) और अनुच्छेद 31(2) का अतिक्रमण होता है । उन्होंने अपने पक्षकथन के समर्थन में हमें विस्तार से संबोधित करते हुए यह दलील दी है कि दोनों में से किसी भी अनुच्छेद से आक्षेपित परन्तुक का अतिक्रमण नहीं होता है । इसके प्रतिकूल, विद्वान् महासालिसीटर ने उक्त दोनों सांविधानिक मुद्दों पर उच्च न्यायालय के निष्कर्षों का समर्थन किए जाने की ईप्सा की है, और उन्होनें हमारे समक्ष प्राथमिक रूप से अपनी दलील में यह कहा है कि इस परन्तुक की निष्पक्ष और युक्तियुक्त संरचना के आधार पर, यह परन्तुक प्रथम प्रत्यर्थी के मामले को लागू नहीं हो सकता । अतः, हम सबसे पहले इस प्राथमिक मुद्दे पर विचार करेंगे । ऐसे मामलों में जिनमें कानूनी उपबंधों के आधारतत्व को सांविधानिक आधारों पर चुनौती दी जाती है, वहां यह आवश्यक हो जाता है कि सारभूत तथ्यों को सबसे पहले इस दृष्टि से स्पष्ट और सुनिश्चित किया जाना चाहिए ताकि यह पता लगाया जा सके कि क्या आक्षेपित कानूनी उपबंध लागू होते हैं या नहीं, यदि वे लागू होते हैं, तब उनकी सांविधानिक वैधता को दी जाने वाली चुनौती पर विचार किया जाना चाहिए और विनिश्चित किया जाना चाहिए । तथापि, यदि स्वीकार या साबित किए गए तथ्य आक्षेपित उपबंधों को लागू नहीं होते हैं, तब उक्त उपबंधों के आधारतत्वों से संबंधित मुद्दे को विनिश्चित नहीं करना चाहिए । उक्त प्रश्न से संबंधित कोई भी विनिश्चय ऐसे मामले में पूर्णतया शैक्षणिक होगा । न्यायालयों को मात्र शैक्षणिक महत्व के मामलों के रूप में सांविधानिक मुद्दों को विनिश्चित करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए ।

* * * *

19. इस निष्कर्ष को दृष्टिगत करते हुए इस आधार पर परन्तुक की विधिमान्यता के प्रति प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा किए गए आक्षेपों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि इससे संविधान के अनुच्छेद 20(1) और 31(2) का अतिलंघन होता है ... ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

"स्वीय विधि" के संबंध में यह दलील दी गई है कि **शबनम हाशमी** बनाम

2017(8) eILR(PAT) SC 110

भारत संघ[1] वाले मामले में न्यायालय ने हाल ही में "स्वीय विधि" की सांविधानिक वेधता पर विचार करने से इनकार किया है क्योंकि मुद्दा संबंधित कानून के निर्वचन के आधार पर सुगमतापूर्वक विनिश्चित किया जा सकता था । अतः यह दलील दी गई है कि पूर्णतया निर्वचनात्मक तरीके से इस न्यायालय को "तलाक-ए-बिद्दत" को उसी प्रकार अवैध, अप्रभावी और विधि की दृष्टि से बल न रखने वाली घोषित करना चाहिए जिस प्रकार गुवाहाटी उच्च न्यायालय और दिल्ली उच्च न्यायालय ने पूर्ववर्ती निर्णयों में ऐसा अभिनिर्धारित किया है । यह भी दलील दी गई है कि ऐसी ही घोषणा इस न्यायालय द्वारा, "स्वीय विधि" का निर्वचन करते हुए, की जानी चाहिए और "तलाक-ए-बिद्दत" में तलाक के अनुज्ञेय और स्वीकार्य तरीकों के संघटकों को शामिल किया जाना चाहिए ।

42. वर्तमान निर्धारण में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि "हदीसों" में की गई विरूपताओं की विद्यमानता पर विचार करना भी आवश्यक होगा । यह दलील दी गई है कि यह अब सुस्थापित हो गया है कि विभिन्न "हदीसों" की विश्वसनीयता और/या प्रमाणिकता की बहुत सी कोटियां हैं (इस संबंध में सर डिनशा फरदुन्जि मुल्ला, लेक्सिस नेक्सिस, बटरवर्थ्स वधवा, नागपुर द्वारा लिखित **प्रिंसिपल्स आफ मोहम्मडन ला** नामक पुस्तक का 20वां संस्करण देखें) । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि अखिल भारतीय मुस्लिम स्वीय बोर्ड (आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड) (जिसे इसमें इसके पश्चात् "मुस्लिम बोर्ड" कहा गया है) ने उन "हदीसों" का अवलंब लिया है जो पैगम्बर के समय के बहुत बाद लिखी गई हैं । यह भी दलील दी गई है कि वे "हदीसों" कम विश्वसनीय और प्रामाणिक हैं और साथ ही वे उन "हदीसों" की तुलना में विरूपित और अविश्वसनीय हैं जिन पर उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों में विचार किया गया है (विस्तार के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय से संबंधित भाग 6 - न्यायिक उद्घोषणाएं देखें) । यह दलील दी गई है कि मुस्लिम बोर्ड ने बाद में लिखी गई "हदीस" (अर्थात् सुनन बेहकी 7/547) का अवलंब लिया है । यह भी दलील दी गई है कि जब बुखारी की "हदीस" (दारुस्सलाम, सउदी अरब द्वारा प्रकाशित) की तुलना में वह "हदीस" स्पष्ट रूप से विरूपित प्रतीत होती है जिसका अवलंब मुस्लिम बोर्ड द्वारा लिया गया है । यह भी दलील दी गई है कि जिस "हदीस" का अवलंब मुस्लिम बोर्ड द्वारा लिया गया है, वह अल-बुखारी की "हदीस" में

[1] (2014) 4 एस. सी. सी. 1.

उपलब्ध नहीं है, और इस प्रकार ऐसी "हदीस" का अवलंब लेना अनुचित होगा । मुस्लिम बोर्ड की ओर से दी गई दलीलों के विरुद्ध यह प्रत्युत्तर दिया गया कि **सही मुस्लिम** "हदीस" के अन्तर्गत यह कहा गया है कि पैगम्बर, प्रथम खलीफा हजरत अबू-बकर और द्वितीय खलीफा हजरत उमर के समय के दौरान लगातार एक समय पर तीन बार दी गई तलाक को एक तलाक माना गया था । इस संबंध में **सही मुस्लिम** को अल-हफीज जकीउद्दीन अब्दुल अजीम अल मुंदहीरी द्वारा संकलन किया गया और दारुस्सलाम, सउदी अरब द्वारा प्रकाशित किया गया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने न्यायालय का ध्यान अल-हलाल वल हराम फिल इस्लाम द्वारा लिखित पुस्तक **द लाफुल एण्ड द प्रोहिबिटिड इन इस्लाम** (अगस्त, 2009 संस्करण) की ओर दिलाया है जिसका मूल स्रोत मिस्र देश है । यह दलील दी गई है कि मिस्र प्राथमिक रूप से एक सुन्नी हनफी राष्ट्र है । यह भी दलील दी गई है कि उपर्युक्त प्रकाशन के पाठ से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि तत्काल तलाक देने की प्रथा पापमय कही गई है और इसकी निन्दा की जानी चाहिए । मौलाना वहीदुद्दीन खां द्वारा लिखित पुस्तक **वुमन इन इस्लामिक शरिया** (गुडवर्ड बुक्स द्वारा प्रकाशित और वर्ष 2014 में पुनर्मुद्रित) नामक पुस्तक को भी निर्दिष्ट किया गया है जिसमें यह राय दी गई है कि एक अवसर पर दी गई तीन-तलाकों को विद्वान् इमाम अबू दाउद द्वारा लिखित फतह-उल-बारी की "हदीस" सं. 9/27 के निबंधनों में एक ही तलाक माना जाएगा । यह दलील दी गई है कि उपर्युक्त लेखक के मतों का अवलंब भी **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा लिया गया है । प्रो. (डा.) ए. रहमान द्वारा लिखित पुस्तक **"मैरिज एण्ड फैमिली लाइफ इन इस्लाम"** (आदम पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली) का वर्ष 2013 के प्रति भी निर्देश संस्करण किया गया है जिसमें हनफी मुस्लिम विद्वान् का अवलंब लेते हुए यह मत व्यक्त किया गया है कि तीन-तलाक कुरान की आयतों से मेल नहीं खाती है । आजमगढ़ के निवासी विद्वान् अल्लामा शिबली नौमानी, जिन्होंने 19वीं शताब्दी में शिबली कालेज की स्थापना की थी, द्वारा लिखित पुस्तक **इमाम अबू हनीफा** का भी अवलंब लिया गया है । यह भी दलील दी गई है कि स्वयं अबू हनीफा ने यह नियम जारी किया था कि एक ही समय पर तीन-तलाक नहीं दी जाएं और जो कोई ऐसा करेगा, वह पापी होगा । ऊपर कथित दलीलों के आधार पर, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल का झुकाव मुख्य रूप से इस बात पर है कि मुस्लिम बोर्ड द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा की विधिमान्यता को साबित करने कि लिए जो अभिवाक् किए गए हैं और

उनके द्वारा जो स्थिति अपनाई गई है उसमें कोई भी विश्वसनीयता नहीं है ।

43. उपर्युक्त निवेदनों के आधार पर यह प्रतिवाद किया गया है कि **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के संबंध में दिया गया निर्णय अपास्त किया जाना चाहिए । चूंकि "तलाक-ए-बिद्दत" का संबंध कुरान से नहीं हो सकता और चूंकि पैगम्बर साहब ने स्वयं इसकी निन्दा की है और चूंकि सुन्नी मुसलमानों की सभी विचारधाराओं के अनुसार इसे पापमय माना गया है और साथ ही शिया विचारधारा वाले सभी मुसलमानों द्वारा इसे अविधिमान्य कहा गया है, इसीलिए इसे मुस्लिम "स्वीय विधि" का भाग नहीं माना जा सकता । यह प्राख्यान किया गया है कि तीन-तलाक प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाती है और इसीलिए, मुस्लिम महिलाएं इस प्रथा के विरुद्ध आंदोलन कर रही हैं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि वर्तमान विवाद को निपटाने के लिए इस न्यायालय ने मत व्यक्त किया है कि मुस्लिम पति द्वारा अपनी पत्नी को तीन तलाक देना एक तलाक देने के समान माना जाएगा और कुरान के अनुसरण में "तलाक-ए-अहसन" या "तलाक-ए-हसन" की प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा ताकि मुस्लिम "स्वीय विधि" के निबंधनों में "तलाक" द्वारा विवाह का विघटन आबद्ध किया जा सके ।

44. ज्येष्ठ अधिवक्ता सुश्री इन्द्रा जयसिंह याचियों के मामलों को प्रस्तुत करने के लिए तीसरी काउंसेल हैं । सुश्री जयसिंह प्रत्यर्थी सं. 7 अर्थात् सेंटर फार स्टडी आफ सोसाइटी एण्ड सेक्यूलरिज्म की ओर से हाजिर हुई हैं और प्रत्यर्थी सं. 7 को तारीख 29 जून, 2016 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी के रूप में जोड़ा गया है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि "स्वीय विधि" शब्दों को संविधान में परिभाषित नहीं किया गया है यद्यपि सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 को निर्दिष्ट किया गया है । विद्वान् काउंसेल ने संविधान के अनुच्छेद 372 को निर्दिष्ट किया है जिसमें यह आदिष्ट है कि इस संविधान के प्रारंभ के ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में सभी प्रवृत्त विधि वहां तब तक प्रवृत्त बनी रहेगी जब किसी सक्षम विधान-मण्डल या सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित नहीं कर दिया जाता है । यह दलील दी गई है कि निजी मुद्दों से संबंधित मुसलमानों को मुस्लिम "स्वीय विधि" अर्थात् शरीयत लागू होती है । यह दलील दी गई है कि संविधान के प्रारंभ के पूर्व भी मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अन्तर्गत मुस्लिम

"स्वीय विधि" का प्रवर्तन किया गया और इस प्रकार मुस्लिम "स्वीय विधि" को संविधान के अनुच्छेद 13(3)(ख) के अर्थान्तर्गत प्रवृत्त विधि माना जाना चाहिए । यह दलील दी गई है कि वर्तमान परिस्थिति से विधिक स्थिति पृथक् हो जाती है और यह उस परिस्थिति से भी भिन्न हो जाती है जो आमतौर पर "स्वीय विधि" के अधीन आती है । इस बात पर भी बल दिया गया है कि सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 का परिशीलन करने पर इस संबंध में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि "स्वीय विधि" का संबंध आवश्यक रूप से विवाह और विवाह-विच्छेद, शिशु और अवयस्क, दत्तक ग्रहण, विल, निर्वसीयतता और उत्तराधिकार, अविभक्त कुटुंब तथा विभाजन आदि जैसे मुद्दों से होता है । यह दलील दी गई है कि "स्वीय विधि" को कुटुंब विधि अर्थात् कुटुंब से संबंधित मुद्दों की विधि के रूप में स्पष्ट किया गया है । यह दलील दी गई है कि आमतौर पर इस प्रकार के कुटुंब विधि विवादों का कुटुंब न्यायालयों द्वारा, जिनका गठन कुटुंब न्यायालय अधिनियम, 1984 के अधीन किया गया है, न्यायनिर्णयन किया जाता है । कुटुंब न्यायालयों के समक्ष विचार के लिए जो मामले प्रस्तुत किए जाते हैं वे विवाह से संबंधित विवाद अर्थात् दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन या न्यायिक पृथक्करण या विवाह के विघटन जैसे मामले होते हैं । उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर यह दलील दी गई है कि यह सुगमतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है कि "स्वीय विधि" कुटुंब विधि और विवाह, विवाह-विच्छेद, बच्चों की अभिरक्षा, विरासत आदि जैसे उत्तराधिकारों से संबंधित विधि के बारे में है ।

45. पूर्वगामी पैराओं में अभिलिखित निष्कर्षों के आधार पर यह दलील दी गई है कि वर्तमान संविवाद से संबंधित यह प्रश्न है कि क्या विनिश्चय के नियम (शरीयत अधिनियम की धारा 2 में प्रयोग किए गए शब्द) को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है या नहीं कि इससे संविधान के भाग III में दिए गए मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है ? विद्वान् काउंसेल की मुख्य दलील यह है कि विनिश्चय के किसी नियम से संविधान के भाग III का अतिक्रमण नहीं हो सकता है । यह स्वीकार किया गया है (निष्पक्ष रूप से) कि "स्वीय विधि", जिसका संबंध परिवार और परिवार के सदस्यों के बीच विवादों से होता है (जिनमें हस्तक्षेप करने का राज्य को कोई अधिकार नहीं है), में इस आधार पर परिवर्तन नहीं किया जा सकता कि इससे संविधान के भाग III में समाविष्ट मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है । यह भी दलील दी गई है कि जहां तक मुस्लिम "स्वीय विधि" का संबंध है इसे अब "स्वीय विधि" नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसे

कानूनी रूप से शरीयत अधिनियम की धारा 2 के अधीन विनिश्चय के नियम के रूप में घोषित किया गया है । अतः, यह प्राख्यान किया गया है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" से संबंधित सभी प्रश्नों को विनिश्चय नियम के आधार पर यह नहीं माना जा सकता है कि ऐसे प्रश्न पक्षकारों के बीच निजी विवाद हैं और न ही ऐसे प्रश्नों को मात्र "स्वीय विधि" से संबंधित मामलों के रूप में माना जा सकता है । अतः, यह दलील दी गई है कि तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला और मुबारात सहित विवाह-विघटन से संबंधित प्रश्नों को मुसलमानों की कानूनी किताब में सम्मिलित किए जाने के परिणामस्वरूप मामला पक्षकारों के बीच निजी मामला नहीं रह जाता है । इस प्रकार, ऐसे सभी प्रश्नों/मुद्दों जो उपर्युक्त उल्लिखित धारा 2 की परिधि के अधीन आते हैं, लोक विधि के मामले के रूप में विचार किया जाना चाहिए । अतः, विद्वान् ज्येष्ठ कांउसेल ने यह प्राख्यान किया है कि कोई भी व्यक्ति संविधान के उपबंधों का अतिक्रमण किए जाने के आधार पर "लोक विधि" को चुनौती देने की वैधता पर प्रतिवाद नहीं कर सकता । उपर्युक्त बुनियादी आधार के समर्थन में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने **चारू खुराना** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले का अवलंब लेते हुए, यह दलील दी कि "तलाक-ए-बिद्दत" अनुच्छेद 14 और 15 के अधीन उसी प्रकार मनमाना और पक्षपाती माना जाना चाहिए जिस प्रकार मेकअप करने वाली महिला कलाकारों और महिला हेयर ड्रेसरों को रजिस्टर्ड मेकअप आर्टिस्ट्स एण्ड हेयर ड्रेसर्स एसोसिएशन का सदस्य बनने से प्रतिषिद्ध करने वाले नियम को इस प्रकार घोषित किया गया था । यह दलील दी गई है कि लिंग के आधार पर विभेद करना लैंगिक न्याय के प्रतिकूल है और यह स्थिति स्पष्ट रूप से वर्तमान संविवाद को लागू होती है । जहां तक इस मामले के वर्तमान पहलू का संबंध है, विद्वान् काउंसेल ने उपर्युक्त निर्णय में अभिलिखित निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया है :–

> "46. इन उप-विधियों को व्यापार संघ के रजिस्ट्रार द्वारा कानूनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए प्रमाणित किया गया है । खण्ड 4 से, जैसा कि निर्दिष्ट होता है, अधिनियम की धारा 21 का अतिक्रमण होता है क्योंकि इस अधिनियम के अधीन पुरुष और महिला के बीच कोई अन्तर नहीं किया गया है । यदि उसमें स्पष्ट अन्तर किया जाता तब निःसंदेह असंवैधानिक होता । विधान-मण्डल ने धारा 21(क) में संशोधन करके केवल आयु नियत की है । हमें यह स्पष्ट हो गया है

[1] (2015) 1 एस. सी. सी. 192.

कि इस खण्ड में कानूनी आदेश के अतिक्रमण के अतिरिक्त उससे सांविधानिक आदेश का भी अतिक्रमण होता है जिसके अन्तर्गत यह उपबंध किया गया है कि लिंग के आधार पर कोई भी विभेद नहीं किया जा सकता । नियोजन प्राप्त करने के लिए यदि ऐसा विभेद किया जाता है और उसे नियोजन के लिए विचार में लिया जाता है तो जब तक उसके साथ कोई न्यायोचित शर्त न लगाई गई हो तब तक उसकी संवीक्षा से रोका नहीं जा सकता । जब पहुंच या प्रवेश से इनकार किया जाता है, तब अनुच्छेद 21 का, जो जीविका के बारे में है, अतिक्रमण होता है । यह अधिनियम मूल मानव अधिकारों के विरुद्ध भी कार्य करता है । ऐसे विवर्जन से महिला में जीविकार्जन करने की उसकी क्षमता कम हो जाती है ।

* * * *

50. विधि की उपर्युक्त प्रतिपादना से जीविका के अधिकार का महत्व स्पष्ट रूप से परिभाषित हो जाता है । व्यापार संघ की उप-विधियों का एक खण्ड स्वयं में संगम कहलाता है जिसे कानूनी प्राधिकार द्वारा स्वीकार किया गया है और इस खण्ड से अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण नहीं हो सकता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

46. इस पर विद्वान् काउंसेल ने इस प्रास्थिति को एक भिन्न तर्क के आधार पर व्यक्त करने का प्रयास किया है । इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक होगा कि विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय को शरीयत अधिनियम की धारा 2 के अधीन विनिश्चय के नियम को संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत "प्रवृत्त विधि" के रूप में स्वीकार करना चाहिए या नहीं और एतद्द्वारा, संविधान के भाग III में समाविष्ट मूल अधिकारों की कसौटी पर उसकी विधिमान्यता को परखना चाहिए या नहीं ? विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा दृढ़तापूर्वक यह दलील दी गई है कि "विनिश्चय के नियम" के अर्थान्तर्गत विचार के लिए उद्भूत सभी प्रश्नों को आवश्यक रूप से "प्रवृत्त विधि" के रूप में मानना चाहिए । इस प्रकार, यह दलील दी गई है कि ऐसी विधियां, संविधान के भाग III - मूल अधिकार के उपबंधों के अनुकूल है । जहां तक "तलाक-ए-बिद्दत" की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती देने का संबंध है, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने दूसरे विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों को अपनाया है ।

47. इसके बाद विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने तारीख 10 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अंगीकृत मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का अवलंब लेते हुए यह दलील दी है कि उस घोषणा की उद्देशिका के अन्तर्गत संपूर्ण मानव कुटुंब की अन्तर्निहित गरिमा को समान और अपृथक्करणीय माना गया है । यह दलील दी गई है कि चार्टर के अधीन पुरुष और महिलाओं के लिए समान अधिकार उपबंधित किए गए हैं । यह भी दलील दी गई है कि उसके अनुच्छेद 1 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि सभी मनुष्यों ने स्वतंत्र और समान रूप से गरिमा और अधिकारों के साथ जन्म लिया है । अनुच्छेद 2 को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी गई है कि लिंग और/या धर्म आदि के आधार पर कोई भी विभेद/पक्षपात नहीं किया जा सकता । यह दलील दी गई है कि इस देश का कर्तव्य है कि वह समता के अधिकार को संकुचित नहीं अपितु उसका विस्तार करे जैसा कि उपर्युक्त घोषणा में अन्तर्विष्ट है । आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (आई. सी. ई. एस. सी. आर.) की ओर भी हमारा ध्यान दिलाया गया है जिसके अधीन महिलाओं के प्रति होने वाले सभी प्रकार के पक्षपात को समाप्त करने का उपबंध किया गया है । वर्तमान अभिसमय तारीख 10 अप्रैल, 1979 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अंगीकार किया गया था । यह भी दलील दी गई है कि महिलाओं के अधिकारों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय बिल तारीख 3 सितंबर, 1981 को संस्थित किया गया और 189 देशों द्वारा इसका अनुमोदन किया गया । यह इंगित किया गया है कि भारत ने भी इसका अनुमोदन किया है । यह दलील दी गई है कि इसके अनुच्छेद 1 के अधीन "विभेद" को लिंग के आधार पर महिलाओं के प्रति किए जाने वाले विभेद के रूप में परिभाषित किया गया है । अनुच्छेद 2 को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी गई है कि उन सभी देशों ने, जिन्होंने उपर्युक्त अभिसमय का अनुमोदन किया है, महिलाओं के प्रति होने वाले सभी प्रकार के पक्षपात की निन्दा की है और अपने-अपने देश के संविधानों तथा अन्य विधानों में पुरुष और महिलाओं के बीच समानता के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए महिलाओं के प्रति होने वाले विभेद को समाप्त करने के लिए सहमत हुए हैं । यह दलील दी गई है कि अभिसमय के अनुच्छेद 2 में यह आदिष्ट है कि सभी राज्य/देश महिलाओं के प्रति किसी भी व्यक्ति, संगठन या उद्यम द्वारा किए जाने वाले विभेद को दूर करने के लिए सभी कदम उठाएंगे । यह दलील दी गई है कि जहां तक वर्तमान संविवाद का संबंध है उपर्युक्त घोषणाओं और अभिसमय के उपबंधों का अवलंब "विनिश्चय के

नियम" के रूप में, "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता को परखने के लिए किया जा सकता है और इसके लिए प्रवृत्त विधि (संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 की कसौटी के आधार पर) का भी अनुसरण करना होगा । यह भी दलील दी गई है कि किसी भी स्थिति में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा से घोषणा और अभिसमय द्वारा अंगीकृत मानकों का स्पष्ट रूप से अतिक्रमण होता है ।

48. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि भारत में बहु-विधि प्रणाली अपनाई जाती है जिसमें विभिन्न समुदायों को भिन्न-भिन्न "स्वीय विधियां" लागू किए जाने के लिए अनुज्ञात किया गया है । यह दलील दी गई है कि इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि अलग-अलग धर्म समुदायों की अलग-अलग विधि हो सकती है किन्तु प्रत्येक धर्म समुदाय की विधि सांविधानिक विधिमान्यता और/या सांविधानिकता नैतिकता पर खड़ी उतरनी चाहिए क्योंकि उससे संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए । उपर्युक्त संदर्भ को दृष्टिगत करते हुए, यह दलील दी गई है कि यद्यपि विश्वास और आस्था के मामलों को संविधान के अनुच्छेद 25 द्वारा संरक्षित रखा गया है फिर भी विवाह और विवाह-विच्छेद से संबंधित मामले विश्वास और आस्था के अन्तर्गत ही आते हैं और उन्हें लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के आधार पर तथा संविधान के भाग III के उपबंधों की कसौटी पर भी परखना चाहिए । अतः, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार, संविधान के अनुच्छेद 25 का मात्र परिशीलन करने पर अंतःकरण की स्वतंत्रता, लोक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य और संविधान के भाग III में अन्तर्विष्ट अन्य उपबंधों के अध्यधीन होती है । इस प्रकार, विद्वान् काउंसेल के अनुसार उक्त अधिकारों का निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि किसी भी "स्वीय विधि" से संविधान के अनुच्छेद 25 में अन्तर्विष्ट प्रतिपादित किसी भी शर्त का खण्डन नहीं होता है । यह दलील दी गई है कि संविधान के अनुच्छेद 14 और 15, संविधान के अनुच्छेद 25 या 26 के अधीन किसी निर्बंधन सहित किन्हीं निर्बंधनों के अध्यधीन नहीं है । यह दलील दी गई है कि संविधान के निर्वचन का मुख्य सिद्धांत यह है कि उसके सभी उपबंधों का अर्थ सामंजस्यपूर्ण लगाना चाहिए ताकि उनके बीच कोई भी विवाद शेष न रहे । अतः, यह निवेदन किया गया है कि एक ओर संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 और दूसरी ओर अनुच्छेद 25 और 26 का अर्थ एक दूसरे के साथ सामंजस्य रखते हुए महिलाओं के प्रति विभेद को निवारित करने के लिए ऐसी रीति में लगाया जाना चाहिए जिससे कि लैंगिक भेदभाव के

बिना समता को प्रभावी किया जा सके । यह दलील दी गई है कि यह पूर्णतया असंगत है कि क्या "स्वीय विधि" रूढ़ि या धर्म पर आधारित है या उसे संहिताबद्ध या असंहिताबद्ध किया गया है, यदि यह एक विधि है और विनिश्चय का नियम है तब इसे संविधान के भाग III के अधीन चुनौती दी जा सकती है ।

49. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने एक मामले अर्थात् विवाह-विच्छेद से विवाहित महिला की हैसियत परिवर्तित हो जाती है अर्थात् वह निराश्रित हो जाती है, पर अपना निजी मत व्यक्त किया है । यह प्राख्यान किया गया है कि भारत में सभी समुदायों में विवाह-विच्छेद न्यायिक फोरम से ही प्राप्त किया जा सकता है । विवाह-विच्छेद का निर्णय और डिक्री सर्वबन्धी विनिश्चय होता है जो पूरे संसार के प्रति संबद्ध व्यक्ति की विधिक हैसियत को बदल देता है । यह दलील दी गई है कि भारत के सभी समुदायों में विवाह-विच्छेद दो पक्षकारों के बीच का मामला नहीं है जिसे वे स्वयं निपटा लें । न ही कोई ऐसा "फतवा" जारी किया जा सकता है जो एकपक्षीय तलाक का अनुमोदन करे । यह दलील दी गई है कि केवल एक पक्षकार के लिए एकपक्षीय निजी "तलाक" देकर विवाह को बातिल करने का अधिकार स्पष्ट रूप से लोक नीति के विरुद्ध है और इसे विधि की दृष्टि से अननुज्ञेय ही नहीं अपितु असांविधानिक घोषित किया जाना चाहिए । इस संबंध में यह दलील दी गई है कि किसी भी व्यक्ति की हैसियत में ऐसा प्रतिकूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता कि उसे अर्थात् पत्नी को तलाक की ऐसी घोषणा से सिविल परिणाम भोगने पड़ें । यह दलील दी गई है कि वैवाहिक संबंध का समाप्त होना आवश्यक रूप से एक न्यायिक कार्य है जिसका प्रयोग न्यायिक फोरम द्वारा किया जाना चाहिए । निजी कार्य द्वारा मंजूर की गई किसी भी तलाक को विधि की दृष्टि से कायम रखे जाने योग्य नहीं माना जा सकता और वर्तमान अतिरिक्त कारण के आधार पर यह दलील दी गई है कि एकपक्षीय तलाक जो "तलाक-ए-बिद्दत" के रूप में दी जाती है जिसके द्वारा मुस्लिम महिला की हैसियत प्रतिकूल सिविल परिणामों से प्रभावित होती है जो एकपक्षीय रूप से पुरुष द्वारा लिया गया फैसला है, उसे ऐसी निजी घोषणा के आधार पर विधि में न टिक सकने वाला माना जाना चाहिए ।

50. मध्यक्षेपी के रूप में हाजिर होने वाले ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री सलमान खुर्शीद ने यह दलील दी है कि किसी विवाद का हल ढूंढने के लिए या इस्लामिक विधि के अधीन किसी समस्या के समाधान के लिए

सर्वप्रथम कुरान के प्रतिनिर्देश किया जाना चाहिए । यदि कुरान से, प्रथा से भिन्न उत्तर प्राप्त होता है तब वह इस मुद्दे से संबंधित अन्तिम घोषणा मानी जाएगी । यदि इस संबंध में कुरान से कोई स्पष्ट सुझाव नहीं मिलता है तब पैगम्बर मोहम्मद की "सुन्ना" (कार्यशैली) पर विचार किया जाना चाहिए जैसा कि "हदीस" में अभिलिखित है । यदि "हदीस" से भी कोई मार्गदर्शन नहीं हो पाता है तब विद्वानों की आम राय पर विचार करना होगा जिसे "इजमा" कहा जाता है । यदि "इजमा" के अधीन किसी विवाद का हल प्राप्त होता है तब उसे विवादित मुद्दे के प्रति अन्तिम मत के रूप में इस्लामिक विधि के अधीन स्वीकार करना चाहिए । यह दलील दी गई है कि "हदीस' या "इजमा" को निर्दिष्ट करते समय यह सावधानी बरतनी चाहिए कि वे कुरान के किसी भी सिद्धांत के प्रतिकूल न हो ।

51. इसके पश्चात्, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमारा ध्यान इला, जिहार, खुला और मुबारात सहित विभिन्न प्रकार की तलाकों की ओर दिलाया है । इस बात पर बल दिया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की धारणा (जिसे अनियमित तलाक कहा गया है) पुरुष को उपलब्ध तीन तलाक की सीमा पर आधारित है, अर्थात्, कोई पुरुष अपनी पत्नी को अपने जीवनकाल में केवल तीन बार तलाक दे सकता है । इनमें से पहली दो तलाकें "इद्दत" की अवधि के दौरान प्रतिसंहरणीय होती हैं जबकि तीसरी तलाक अप्रतिसंहरणीय है । इसके पश्चात्, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमारा ध्यान कुरान की उन आयतों की ओर दिलाया है जिनका संबंध तलाक से है (अधिक जानकारी के लिए कुरान का भाग III देखें) । तथापि, अपनी दलीलों के दौरान विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस तथ्य पर बल दिया है कि एक अवसर पर तीन बार तलाक देना पति-पत्नी के बीच वैवाहिक संबंधों को अन्तिम रूप से समाप्त नहीं कर सकता । अपनी इस दलील के समर्थन में सुन्ना मुस्लिम की निम्न रिवायतों का अवलंब लिया गया है :–

> "(i) [3652] 1- (1471) इब्ने उमर से यह रिवायत है कि उन्होंने अपनी पत्नी को मासिक धर्म के दौरान तलाक दी । अल्लाह के पैगम्बर के जीवनकाल के दौरान उमर बिन अल-खत्ताब ने अल्लाह के पैगम्बर से उस संबंध में मालूम किया और उन्होंने उमर बिन अल-खत्ताब से यह कहा, 'उससे कहो कि वह अपनी पत्नी को वापस बुला ले और इसके पश्चात् उसके मासिक धर्म से निवृत्त होने तक प्रतीक्षा करे, इसके पश्चात् जब उसकी पत्नी पुनः मासिक धर्म से गुजरे और वह पवित्रावस्था में आ जाए । इसके पश्चात् यदि वह चाहे तो अपनी

पत्नी को साथ रखे और यदि वह चाहे तो पत्नी के साथ संभोग करने के पूर्व उसे तलाक दे दे । इद्दत (विहित अवधि) ही एक ऐसी अवधि है जिसके दौरान अल्लाह ने महिलाओं को तलाक दिए जाने की अनुज्ञा दी है ।"

"(ii) [3673] 15- (1472) इब्ने अब्बास द्वारा यह रिवायत है : 'अल्लाह के पैगम्बर के जीवनकाल के दौरान हजरत अबू बकर और हजरत उमर की खिलाफत के प्रथम दो वर्षों के दौरान तिहरा तलाक (एक ही अवसर पर तीन बार बोलकर दी गई तलाक) को एक तलाक माना गया है । इसके पश्चात् हजरत उमर बिन अल्ल-खत्ताब ने यह कहा : 'लोग ऐसे मामले में जल्दबाजी से काम ले रहे हैं जो उन्हें सोच-समझकर करना चाहिए । मैं उन्हें इस जल्दबाजी से रोकने की सोच रहा हूं ।' इसलिए हजरत उमर ने तीन-तलाक को प्रभावी कर दिया ।"

"(iii) [3674] 16- (...) इब्ने ताउस ने अपने पिता से प्राप्त यह जानकारी दी कि अबू अस्सहाबा ने इब्ने अब्बास से यह कहा था, क्या तुम्हें मालूम है कि अल्लाह के पैगम्बर और हजरत अबू बकर के समय तथा हजरत उमर की खिलाफत के तीन वर्षों तक के दौरान तिहरी तलाक एक तलाक मानी जाती थी ? उन्होंने कहा, हां, 'मुझे मालूम है' ।"

"(iv) [3675] 17- (...) ताउस से यह रिवायत की गई है कि अन अस्सहाबा ने इब्ने अब्बास से कहा, 'कोई ऐसी महत्वपूर्ण बात बताओ जो तुम जानते हो । क्या तिहरी तलाक अल्लाह के पैगम्बर और हजरत अबू बकर के समय एक तलाक नहीं मानी जाती थी ?" उन्होंने जवाब दिया, ऐसा ही होता था, किन्तु हजरत उमर के समय के दौरान लोग प्रायः तलाक देने लगे थे, इसलिए उन्होंने इसे प्रभावी बना दिया ।"

(v) "महमूद इब्ने लबीब ने यह रिवायत की है कि अल्लाह के पैगम्बर को एक ऐसे व्यक्ति के बारे में सूचना दी गई थी जिसने अपनी पत्नी को एक ही अवसर पर तीन-तलाकें दी थीं । इसके पश्चात् पैगम्बर खिन्न हो गए और उन्होंने कहा, 'क्या तुम अल्लाह की पुस्तक के साथ खेल रहे हो जो कि महान और गौरवशाली है और मैं भी तुम्हारे बीच मौजूद हूं ?' इतना सुनते ही वह व्यक्ति खड़ा हुआ और उसने कहा, क्या मुझे उसकी हत्या नहीं कर देनी

2017(8) eILR(PAT) SC 110

चाहिए ।"

(vi) एम. मोहम्मद अली द्वारा मैनुअल आफ 'हदीस' नामक पुस्तक के पृष्ठ सं. 2861 पर उद्धृत की गई 'हदीस' के अनुसार, जो कि इमाम अहमद बिन हम्बल की मसनद 1: 34 से ली गई है, यह कहा गया है कि पैगम्बर और खलीफा हजरत अबू बकर तथा हजरत उमर की खिलाफत के प्रथम दो वर्षों के समय के दौरान तीन बार बोलकर दी गई तलाक एक तलाक मानी जाती थी । हजरत उमर ने यह कहा है, 'लोग ऐसे मामलों में जल्दबाजी करते हैं जिनमें उन्हें संयम से काम लेना चाहिए, इसलिए, हम इस पर विचार कर सकते हैं और परिणामस्वरूप हमने उनके मामले में इस तलाक को प्रभावी कर दिया है ।' तथापि, पवित्र कुरान में इस संबंध में स्पष्ट कहा गया है कि ऐसी तलाक केवल एक तलाक समझी जाएगी ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

(vii) रुकाना इब्ने अबू यजीद द्वारा एक और रिवायत का उल्लेख किया गया है कि उसने अपनी पत्नी सहलमाश को अप्रतिसंहरणीय तलाक दी थी और उसने यह बात अल्लाह के पैगम्बर को यह कहते हुए बताई, मुझे अल्लाह की सौगंध है मैंने केवल एक ही तलाक देने का आशय किया था । इस पर अल्लाह के पैगम्बर ने पूछा कि क्या तुमने केवल एक तलाक देने का ही आशय किया था ? इस पर रुकाना इब्ने यजीद ने उत्तर दिया, मुझे अल्लाह की सौगंध है, मैंने केवल एक ही तलाक देने का आशय किया था । इसके पश्चात् अल्लाह के पैगम्बर ने उनकी पत्नी को पति के पास वापस भेज दिया । इसके पश्चात् रुकाना इब्ने यजीद ने हजरत उमर के समय के दौरान अपनी पत्नी को दूसरी बार तलाक दी और हजरत उस्मान के समय के दौरान तीसरी बार तलाक दी ।

(viii) तलाक से संबंधित कुरान के सिद्धांत का समर्थन पैगम्बर मोहम्मद साहब की हदीस से भी होता है जिसमें उन्होंने इस प्रकार चेतावनी दी, 'अल्लाह की ओर से अनुज्ञात किए गए सभी कामों में सबसे अधिक घृणाजनक कार्य तलाक देना है' । पैगम्बर साहब ने अपने लोगों से कहा, 'अल-तलाक़ इन्दल्लाही अबगद अल-मुबाहत' जिसका अर्थ है कि 'तलाक ईश्वर की नजर में अत्यंत घृण्य है, इससे बचो ।'

(ix) [2005] 43- (867) यह उल्लेख किया गया है कि जाबिर-बिन-अब्दुल्ला ने कहा जब अल्लाह के पैगम्बर ने खुत्बा (धार्मिक भाषण) दिया तब उनकी आंखें लाल हो गई थीं, उनकी आविज तेज हो गई थी और उनका क्रोध बढ़ गया था कि जैसे वे आक्रमणकारी सेना के संबंध में चेतावनी दे रहे हों कि 'शत्रु प्रातःकाल हमला करेगा या सायंकाल' । उन्होंने कहा 'जो समय मुझे बताए गए हैं वे ये ही दो समय हैं' (अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल) और उन्होंने अपनी तर्जनी और मध्यमा को एक साथ मिलाया । और उन्होंने कहा कि 'सबसे अच्छी बातें अल्लाह की पुस्तक में हैं, सबसे अच्छा मार्गदर्शन पैगम्बर मोहम्मद द्वारा किया गया है और सबसे बुरी बातें वे हैं जो नई-नई बनाई गई हैं और इस प्रकार किया गया प्रत्येक नूतन कार्य गुमराही की ओर ले जाता है ।' फिर उन्होंने कहा, मैं ईमान रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के इतना निकट हूं जितना निकट वह स्वयं भी नहीं है । जो कोई सम्पत्ति छोड़कर मरता है वह उसके परिवार के लिए होगी, जो कोई ऋण चुकता किए बिना और अपने आश्रितों को छोड़कर मरता है उनका ऋण चुकाने और उनके आश्रितों की देखरेख करने की जिम्मेदारी मुझ पर होगी ।

(x) [2006] 44- (...) जाबिर बिन अब्दुल्ला ने कहा 'पैगम्बर साहब ने शुक्रवार को दिए गए अपने खुत्बे में अल्लाह की प्रशंसा की और उसके पश्चात् ही उन्होंने अन्य बातें अपने उच्च स्वर में कहीं ... इसी के अनुरूप 'हदीस' सं. 2005 भी है ।

(xi) [4796] 59 - (1852) यह रिवायत की गई है कि जियाद बिन इलाका ने कहा, मैंने अरफाजा को यह कहते हुए सुना था, मैंने अल्लाह के पैगम्बर को यह कहते हुए सुना है, '(एक दिन समाज में) संताप और नवाचार फैलेगा । जो कोई उम्मत (प्रजा) को विभाजित करना चाहे, उस पर तलवार से वार करो चाहे वह कोई भी हो ।'

(xii) [4797] (...) पैगम्बर साहब से संबंधित ऐसी ही रिवायत 'हदीस' सं. 2796 में अरफाजा द्वारा भी की गई है जिसमें उन्होंने 'उसकी हत्या कर दो' जैसे शब्द नहीं कहे हैं ।"

उपर्युक्त "हदीसों" के आधार पर यह दलील दी गई है कि कुरान में दिए गए स्पष्ट संदेशों के निबंधनों में पैगम्बर मोहम्मद द्वारा किए गए कार्यों और दिए गए उपदेशों का अनुपालन किया जाना चाहिए । अतः, जब स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त "हदीसें" उपलब्ध हैं कि पैगम्बर मोहम्मद ने एक ही

अवसर पर तीन बार बोलकर दी गई तलाक को एक तलाक माना है तो उसे सम्यक् रूप से अभिव्यक्त किया जाना चाहिए । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि यह रिवायत की गई हैं कि एक बार पैगम्बर मोहम्मद को यह बताया गया था कि उनके एक अनुयायी ने अपनी पत्नी को एक ही अवसर पर तीन बार बोलकर तलाक दे दी है, इस पर पैगम्बर साहब क्रोधित होकर खड़े हो गए और यह कहा कि वह व्यक्ति ईश्वर के शब्दों के साथ खिलवाड़ कर रहा है और उस व्यक्ति से उसकी पत्नी को उसके पास वापस बुलवाया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार, उपलब्ध पाठ द्वारा समर्थित ऐसे उदाहरण हैं जो वर्तमान संविवाद का निपटारा करने के लिए स्वयं पर्याप्त हैं ।

52. यह भी दलील दी गई है कि यदि कोई पैगम्बर मोहम्मद के साथियों के विलेखों का परिशीलन करे तब "हदीसों" से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका अनुसरण खलीफा अबू बकर के काल में तथा खलीफा हजरत उमर के शासनकाल के प्रथम दो वर्षों के दौरान किया जाता था । किन्तु, इसके पश्चात् आपातकालीन परिस्थिति से निपटने के लिए खलीफा हजरत उमर ने एक अवसर पर दी गई तीन तलाकों को अंतिम और अप्रतिसंहरणीय मान लिया था । जहां तक मामले के वर्तमान पहलू का संबंध है विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने निम्नलिखित पृष्ठभूमि का वर्णन किया है :–

> "(क) खलीफा हजरत उमर ने यह निष्कर्ष निकाला कि पैगम्बर साहब द्वारा निराकरण की सुविधा पर अधिरोपित पाबंदी को लेकर तलाक देने वालों की ऐसी मनमानी में हस्तक्षेप किया जिसके आधार पर वे विधि की कठोरता से बच जाते थे और हजरत उमर ने विधि-वेत्ताओं के लचीलेपन में ऐसी कमियां पाईं जिनका वे अनुचित लाभ उठाते थे ।
>
> (ख) जब अरबों ने सीरिया, मिस्र और फारस आदि पर विजय प्राप्त की तब उन्होंने वहां की महिलाओं को अरब की महिलाओं की तुलना में अधिक सुन्दर पाया और इस प्रकार उन्होंने उनसे विवाह करना चाहा । किन्तु मिस्र और सीरिया की महिलाओं ने इस बात पर बल दिया कि यदि वे उनसे विवाह करना चाहते हैं तो उन्हें अपनी पत्नियों को एक ही बार में तीन तलाक देकर तत्काल छोड़ना होगा ।
>
> (ग) यह शर्त अरबवासियों ने स्वीकार कर लिया क्योंकि इस्लाम धर्म में प्रतिसंहरणीय तलाक केवल दो बार वह भी अलग-अलग

अवसरों पर एक-एक करके दी जा सकती है और एक ही अवसर पर इसकी पुनरावृत्ति गैर-इस्लामिक, शून्य और अप्रभावी मानी गई है । इस प्रकार, उन्होंने इन महिलाओं से न केवल विवाह किया अपितु अपनी पिछली पत्नियों को भी साथ रखा । यह तथ्य दूसरे खलीफा अर्थात् हजरत उमर की जानकारी में लाया गया था ।

(घ) खलीफा हजरत उमर ने ऐसे सिद्धांतहीन पतियों द्वारा धर्म के दुरुपयोग को रोकने के लिए यह विलेख जारी किया कि तलाक शब्द को एक अवसर पर तीन बार अर्थात् तलाक-तलाक-तलाक कह देने से विवाह अप्रतिसंहरणीय रूप से विघटित हो जाएगा । तथापि, यह खलीफा उमर द्वारा उठाया गया प्रशासनिक कदम था ताकि आपातकालीन स्थिति से निपटा जा सके किन्तु इसे स्थायी रूप से विधि के रूप में लागू किए जाने के लिए नहीं ।"

53. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा यह भी दलील दी गई है कि हनफी शाखा के विधि-वेत्ताओं ने, जिन्होंने एक अवसर पर दी जाने वाली तीन तलाक को अप्रतिसंहरणीय तलाक माना था, यह स्पष्ट किया कि उस काल में लोगों का आशय तीन तलाक देने का नहीं अपितु केवल एक तलाक देने का होता था और बाद में बोले गए तलाक के दो शब्दों का अर्थ पहले तलाक शब्द पर जोर देना होता था । किन्तु, उसी काल में तीन बार बोलकर दी गई तलाक को तीन अलग-अलग तलाक माना गया, इस प्रकार इन तलाकों को एक तलाक नहीं माना गया । यह दलील दी गई है कि हनफी विधिवेत्ताओं द्वारा किया गया यह निर्वचन आमतौर पर स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह "कुरान" और "हदीस" की गरिमा के प्रतिकूल है जिसके अन्तर्गत यह कहा गया है कि पति और पत्नी के बीच विवाद होने पर मामला माध्यस्थम् को भेजा जाना चाहिए और सौहार्दपूर्ण समझौते के असफल होने पर, तलाक की अनुज्ञा दी जानी चाहिए वह भी इद्दत के अध्यधीन जिसके दौरान सुलह का प्रयास भी किया जाना चाहिए और यदि सुलह का यह प्रयास सफल हो जाता है तब पति अपनी पत्नी को वापस ले जा सकता है । यह दलील दी गई है कि तलाक की प्रक्रिया में इस्लाम धर्म द्वारा अधिकथित मुख्य सिद्धांत पक्षकारों को सोचने का अवसर देना है । यदि तीन बार बोलकर दी गई तलाक को "मुगल्लिजा" - तलाक मानी जाए तब जल्दी में उठाए गए कदम को वापस लेने के लिए पति-पत्नी के पास कोई अवसर उपलब्ध नहीं होगा । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" पैगम्बर साहब के काल में लम्बे समय के पश्चात् प्रचलन में आई

थी । यह दलील दी गई है कि यह कुरान में उपबंधित मापदंड तलाक के तरीकों को अप्रभावी बनाती है और इस तलाक के अन्तर्गत लोगों को अपनी गलती पर पुनः सोचने और अपनी पत्नियों को बुलाने का अवसर नहीं मिल पाता है ।

54. उपर्युक्त निवेदनों के आधार पर यह दलील दी गई है कि यद्यपि भारत में न्यायालयों के समक्ष समय-समय पर धर्म से संबंधित मामले आते रहते हैं, और ये मुद्दे संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 के सन्दर्भ में विनिश्चित किए गए हैं । यह दलील दी गई है कि सभी नागरिकों के सशक्तीकरण और लैंगिक न्याय के मुद्दे से संबंधित प्रश्न उठाते हुए नई चुनौतियों का जबाव देने के लिए न्यायालय के समक्ष मांग में वृद्धि हुई है । यह भी दलील दी गई है कि वर्तमान मामले उसी प्रवृत्ति के हैं । यह दलील दी गई है कि उच्चतम न्यायालय इस पर विचार करने के लिए इस आधार पर इनकार नहीं कर सका कि ये मुद्दे राजनैतिक प्रभाव और हेतु से ग्रसित हैं और यह भी हो सकता है कि इनका संबंध संकुचित सांविधानिक अनुज्ञेयता से हो । यह दलील दी गई है कि "स्वीय विधि" जैसे एक बड़े मुद्दे पर विचार करने से इनकार करना, कि क्या "स्वीय विधि" संविधान के अनुच्छेद 13 के अधीन "प्रवृत्त विधि" का भाग है या नहीं, और इसका न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है या नहीं या समान आचार संहिता प्रवृत्त की जानी चाहिए या नहीं, उचित नहीं होगा । यह दलील दी गई है कि यदि तीन तलाक पर और अधिक स्वीकार्य निर्वचन का अनुमोदन करते हुए विचार किया जाए जो इस्लाम के स्रोतों के बहुत्ववादी पाठ पर आधारित हो अर्थात् "कुरान" और "हदीस" के संचयी दृष्टिकोण द्वारा, जैसा कि इस्लाम की अनेक शाखाओं (न केवल हनीफी शाखाओं) से उपदर्शित है । याचियों और ऐसे ही अन्य लोगों को न्याय सुनिश्चित कराने के प्रयोजनार्थ पर्याप्त होगा ।

55. उपर्युक्त दलीलों के समर्थन में विद्वान् काउंसेल ने समस्त संसार में "तलाक-ए-बिद्दत" से संबंधित विधायी परिवर्तनों का अवलंब लिया है (अधिक जानकारी के लिए भाग-5 समस्त संसार के इस्लामी और गैर इस्लामी देशों में विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के प्रयोग का निराकरण देखें) । "तलाक-ए-बिद्दत" से संबंधित विभिन्न न्यायालयों द्वारा की गई न्यायिक उद्घोषणाओं का भी अवलंब लिया गया है ताकि यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि एक ही समय पर दी गई तीन तलाक, एक तलाक मानी जाएगी और उसके पश्चात् वैवाहिक संबंध समाप्त करने के लिए पति

को "तलाक-ए-अहसन"/"तलाक-ए-हसन" के लिए उपबंधित प्रक्रिया का अनुपालन करना होगा और उसके पश्चात् ही पक्षकारों के बीच तलाक प्रभावी मानी जाएगी (अधिक जानकारी के लिए भाग-6 "तलाक-ए-बिद्दत" से संबंधित न्यायिक उद्‌घोषणा देखें) ।

56. विद्वान् काउंसेल ने अपनी उपर्युक्त दलील के संबंध में एक गंभीर स्थिति की ओर भी ध्यान दिलाया है । यह इंगित किया गया है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत का निर्वचन करना न्यायालय का काम नहीं है । यह प्राख्यान किया गया है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन किसी विवाद के संबंध में "कुरान" और "हदीस" के उपदेशों को स्पष्ट करना इमाम का कार्य है । इस आधार पर किसी भी विवादित मुद्दे को निपटाने के लिए इमाम की ही जिम्मेदारी होती है और इमाम भी स्वयं अपने मतों के आधार पर विवाद का निपटारा नहीं करेगा अपितु कुरान की "आयतों" और "हदीस" के सटीक निर्वचन के आधार पर ही ऐसा करेगा । यह भी दलील दी गई है कि न्यायालय का कार्य, आस्था की जटिलताओं का भरपूर ज्ञान न होने के कारण, "कुरान" और "हदीस" का निर्वचन करना नहीं है और इसीलिए, "तलाक-ए-बिद्दत" का निर्वचन समाज की रीतियों को दृष्टिगत करते हुए, युक्तियुक्तता की कसौटी के आधार पर किया जाना चाहिए ।

57. 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 118 में प्रत्यर्थी सं. 11 अर्थात् डा. नूरजहां सफिया नियाज जिसे तारीख 29 जून, 2016 के आदेश द्वारा पक्षकार बनाया गया था, की ओर से सुश्री नित्या रामकृष्ण न्यायालय में हाजिर हुई । विद्वान् काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" तलाक देने का ऐसा तरीका है जो अचानक ही घटित हो जाता है । यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के निबंधनों में भी पूर्णतया अविधिमान्य है । यह दलील दी गई है कि न्यायालय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को अभिखंडित कर दे, यह निवेदन किया गया है कि इतना पर्याप्त होगा कि यदि यह न्यायालय **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश को "तलाक-ए-बिद्दत" के अर्थपूर्ण निर्वचन द्वारा कायम रखता है, जो कि "कुरान" और उसके साथ सुसंगत "हदीस" के अनुकूल होगा ।

58. विद्वान् काउंसेल द्वारा यह प्राख्यान किया गया है कि इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आरंभ से ही महिलाओं के अधिकारों को ध्यान में रखा गया है

जो कि अन्य समुदायों की महिलाओं को उपलब्ध नहीं थे । यह भी इंगित किया गया है कि तलाक देने का अधिकार अन्य समुदायों की महिलाओं की अपेक्षा मुस्लिम महिलाओं को बहुत पहले प्रदत्त कर दिया गया था । यह प्राख्यान किया गया है कि सातवीं शताब्दी में भी इस्लाम के अधीन तलाक देने और पुनर्विवाह करने का अधिकार महिलाओं को प्रदत्त कर दिया गया था । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, उपर्युक्त विधिक अधिकार का अनुमोदन ब्रिटिश सरकार द्वारा भी किया गया था जब उसने वर्ष 1937 में शरीयत अधिनियम प्राख्यापित किया था । यह दलील दी गई है कि उपर्युक्त विधान के माध्यम से मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के प्रतिकूल सभी रीति-रिवाजों को स्पष्ट रूप से बातिल कर दिया गया । अतः, यह दलील दी गई है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता का मूल्यांकन करते समय इस न्यायालय को इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" एक दूरदर्शी आचार संहिता है जिसके अनुसार इस्लाम धर्म पर चलने वाले लोगों के जीवन के अनेक पहलू विनियमित होते हैं ।

59. यह भी दलील दी गई है कि "कुरान" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन नहीं किया गया है । यह इंगित किया गया है कि पैगम्बर मोहम्मद साहब ने "तलाक" के केवल दो ही तरीकों को विधिमान्य बताया है जिनमें पहला "तलाक-ए-अहसन" और दूसरा "तलाक-ए-हसन" है । मुस्लिम विधिशास्त्र की अनेक विचारधाराओं के बावजूद केवल दो ही विचारधारा ऐसी हैं जिनके अनुसार "तलाक-ए-बिद्दत" को तलाक देने का एक तरीका माना है । यह दलील दी गई है कि किसी भी शिया शाखा द्वारा तीन तलाक को पति-पत्नी के बीच विधिमान्य तलाक नहीं माना गया है । जहां तक "तलाक-ए-बिद्दत" का संबंध है, यह प्राख्यान किया गया है कि कुरान के अधीन तात्कालिक तलाक का अनुमोदन नहीं किया गया है । तलाक देने की प्रक्रिया के आरंभ से अंत तक एक समयान्तराल आवश्यक है । "तलाक" तात्कालिक नहीं हो सकता है । यह भी इंगित किया गया है कि समयान्तराल अर्थात् "इद्दत" यह सुनिश्चित करने के लिए एक अवधि है कि पत्नी गर्भवती है या नहीं अर्थात् पत्नी की स्वच्छता (मासिक धर्म से निवृत्ति) का पता लगाया जा सके । किन्तु, यह समय-रेखा मध्यस्थता के लिए होती है ताकि सुलह की संभावना का पता लगाया जा सके । विद्वान् काउंसेल के अनुसार, "तलाक-ए-बिद्दत" एक तत्क्षण (काम चलाऊ) प्रक्रिया थी जो सुन्नियों की हनफी शाखा में अधिसमर्पित थी । यह प्राख्यान किया गया है कि स्वतंत्रता के पूर्व ब्रिटिश न्यायाधीशों ने "तलाक-ए-बिद्दत" अर्थात् तीन तलाक को कायम रखने में भारी गलती की है । विद्वान् काउंसेल ने

2017(8) eILR(PAT) SC 110

उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए अनेक निर्णयों का अवलंब लिया है जिनमें से हाल ही में आए तीन उच्च न्यायालयों के निर्णय हैं (अधिक जानकारी के लिए भाग-6 "तलाक-ए-बिद्दत" विषय से संबंधित न्यायिक उद्घोषणा देखें) ।

60. उपर्युक्त बातों के आधार पर, यह प्राख्यान किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" को मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के अधीन विवाह संबंध का विघटन करने के लिए विधिमान्य तरीका नहीं माना जा सकता है । उपर्युक्त दलीलों को दृष्टिगत करते हुए और विद्वान् काउंसेल जो उसके पहले ही न्यायालय में हाजिर हुए थे, निवेदनों को दोहराते हुए यह दलील दी गई है कि भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् न्यायिक राय की प्रबलता स्पष्ट रूप से यह रही है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" का अनुमोदन नहीं किया गया है, अतः, मुस्लिम "स्वीय विधि" के निबंधनों में इस न्यायालय को यह उद्घोषित करना चाहिए कि "तलाक-ए-बिद्दत" विधि की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है और यह भी घोषणा करना चाहिए कि यह असंवैधानिक है ।

61. मुस्लिम "स्वीय विधि" बोर्ड की ओर डा. राजन चंद्र और श्री आरिफ मोहम्मद खां हाजिर हुए । उनकी ओर से यह दलील दी गई है कि इस मुद्दे से संबंधित मुस्लिम "स्वीय बोर्ड" सहित सभी लोगों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध है और इससे लैंगिक समानता के सिद्धांत का भंग भी होता है । यह दलील दी गई है कि उपर्युक्त स्थिति का सरलतापूर्वक उपचार न्यायिक हस्तक्षेप द्वारा किया जा सकता है । इस संबंध में हमारा ध्यान, संविधान के अनुच्छेद 13 की ओर दिलाया गया है जिसके अधीन यह आज्ञापक है कि इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे भाग-III के उपबंधों से असंगत हैं । यह इंगित किया गया है कि संसद् द्वारा उपर्युक्त घोषणा विधान के माध्यम से व्यक्त की जानी चाहिए और यदि संसद् ऐसा विधान बनाना नहीं चाहती है तब इस न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि ऐसी विद्यमान विधि को, जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध है और जिससे लैंगिक समानता के सिद्धांत की सीमा का अतिक्रमण होता हो, संविधान के भाग - III में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के कारण शून्य घोषित कर दिया जाए । दोनों विद्वान् काउंसेलों ने हमारा ध्यान, वर्ष 1937 के शरीयत अधिनियम के भारत के ब्रिटिश शासकों द्वारा किए गए प्रवर्तन

से आरंभ होने वाले विधायी घटनाक्रम की ओर दिलाया है, जिन्होंने महिलाओं को समुचित अधिकार प्रदत्त कराने के लिए स्वयं अत्यधिक बल दिया है । इसके साथ-साथ, मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 (पुनः ब्रिटिश शासन काल के दौरान) द्वारा मुस्लिम महिलाओं को अपने पतियों को तलाक देने का अधिकार आठ विभिन्न आधारों पर प्रदत्त किया गया था । यह दलील दी गई है कि मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों की संरक्षा जो स्वतंत्रता के पश्चात् भी बनी रहनी चाहिए थी, रुक गई और उसके परिणामस्वरूप, मुस्लिम महिलाओं को विशेषकर, अन्य धर्मों की महिलाओं की तुलना में असहनीय पीड़ा का सामना करना पड़ा है । यह इंगित किया गया है कि पीड़ा के कारणों में से एक कारण "तलाक-ए-बिद्दत" अर्थात् तीन तलाक है जो मुस्लिम महिलाओं के लिए अत्यधिक संक्षोभ और उत्क्रोश का विषय बन गया है । सुनवाई के दौरान हमारा ध्यान "कुरान" में उल्लिखित इस्लाम (अधिक जानकारी के लिए भाग III - "तलाक" से संबंधित पवित्र "कुरान" और "हदीस" देखें) के मूल आधारों और "हदीसों" की ओर दिलाया गया है । "फिकह" और "हदीस" से संबंधित इमामों के मतों और अन्य सुसंगत पाठों को यह दलील देने के लिए निर्दिष्ट किया गया है (जिनका अवलंब उनके समक्ष हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेलों द्वारा भी लिया गया है और उन्हें सम्यक् रूप से ऊपर निर्दिष्ट भी किया गया है) कि तीन तलाक को मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन तलाक देने का विधिमान्य तरीका कभी भी नहीं माना गया है । विद्वान् काउंसेल की दलीलों को स्वीकार करते हुए जिन्होंने याचियों की ओर से पहले ही इस न्यायालय की सहायता की है, यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय को तीन तलाक को असंवैधानिक घोषित करना चाहिए और यह कि इससे संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का अतिक्रमण होता है ।

62. भारत के विद्वान् महान्यायवादी श्री मुकुल रोहतगी ने अपने निवेदनों का आरंभ यह दलील देते हुए किया कि इस मामले में इस न्यायालय को यह अवधारित करना चाहिए कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा समकालीन सांविधानिक नैतिकता और संविधान के अधीन गारंटीकृत लैंगिक समानता और लिंग की समानता के सिद्धांत से मेल खाती है या नहीं । उपर्युक्त चर्चा के संबंध में, यह दलील दी गई है कि मुख्य मुद्दा जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए यह है कि क्या पंथ निरपेक्ष संविधान के अधीन मुस्लिम महिलाओं के साथ, मात्र धर्म के आधार पर पक्षपात किया

जा सकता है या नहीं । और/या मुस्लिम महिलाओं को ऐसे वातावरण में धकेला जा सकता है जो हिन्दू, ईसाई, पारसी, बौद्ध, सिख और जैन आदि धर्मों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक विभेदनीय है । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार, दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस न्यायालय द्वारा तय किए जाने के लिए मूल प्रश्न यह है कि क्या पंथ निरपेक्ष लोकतंत्र में मुस्लिम महिलाओं को धर्म के आधार पर समान हैसियत और गरिमा प्रदान करने से इनकार किया जा सकता है या नहीं ।

63. उपर्युक्त सन्दर्भ में यह इंगित किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन गारंटीकृत समता का मूल अधिकार हैसियत की समानता को स्पष्ट करता है । यह दलील दी गई है कि लिंग समता, लिंग साम्या और लिंग न्याय अनुच्छेद 14 के अधीन समता की गारंटी में अन्तर्निहित रूप से समाविष्ट महत्वपूर्ण कारक हैं । यह दलील दी गई है कि पैतृक महत्व पर आधारित सामाजिक हैसियत प्रदान करना या जन-समूह की दया पर आधारित सामाजिक हैसियत संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 की भावना से तनिक भी मेल नहीं खाती हैं । यह दलील दी गई है कि मुस्लिम महिलाओं के मानव गरिमा, सामाजिक मान-सम्मान और आत्मसम्मान से संबंधित अधिकार, संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गरिमा के साथ जीवन बिताने के लिए महत्वपूर्ण पहलू हैं । यह भी दलील दी गई है कि लिंग न्याय एक ऐसा सांविधानिक उद्देश्य है जिसका अत्यधिक महत्व और परिमाण है और इसे पूरा किए बिना देश की आधी जनसंख्या अपने अधिकारों, हैसियत और सुअवसरों का लाभ उठाने से वंचित रह जाएगी । संविधान के अनुच्छेद 51-क के खण्ड (ङ) को भी इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है :–

> "(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

तद्नुसार, यह प्राख्यान किया गया है कि मुस्लिम महिलाओं के साथ उनके पतियों द्वारा एकपक्षीय सनकी और मनमाना व्यवहार नहीं किया जा सकता है, जैसा कि हनफी शाखा वाले शिया मुसलमानों में तीन तलाक के मामले में पाया जाता है ।

64. यह दलील दी गई है कि लिंग समता और महिलाओं की गरिमा अपरक्राम्य हैं । ये अधिकार आवश्यक हैं, न केवल प्रत्येक महिला जो इस देश की समान नागरिक है, की महत्वाकांक्षा को समझने के लिए अपितु समाज के कल्याण के लिए भी आवश्यक है और साथ ही ऐसे राष्ट्र की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण है, जिसका आधा भाग महिलाओं द्वारा सृजित होता है । यह भी दलील दी गई है कि महिलाएं संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र के विकास और निर्माण में समान रूप से भागीदार हैं और ऐसा कोई भी कार्य, जिससे भारत में रहने वाले व्यक्ति की हैसियत प्रभावित होती हो वह भी उस धर्म के आधार पर जिस पर वह स्त्री या पुरुष चलता है, महत्वपूर्ण उद्देश्य को पूरा करने में अड़चन समझना चाहिए । इस संबंध में, **सी. मसिलामणि मुदालियार** बनाम **श्री स्वामीनाथस्वामी थिरुकोइल**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :–

"15. यह देखा गया है कि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों में प्रतिष्ठापित व्यक्ति की समता और गरिमा के अधिकार से जो एक ऐसा त्रिसमूह है जिसके द्वारा सामाजिक हैसियत या लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव को समाप्त किया जा सके, पूर्व विद्यमान थे अड़चने समाप्त हो गई हैं जो स्त्रियों और समाज के कमजोर वर्गों के मार्ग में खड़ी थी । एस. आर. बोमई **बनाम** भारत संघ [(1994) 3 एस. सी. सी. 1] वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उद्देशिका संविधान के मूल ढांचे का भाग है । किसी व्यक्ति की समता, स्वतंत्रता और गरिमा संबंधी न्याय के इस त्रिसमूह को बनाए रखने के लिए 'विधि के नियम' के अधीन अड़चने समाप्त की जानी चाहिए । संविधान के मूल ढांचे के अधीन समान हैसियत और अवसर को स्पष्ट किया गया है । महिलाओं का स्तर कम करने वाली 'स्वीय विधि' समता के प्रति एक अभिशाप है । 'स्वीय विधियां' संविधान से नहीं अपितु धार्मिक ग्रंथों से व्युत्पन्न होती हैं । इस प्रकार, व्युत्पन्न विधियां संविधान के साथ संगत होनी चाहिए अन्यथा वे अनुच्छेद 13 के अधीन शून्य हो जाएंगी यदि उससे मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है । समता का अधिकार एक मूल अधिकार है .... ।

[1] (1996) 8 एस. सी. सी. 525.

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

16. संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 'विकास के अधिकार का विकास' विषय पर तारीख 4 दिसंबर, 1986 को एक उद्घोषणा अंगीकृत की जिसमें भारत ने इसके अंगीकृत किए जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसका अनुसमर्थन किया । इसकी उद्देशिका के अधीन यह अनुमोदन किया गया है कि सभी मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताएं अदृश्य हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं । सभी देशों को मानव जाति के विकास और पूर्ण निर्वाह में आने वाली गंभीर रुकावटों सिविल, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के अतिक्रमण से निपटने की चिन्ता है । विकास को आगे बढ़ाने के लिए सिविल, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के कार्यान्वयन, संवर्धन और सरंक्षण की ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए ।

17. अनुच्छेद 1(1) के अधीन अन्य संक्राम्य मानव अधिकार का विकास सुनिश्चित किया गया है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति और सभी लोग आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विकास में भाग लेने के हकदार हैं जिसमें सभी मानव अधिकारों और मूल अधिकारों पर पूर्णतया ध्यान दिया जा सकता है । अनुच्छेद 6(1) के अधीन राज्य को बाध्य किया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के मानव अधिकारों और उनकी मूल स्वतंत्रताओं का जाति, लिंग, भाषा और धर्म से संबंधित किसी भेदभाव के बिना अनुपालन कराए । उप अनुच्छेद (2) के अधीन यह अधिकथित है कि सिविल, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के कार्यान्वयन, संवर्धन और संरक्षण के लिए समान रूप से ध्यान दिया जाना और तत्काल विचार किया जाना चाहिए । उप अनुच्छेद (3) इस प्रकार है कि –

> राज्य को विकास में आने वाली उन बाधाओं को हटाने का प्रयास करना चाहिए जिनसे सिविल, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का अनुपालन असफल हो जाता है । अनुच्छेद (8) के अधीन राज्य की यह बाध्यता है कि वह विकास का अधिकार दिलाने के लिए आवश्यक तरीके अपनाने का भार अपने ऊपर ले और अन्य बातों के साथ-साथ यह भी सुनिश्चित करे कि सभी व्यक्तियों को मूल संसाधन और आय प्राप्त करने के लिए समान रूप से अवसर मिले । यह सुनिश्चित करने के

लिए प्रभावी तरीके अपनाए जाने चाहिए कि विकास की प्रक्रिया में महिलाओं की सक्रिय भूमिका हो । समस्त सामाजिक अन्याय को दूर करने की दृष्टि से समुचित आर्थिक और सामाजिक सुधार किए जाने चाहिए ।

18. मानव अधिकार मानव जाति में अन्तर्निहित गरिमा और उसकी महत्ता से व्युत्पन्न होते हैं । मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रता की पुनरावृत्ति मानव अधिकारों की सार्वभौमिक उद्‌घोषणा द्वारा की गई है । लोकतंत्र, विकास और मानव अधिकारों तथा मूल स्वतंत्रताओं का सम्मान एक दूसरे पर निर्भर है और एक दूसरे को प्रबलित करते हैं । अतः, बालिकाओं सहित महिलाओं का मूल अधिकार सार्वभौमिक मानव अधिकारों के अहस्तांतरणीय, अविभाज्य और अभिन्न अंग है । व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मूल स्वतंत्रता और महिलाओं का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में समान रूप से भाग लेना राष्ट्रीय विकास, सामाजिक और पारस्परिक दृढ़ता और अभिवृद्धि के लिए सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से सहगामी है । लिंग के आधार पर किए जाने वाले किसी भी प्रकार के पक्षपात से मूल स्वतंत्रता और मानव अधिकारों का अतिक्रमण होता है ।"

अनुज गर्ग बनाम **होटल एसोसिएशन ऑफ इंडिया**[1] वाले मामले को भी निर्दिष्ट किया गया है जिसमें यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय ने लिंग समता के महत्व और पैतृक विचारधारा को त्यक्त किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है । उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र का अवलंब उस विधि को त्यक्त करने के लिए लिया है जिसके अधीन महिलाओं को इस आधार पर नियोजन से वर्जित किया गया है कि उस विधि का उद्देश्य उन्हें संरक्षण देना है । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह इस पर पुनर्विचार करे कि नैतिक रीति-रिवाज में अन्तर्विष्ट बहुमत के प्रभाव से महिलाओं की वैयक्तिक खुदमुख्तारी पर कोई आघात नहीं पहुंचता है । न्यायालय ने संयुक्त राष्ट्र के उच्चतम न्यायालय के निर्णय को भी उद्धृत किया है जिसमें "रोमानिया के पितृवाद" से होने वाले पक्षपात पर विचार किया गया है जो व्यावहारिक रूप से महिलाओं को सहारा नहीं देती अपितु उन्हें संसीमित करती है ... ।

[1] (2008) 3 एस. सी. सी. 1.

विशाखा बनाम **राजस्थान राज्य**[1] वाले मामले को भी निर्दिष्ट किया गया है जिसमें कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ होने वाले लैंगिक उत्पीड़न से संरक्षण के संदर्भ में इस न्यायालय ने महिलाओं के गरिमा के साथ जीवन के अधिकार के संबंध में मत व्यक्त किया है । इसके अतिरिक्त हमारा ध्यान **चारु खुराना** (उपर्युक्त) वाले मामले की ओर दिलाया गया है जिसमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि लिंग न्याय मानव अधिकार से उद्भूत है और एकमात्र लिंग के आधार पर कोई भी पक्षपात नहीं किया जा सकता है । विद्वान् महान्यायवादी ने **गीता हरिहरन** बनाम **भारतीय रिजर्व बैंक**[2] वाले मामले को भी उद्धृत किया जिसमें इस न्यायालय ने हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के उपबंधों का निर्वचन किया है । यह दलील दी गई है कि इस न्यायालय ने उपर्युक्त निर्णय में देशज विधि को अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय के अनुसार बनाने के लिए उपाय करने की आवश्यकता पर बल दिया है ताकि महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के पक्षपातों को समाप्त किया जा सके । यह दलील दी गई है कि संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 संविधान के मूल ढांचे के अभिन्न अंग हैं । इन अनुच्छेदों से समता का अधिकार, अपक्षपात और गरिमा के साथ जीने का अधिकार प्रबलित होता है, और ये संविधान की आधारशिला हैं । यह दलील दी गई है कि लैंगिक समानता और महिलाओं की गरिमा संविधान के मूलभूत ढांचे का अहरस्तांतरणीय और अभिन्न अंग हैं । यह दलील दी गई है कि महिलाओं को उन सभी सामाजिक बंधनों से इतनी दूर होनी चाहिए कि उन्हें संविधान के अधीन समता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू लिंग की समानता और लिंग की साम्या का अधिकार मिल सके ।

65. विद्वान् महाधिवक्ता ने यह भी इंगित किया है कि बहुत से इस्लामिक धर्मतंत्रीय देशों और ऐसे देशों, जिनमें मुसलमानों की जनसंख्या अत्यधिक है, ने तीन तलाक सहित कई महत्वपूर्ण मुद्दों में को लेकर सुधार किए हैं । इन देशों ने सुधार को स्वीकार किया है चूंकि वह इस्लाम धर्म की प्रथा के साथ संगत हैं (अधिक जानकारी के लिए भाग-5 विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का इस्लामिक और गैर-इस्लामिक देशों सहित पूरे संसार में निराकरण देखें) । विरोधाभास यह है कि भारत में मुस्लिम महिलाएं अपनी सामाजिक हैसियत को लेकर अविभावी इस्लामिक देशों में रहने वाली महिलाओं की अपेक्षाकृत अधिक नाजुक स्थिति में हैं, हालांकि भारत एक पंथनिरपेक्ष देश है । यह दलील दी गई है कि भारतीय मुस्लिम

---

[1] (1997) 6 एस. सी. सी. 241.

[2] (1999) 2 एस. सी. सी. 228.

महिलाओं की स्थिति धर्मतंत्रीय देशों में रहने वाली या उन देशों में रहने वाली मुस्लिम महिलाओं की स्थिति की तुलना में अधिक दयनीय है जहां इस्लाम धर्म उनका शासकीय धर्म है । यह दलील दी गई है कि आक्षेपित प्रथा धर्मनिरपेक्षता की गारंटी, जो संविधान का एक आवश्यक लक्षण है, के प्रतिकूल है । यह निवेदन किया गया है कि धर्म के नाम पर प्रतिगामी और अनुचित प्रथाओं की निरन्तरता ऐसे धर्मनिरपेक्ष संविधान के प्रति एक अभिशाप है जो धर्म के आधार पर पक्षपात न किए जाने की गारंटी देता है । यह भी निवेदन किया गया कि लिंग समानता और लिंग समता के संदर्भ में राज्य का सर्वप्रमुख उद्देश्य सामाजिक लोकतंत्र, जहां सभी बराबर हों, की ओर अग्रसर होना है । इस संदर्भ में डा. अम्बेडकर द्वारा तारीख 25 नवम्बर, 1948 को संविधान के प्ररूप पर दिए गए अंतिम भाषण को निर्दिष्ट किया गया, जिन्होंने कहा था :– "हमें जो करना है वह मात्र राजनैतिक लोकतंत्र की प्राप्ति नहीं है ; हमें राजनैतिक लोकतंत्र और साथ ही साथ सामाजिक लोकतंत्र को भी प्राप्त करना है । राजनीतिक लोकतंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसकी बुनियाद में सामाजिक लोकतंत्र न हो ।" सामाजिक लोकतंत्र को "एक जीवन शैली, जो स्वातंत्र्य, समता और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांतों के रूप में मान्यता प्रदान करता है" के रूप में वर्णित किया गया है । उन्होंने आगे निवेदन किया कि सामाजिक लोकतंत्र को अभिप्राप्त करने और सामाजिक और आर्थिक न्याय (जैसाकि संविधान की उद्देशिका में परिकल्पित किया गया है) अर्थात् मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों और विशेष रूप से अनुच्छेद 14, 15, 16, 21, 38, 39 और 46 में संलग्न उद्देश्यों को प्रभावी किया जाना चाहिए । विद्वान् महान्यायवादी ने इस संदर्भ में **वलसम्मा पाल** बनाम **कोचीन विश्वविद्यालय**[1] वाले मामले का अवलंब लिया और न्यायालय का ध्यान निम्नलिखित पैरा की ओर आकर्षित किया :–

> "16. संविधान का उद्देश्य पंथ निरपेक्ष समाजवादी लोकतंत्रात्मक गणराज्य स्थापित करना है जिसमें समस्त नागरिकों को प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता, जो जाति, वर्ग, धार्मिक अवरोधों से बढ़कर हो और उनके मध्य अखंड भारत में बंधुत्व को प्रोत्साहित करने वाली हो, को बढ़ाना है । इसलिए यह दायित्व नागरिकों पर है कि वे लोगों की समान प्रतिष्ठा और गरिमा को श्रेष्ठता की सीमा तक उन्नत करें । किसी लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था में मानवाधिकारों

---
[1] (1996) 3 एस. सी. सी. 545.

और सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के संवैधानिक दर्शन के उन्नयन के साथ समान आधार पर समस्त नागरिकों को पंथ निरपेक्षवाद को संविधान के मूल लक्षणों में से एक अभिनिर्धारित किया गया है । [देखें : एस. आर. बोम्मई **बनाम** भारत संघ (1994) 3 एस. सी. सी. 1] और इसकी बुनियाद समानतावादी सामाजिक व्यवस्था है । जबतक कि लोगों को ऐसी मुक्त गतिशीलता प्रदान नहीं की जाती है, जो वर्ग, जाति, धर्म या क्षेत्रीय अवरोधों से बढ़कर हो तब तक पंथ निरपेक्ष समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कठिन हो जाती है । कर्नाटक राज्य **बनाम** अप्पुबालू इंगेल और अन्य, (ए. आई. आर. 1993 एस. सी. 1126) वाले मामले में इस न्यायालय ने पैराग्राफ 34 में अभिनिर्धारित किया है कि न्यायपालिका स्वातंत्र्य न्याय और लोगों के अधिकारों के दुर्ग के रूप में कार्य करती है । न्यायाधीश राष्ट्रीय जीवन की जीवनधारा में भाग लेने वाले होते हैं जो विधि को अनम्यता (कठोरता) के खतरे और जीवन की निर्बाध बनावट में निराकार के मध्य गति प्रदान करते हैं । न्यायाधीश को विधायक की बुद्धिमत्ता से संपन्न विधिवेत्ता होना चाहिए, सत्य की खोज करने वाला इतिहासकार होना चाहिए, उसके पास पैगम्बर की दृष्टि होनी चाहिए, उसमें वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता होनी चाहिए, वास्तविकता को निर्णीत करने के प्रयोजनार्थ भविष्य की अपेक्षाओं का सामना करने का लचीलापन होना चाहिए, उसको किसी भी व्यक्तिगत प्रभाव से स्वयं को मुक्त रखना चाहिए । न्यायाधीशों को संविधान के अंतर्गत गतिशील संकल्पनाओं के उद्देश्यपरक निर्वचन अंगीकृत करने चाहिए और समय की आवश्यकता को स्पष्टतः संबोधित करते हुए अपने निर्वचनकारी शस्त्रागार का प्रयोग करते हुए कार्य करना चाहिए । सामाजिक विधायन नाजुक भाव के लिए बनाया गया दस्तावेज नहीं है किन्तु लोगों के जीवन को सुधारने का साधन है । यदि कोई विधि का अर्थान्वयन करना चाहता है, तो उसे उसकी अपनी भावना, विन्यास और इतिहास को समझना चाहिए । विधि लोगों के स्वातंत्र्य को विस्तारित करने में समर्थ होनी चाहिए और विधि व्यवस्था को अत्यधिक असाम्यापूर्ण सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद को हिला देने के प्रयोजनार्थ अधिकतम सावधानी के साथ कार्य करना चाहिए । न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोग परिवर्तनकारी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक मूल्यों की अंतदृष्टि के साथ किया जाना चाहिए । विद्यमान सामाजिक

2017(8) eILR(PAT) SC 110

> असमानताओं या असंतुलनों को विधि के नियम द्वारा सामाजिक व्यवस्था को पुनः समायोजित करते हुए दूर किया जाना अपेक्षित है ......।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

तत्पश्चात् विद्वान् महान्यायवादी ने निवदेन किया कि **वलसम्मा पाल** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैराग्राफ 20 में यह उल्लेख किया गया है कि विभिन्न हिन्दू प्रथाओं का, जो समय के अनुकूल नहीं रह गई थीं, समानता और बंधुत्व को प्रोन्नत किए जाने के हित में परित्याग कर दिया गया । इस न्यायालय ने उक्त निर्णय के पैराग्राफ 21 में "स्वीय विधि" से धर्म को पृथक् किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया था । उक्त निर्णय के पैराग्राफ 22 में राष्ट्रीय पहचान, जो भारतीय संस्कृति की अनेकता से इनकार न करती हो बल्कि उसको परिरक्षित करती हो, को विकसित किए जाने की आवश्यकता के बारे में उल्लेख किया गया था । उक्त निर्णय के सुसंगत उद्धरणों, जिनका अवलंब सुनवाई के अनुक्रम में लिया गया, को नीचे उद्धृत किया गया है :–

> "21. संविधान ने अपनी उद्देशिका, मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के माध्यम से समानता और पक्षपात विहीनता के सिद्धांतों पर आधारित पंथनिरपेक्ष राज्य सृजित किया जो समानतावादी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित किए जाने के प्रयोजनार्थ लोगों के अधिकारों और राज्य के कर्तव्यों और प्रतिबद्धताओं के मध्य संतुलन स्थापित करने वाला है । संविधान सभा में डा. के. एम. मुंशी ने दलील देते हुए कहा था कि "हम धर्म से 'स्वीय विधि' को पृथक् करना चाहते हैं जिसको जहां तक विरासत या उत्तराधिकार का संबंध है, पक्षों के अधिकारों के दृष्टिकोण से सामाजिक संबंध कहा जा सकता है । मैं यह समझ पाने में असमर्थ हूं कि इन बातों का धर्म से क्या संबंध है ? हम ऐसी अवस्था में हैं जहां हमें हर प्रकार से और धार्मिक प्रथाओं के मध्यक्षेप के बिना राष्ट्र को संगठित और समेकित करना है । तथापि, यदि भूतकाल में धार्मिक प्रथाओं का अर्थान्वयन इस प्रकार से किया गया है जिसमें जीवन के संपूर्ण क्षेत्र आच्छादित हो गए हों, तो भी हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच गए हैं जहां हमें दृढ़तापूर्वक खड़ा होना चाहिए और कह देना चाहिए कि ये मामले धर्म नहीं है, वे शुद्धतः पंथ निरपेक्ष विधान के मामले हैं । धर्म को मात्र उन क्षेत्रों तक निर्बंधित रहना चाहिए जो विधि सम्मतः धर्म से ही संबंधित हो और शेष जीवन

को ऐसी रीति में विनियमित, एकीकृत और विकसित होना चाहिए कि हम यथासंभव एक सुदृढ़ और एकीकृत राष्ट्र विकसित कर सके ।" (देखें : संविधान सभा बहस, खंड VII 356-8)

22. व्यक्ति की समानता और गरिमा पर आधारित समानतावादी पंथ निरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था को स्थापित किए जाने का प्रयास करते हुए अनुच्छेद 15(1) पक्षपात को धर्म या जातिगत पहचानों के आधार पर प्रतिषिद्ध करता है जिससे कि राष्ट्रीय पहचान को विकसित किया जा सके जिसमें भारतीय संस्कृति से अनेकता से इनकार न किया जाए बल्कि उसको परिरक्षित किया जाए । भारतीय संस्कृति महत्वहीन प्रजाति या स्वरूपों के बावजूद विभिन्न स्रोतों से प्राप्त अनेक तत्वों या अवयवों का उत्पाद या मिश्रण है । यह भावनाओं की एकता है जो सदियों से भारतीय संस्कृति को संसूचित करती रही है । यही वह अंतर्निहित एकता है जो भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक विशिष्ट, अनंत और स्थायी लक्षण है जो विभिन्न वर्गों के मध्य अनेकता में एकता को विकसित करता है । यह मैत्रीपूर्ण भावना और सहनशक्ति को उत्पन्न करती है और उसको विकसित करती है जो भारतीय परम्पराओं की एकता और निरंतरता को संभव बनाती है । इसलिए, प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रयास होना चाहिए कि वह अनेक पहचानों, जो निरंतर रूप से एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और एक दूसरे को कुछ अंश तक ढक लेती है, को विकसित करें और जीवन और समाज के युक्तिसंगत दृष्टिकोण को परिवर्तित करने के प्रयोजनार्थ विभिन्न धार्मिक समुदायों, जातियों, वर्गों, उपवर्गों और क्षेत्रों के लिए सम्मेलन बिंदु साबित हो ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

66. उन्होंने आगे यह प्रकथन किया कि समाज में महिलाओं की भूमिकाओं के बारे में पैतृक मूल्य और परंपरागत धारणाएं सामाजिक लोकतंत्र अभिप्राप्त करने के लक्ष्य में बाधा हैं । इस संबंध में उन्होंने दलील दी कि लिंग असमानता न केवल महिलाओं को प्रभावित करती है बल्कि संपूर्ण समुदाय पर प्रभाव डालती है, और संपूर्ण समाज को पिछड़ेपन से उबरने और संविधान के अंतर्गत प्रत्याभूत स्वतंत्रताओं का पूर्ण रूप से लाभ लेने से रोकती है । उन्होंने आगे निवेदन किया कि सभी समुदायों के नागरिकों को समस्त संवैधानिक प्रत्याभूतियों का उपभोग करने का अधिकार है और यदि समाज के कुछ वर्ग इस लाभ को प्राप्त करने से छूट

जाते हैं, तो इससे समस्त समुदाय के पिछड़ने की संभाव्यता होगी, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक रूप से पिछड़े हुए कुछ वर्ग का एकतरफा विकास होगा । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार इस प्रकार का एकतरफा विकास राष्ट्र की अखंडता और विकास के व्यापक हित में नहीं है । उन्होंने निवेदन किया कि पंथ निरपेक्षता, समानता और बंधुत्व को समस्त समुदायों के अभिभावी मार्गदर्शक सिद्धांत होने के कारण प्रभावी किया जाना चाहिए । इससे समस्त नागरिक महिलाओं को समान अधिकार प्रत्याभूत करते हुए आगे बढ़ेंगे और इसके साथ-साथ विविधता और अनेकता भी संरक्षित रहेगी ।

67. विद्वान् महान्यायवादी ने दृढ़तापूर्वक कथन किया कि धार्मिक स्वतंत्रता मूल अधिकारों के अधीन है । इस संबंध में उन्होंने आगे दलील दी कि संविधान के अनुच्छेद 25(1) में प्रयुक्त शब्द, जो धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और उसका प्रचार करने का अधिकार प्रदत्त करते हैं, "इस भाग के उपबंधों के अधीन हैं" जिसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त अधिकार अनुच्छेद 14 और 15 के अधीन हैं जो समता और पक्षपात विहीनता को प्रत्याभूत करते हैं । अन्य शब्दों में, भारत के पंथ निरपेक्ष संविधान के अंतर्गत धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार अन्य मूल अधिकारों के अधीन है और उनके सहायक हैं – जैसे कि समानता का अधिकार, पक्षपात विहीनता का अधिकार और गरिमा के साथ जीवन जीने का अधिकार । इस संदर्भ में **श्री वेंकटरमन देवारू** बनाम **मैसूर राज्य**[1] वाले मामले को निर्दिष्ट किया गया । उन्होंने निवेदन किया कि इस निर्णय में इस माननीय न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाले जाने के प्रयोजनार्थ कि "इस भाग के उपबंधों के अधीन" वाक्यांश के अर्थ पर विचार किया कि इस भाग के अन्य उपबंध "अभिभावी होंगे" और अनुच्छेद 25(1) द्वारा "प्रदत्त अधिकार को नियंत्रित" करेंगे ।

68. उन्होंने उपर्युक्त संदर्भ में यह भी निवेदन किया कि संविधान के अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त धर्म की स्वतंत्रता पुरुष लिंग तक सीमित नहीं है । अनुच्छेद 25 को नीचे उद्धृत किया गया है :–

> "25. अंतःकरण की और धर्म की अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता – (1) लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी

---

[1] [1958] एस. सी. आर. 895.

व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा ।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो –

(क) धार्मिक आचरण से सबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है ;

(ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए, या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को, हिन्दुओं के सभी वर्गो और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।

स्पष्टीकरण 1– कृपाण धारण करना और लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जाएगा ।

स्पष्टीकरण 2– खंड (2) के उपखंड (ख) में हिन्दुओं के प्रति-निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि उसके अंतर्गत सिख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिर्देश है और हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं के प्रतिनिर्देश का अर्थ तद्नुसार लगाया जाएगा ।"

इस बात पर विशेष बल दिया गया कि इस बात का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि अनुच्छेद 25(1) उपबंधित करता है कि "समस्त" व्यक्ति अंतःकरण की और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता के समान रूप से हकदार हैं । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार इसको इस अर्थ में समझा जाना चाहिए कि इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त अधिकार महिलाओं को भी उपलब्ध हैं और केवल पुरुषों तक सीमित नहीं हैं । इसलिए, उन्होंने दलील दी कि धर्म के किसी भी पितृ-सतात्मक या एकपक्षीय निर्वचन का अनुमोदन नहीं किया जाना चाहिए ।

69. विद्वान् महान्यायवादी द्वारा इस बात पर जोर दिया गया कि धर्म और धार्मिक प्रथाओं के मध्य एक सीमा रेखा खींची जानी चाहिए । यह निवेदन किया गया कि धार्मिक प्रथाएं अनुच्छेद 25 द्वारा संरक्षित नहीं हैं । इस न्यायालय ने **ए. एस. नारायणा दीक्षितुलु** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[1]

---

[1] [1997] 2 उम. नि. प. 305 = (1996) 9 एस. सी. सी. 548.

वाले मामले का अवलंब लिया ।

86. निस्संदेह, धर्म का आधार ऐसे विश्वासों और सिद्धांतों की पद्धति में (निहित) होता है, जो उन लोगों द्वारा, जो उस धर्म को मानते हैं, अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए सहायक माने जाते हैं । धर्म केवल मत, सिद्धांत या विश्वास मात्र नहीं है । उसकी कार्यों में बाह्य अभिव्यक्ति भी होती है । अनुच्छेद 25 और 26 द्वारा धर्म के प्रत्येक पहलू को रक्षोपाय प्रदान नहीं किया गया है और न संविधान में यह उपबंध ही किया गया है कि किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्यकलाप में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है । अतः, धर्म का, अनुच्छेद 25 और 26 के संदर्भ में, उसके कठोर और व्युत्पत्तिपरक अर्थ में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए । प्रत्येक धर्म की अंतरात्मा (अंतःकरण) और नैतिक तथा नीतिपरक उपदेशों में विश्वास होना चाहिए । अतः, जो कोई चीज मनुष्य को स्वयं उसके अंतःकरण से जोड़ती है और जो कोई भी नैतिक या नीतिपरक सिद्धांत उन मनुष्यों के जीवन को विनियमित करता है, जो इस ईश्वरवादी, अंतःकरणपरक या धार्मिक विश्वास में निष्ठा रखते हैं – केवल उसी तत्व (चीज) को संविधान में यथा-मान्य 'धर्म' गठित करने वाले तत्व के रूप में समझा जा सकता है, जो बंधुत्व, सौहार्द, भाईचारे और सभी व्यक्तियों की समता की भावना की पोषक है, जिनका आधार संविधान के लौकिक (धर्मनिरपेक्ष) आयाम (पहलू) में निहित (मौजूद) है । धर्मनिरपेक्ष (लौकिक) कार्यकलाप और पहलू धर्म गठित नहीं करते हैं, जो प्रत्येक मानव कार्यकलाप को अपने आवरण के अंतर्गत ले लेता है । ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसे मनुष्य कर सकता है, चाहे वस्त्र पहनने के कार्य में या भोजन करने या जल पीने के कार्य में, जो धार्मिक कार्यकलाप न समझी जाए । प्रत्येक सांसारिक या मानव कार्यकलाप का धर्म के आवरण (आड़) में संविधान द्वारा संरक्षण दिया जाना आशयित नहीं था । अनुच्छेद 25 और 26 द्वारा गारंटीकृत 'धर्म' या 'धर्म के विषय' या धार्मिक आचरण के संरक्षण का अर्थान्वयन करने के दृष्टिकोण को व्यावहारिकता की दृष्टि से देखा जाना चाहिए, क्योंकि, वस्तुओं की प्रकृति को देखते हुए, 'धर्म' या 'धर्म के विषय' या 'धार्मिक विश्वास या आचरण' पद को परिभाषित करना, असंभव नहीं तो, अत्यधिक कठिन अवश्य होगा ।

87. जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, भारत जैसे

बहुलतावादी समाज में ऐसे अनेक धार्मिक समूह हैं, जो उपासना के विभिन्न रूपों में विश्वास रखते (को मानते) हैं या विभिन्न धर्मों, कर्मकाण्डों और कृत्यों आदि का पालन (संपादन) करते हैं ; हिन्दुओं में भी, देश के अंदर या बाहर रहने वाले विभिन्न सम्प्रदाय या पंथ विभिन्न धार्मिक विश्वासों और पद्धतियों को मानते हैं । वे धर्म का तादात्म्य उस चीज से करने का प्रयास करते हैं, जो सारतः धर्म के विभिन्न पहलुओं में से एक पहलू के रूप में ही हो सकती है । अतः धर्म की ऐसी परिभाषा करना कठिन होगा, जो सभी धर्मों या धार्मिक आचरणों (पद्धतियों) के विषयों को लागू की जा सके । व्यक्तियों के एक वर्ग के लिए मात्र एक सिद्धांत या उपदेश धर्म के विषय में प्रमुख हो सकता है ; जबकि अन्य वर्गों के लिए, कर्मकाण्ड या अनुष्ठान धर्म के प्रमुख पक्ष हो सकते हैं ; तथा व्यक्तियों के एक अन्य वर्ग के लिए आचरण की संहिता या जीवन की पद्धति (रीति) धर्म गठित कर सकती है । एक ही धार्मिक विश्वास (सम्प्रदाय) को मानने वाले विभिन्न व्यक्तियों के लिए भी, धर्म के कुछ पहलुओं का अलग-अलग महत्व हो सकता है । अतः, इस संबंध में सामान्य उपयोज्यता की प्रमित (ठीक-ठीक) परिभाषा करना संभव नहीं होगा कि धर्म क्या है और धार्मिक विश्वास या धार्मिक आचरण के विषय क्या हैं । ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि उन परिसीमाओं को युक्तियुक्त निश्चितता के साथ वर्णित करना संभव नहीं है, जिनके अंदर संविधान में धर्म को मानने का अधिकार प्रदान किया गया है । अतः, अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन गारंटीकृत धर्म का अधिकार, धर्म का प्रचार व प्रसार करने का आत्यांतिक या अनियंत्रित अधिकार नहीं है और वह ऐसे किसी कार्यकलाप – आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या लौकिक कार्यकलाप – को सीमित या विनियमित करते हुए राज्य द्वारा विधान (बनाए जाने) के अध्यधीन है, जो कार्यकलाप धार्मिक विश्वास, निष्ठा आचरण या प्रथा से जुड़े हुए हैं । वे राज्य द्वारा समुचित विधान द्वारा सामाजिक कल्याण पर सुधार के अध्यधीन हैं । यद्यपि धार्मिक विश्वास के अनुसरण में किए जाने वाले कार्यों का निष्पादन और धार्मिक आचरण किसी विशेष सिद्धांत में निष्ठा या विश्वास के समान ही धर्म का भाग है, तथापि, स्वतः यह बात निश्चायक तथा विनिश्चायक नहीं है । यह प्रश्न कि धर्म या धार्मिक विश्वास के आवश्यक भाग क्या हैं या धर्म के विषय और धार्मिक आचरण क्या हैं – अनिवार्यतः तथ्य का प्रश्न है, जिस पर उस संदर्भ में विचार किया

जाना है, जिसमें यह प्रश्न उद्भूत होता है कि उस संदर्भ में उपस्थापित साक्ष्य पर, तात्त्विक या विधायी या ऐतिहासिक-विचार किया जाना आवश्यक होता है और उसके पश्चात् विनिश्चय किया जाना होता है ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

उपर्युक्त मत के समर्थन में इस न्यायालय का ध्यान **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले की ओर भी आकर्षित किया गया जिसमें इस न्यायालय ने निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की :-

49. मुम्बई राज्य **बनाम** नरासू अप्पा मामी (ए. आई. आर. 1952 मुम्बई 84 = क्रिमिनल ला जर्नल 354) वाले मामले में बॉम्बे प्रिवेंशन ऑफ हिन्दू बायगेमस मैरिजिस ऐक्ट (मुम्बई हिन्दू द्विविवाह निवारण अधिनियम), 1946 (1946 का 25) को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि इससे संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 25 का अतिक्रमण होता है । खंड न्यायपीठ ने, जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति छागला और न्यायमूर्ति गजेन्द्रगड़कर (जैसे कि विद्वान् न्यायमूर्ति तब थे) थे, यह अभिनिर्धारित किया –

"धार्मिक आस्था और विश्वास और धार्मिक आचरण के बीच एक सूक्ष्म विभेद किया जाना चाहिए । राज्य धार्मिक आस्था और विश्वास को संरक्षण प्रदान करता है । यदि धार्मिक आचरण लोक व्यवस्था, सदाचार या स्वास्थ्य या सामाजिक कल्याण की किसी ऐसी नीति का विरोध करते हैं जिसे राज्य ने प्रारंभ किया है, तो ऐसे धार्मिक आचरण का समस्त राज्य की जनता की भलाई के लिए त्याग किया जाना चाहिए ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

50. विद्वान् न्यायमूर्तियों ने अमेरिका के विनिश्चयों से यह उद्धृत किया कि विधियां कार्यवाही करने हेतु सरकार के लिए बनाई जाती हैं और जबकि वे धार्मिक आस्था और मतों में हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं तथापि, वे धार्मिक आचरणों में हस्तक्षेप कर सकती हैं । विद्वान् न्यायमूर्तियों ने इस प्रतिपादना को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस की कि बहुपत्नीत्व हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अंग है हालांकि हिन्दू

---

[1] [2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369.

धर्म में धार्मिक प्रभावकारिता और आध्यात्मिक मोक्ष के लिए पुत्र की आवश्यकता को मान्यता दी गई है । तथापि, इस उपधारणा के आधार पर कार्यवाही करते हुए कि हिन्दू धार्मिक आचरण के अनुसार बहुपत्नीत्व एक मान्यताप्राप्त व्यवस्था है, विद्वान् न्यायमूर्तियों ने निश्चित शब्दों में यह कथन किया –

> "विवाह से संबंधित विषयों पर विधान बनाने संबंधी राज्य के अधिकार के बारे में विवाद नहीं किया जा सकता । विवाह निस्संदेह रूप से एक सामाजिक व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था जिसमें राज्य महत्वपूर्ण रूप से हितबद्ध है । यद्यपि इस सच्चाई को सर्वव्यापी मान्यताप्राप्त न हो तथापि, आज भी विश्व के अधिकांश लोगों की राय में इस बात को स्वीकार किया गया है कि एक ही विवाह करना अत्यंत वांछनीय और सराहनीय व्यवस्था है । इसलिए, यदि मुम्बई राज्य हिन्दुओं को एक ही बार विवाह करने के लिए बाध्य करता है तो यह एक सामाजिक सुधार का उपाय है और यदि यह सामाजिक सुधार संबंधी एक उपाय है तो राज्य इस तथ्य के होते हुए भी अनुच्छेद 25(2)(ख) के अधीन सामाजिक सुधार के संबंध में विधान बनाने के लिए सशक्त है कि इससे किसी नागरिक के धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने के अधिकार में हस्तक्षेप होगा ।"

आगे यह निवेदन किया गया कि बहुविवाह जैसी प्रथाओं को धर्म द्वारा मान्यताप्राप्त कथा के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐतिहासिक रूप से बहुविवाह अनेक सदियों से अनेक समुदायों, जिनमें प्राचीन ग्रीक और रोमन, हिन्दू, यहूदी और पारसी भी सम्मिलित हैं, के बीच प्रचलित रही है । उन्होंने बताया कि बहुविवाह का धर्म से कोई संबंध नहीं है और इसका संबंध तत्समय प्रचलित सामाजिक नियमों से है । यह दलील दी गई कि ऐसा प्रतीत होता है कि कुरान में भी इस्लाम पूर्व समाज में बहुविवाह प्रचलन (या शायद निरंकुश प्रथा के रूप में) को विनियमित और निर्बंधित किए जाने की ईप्सा की गई ताकि महिलाओं के साथ इस्लाम पूर्व अवधि में होने वाले बर्ताव से बेहतर बर्ताव किया जा सके । यह निवेदन किया गया कि बहुविवाह की प्रथा एक सामाजिक प्रथा थी और न कि धार्मिक और इसलिए इस प्रथा को अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षण प्रदान नहीं किया जा सकता । यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि

"तलाक-ए-बिद्दत" भी ऐसी ही प्रथा है जिसको स्पष्ट रूप से कभी मान्यता प्रदान नहीं की गई और न ही कभी इस प्रथा को प्रोत्साहित किया गया और इस प्रथा का परीक्षण ऊपरवर्णित ऐतिहासिक स्थिति की पृष्ठभूमि में किए जाने की आवश्यकता है ।

70. विद्वान् महान्यायवादी ने हमारे समक्ष उठाए गए विवाद्यक के संदर्भ में मध्यक्षेप के मध्य अपनी बात को जारी रखते हुए और अपनी दलीलों को आगे बढ़ाते हुए विधिक उद्देश्य को अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ आगे बताया कि इसका स्पष्ट रूप से गलत अर्थान्वयन किया गया है जिसके कारण मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा **बम्बई राज्य** बनाम **नरासू अप्पा माली**[1] वाले मामले में निष्कर्ष निकाला गया । यह निवेदन किया गया कि "स्वीय विधियों" को लैंगिक न्याय और महिलाओं की गरिमा के उद्देश्य को अभिप्राप्त किए जाने के प्रकाश में स्पष्ट किया जाना चाहिए । "स्वीय विधियों" को संरक्षण प्रदान किए जाने के पीछे अंतर्निहित विचार यह था कि भारत के लोगों के मध्य अनेकता और विविधता को संरक्षण प्रदान किया जाए । तथापि, विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार इस प्रकार की विविध पहचानों को मान्यता प्रदान किया जाना महिलाओं को उनकी अधिकारपूर्ण हैसियत और लैंगिक समानता प्रदान किए जाने से इनकार किए जाने का बहाना नहीं हो सकता । उन्होंने निवेदन किया कि "स्वीय विधि" अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत "विधि" का अभिन्न भाग है । इसलिए इस प्रकार की कोई भी विधि ("स्वीय विधि") जो मूल अधिकारों से असंगत है, व्यर्थ मानी जानी चाहिए । आगे यह निवेदन किया गया कि मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान के अनुच्छेद 13 की सीमा तक किए गए निर्वचन में "स्वीय विधि" सम्मिलित नहीं है और इस प्रकार पुनर्विचारण की आवश्यकता है । प्रथमतः यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 13 में अंगीकृत सरल भाषा के पठन से स्पष्टतः साबित हो जाता है कि "स्वीय विधि" और साथ ही रीति रिवाज और रूढ़ियां "विधि" की परिधि के अंतर्गत आते हैं । अनुच्छेद 13 इस प्रकार है :–

> "13. **मूल अधिकारों से असंगत या उनका अल्पीकरण करने वाली विधियां** – (1) इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबंधों से असंगत हैं ।

---

[1] ए. आई. आर. 1952 मुम्बई 84.

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है और इस खंड के उल्लंघन में बनाई गई प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी ।

(3) इस अनुच्छेद में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो –

(क) 'विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा है ;

(ख) 'प्रवृत्त विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में किसी विधान-मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारंभ से पहले पारित या बनाई गई विधि है जो पहले ही निरसित नहीं कर दी गई है, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशिष्ट क्षेत्रों में प्रवर्तन में नहीं है ।

(4) इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी ।"

यह निवेदन किया गया कि "विधि" का अर्थ, जैसाकि अनुच्छेद 13 के खंड (2) और (3) में परिभाषित किया गया है, सर्वांगीण नहीं है और इसकी परिधि में, "स्वीय विधि" को ही सम्मिलित करके पढ़ा जाना चाहिए । यह निवेदन किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 246 के खंड (2) के अधीन संसद् और राज्य विधान-मंडल दोनों को ही सातवीं अनुसूची में समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 में सम्मिलित विषयों पर भी, "विवाह और विवाह-विच्छेद ; शिशु और अवयस्क ; दत्तक-ग्रहण ; विल ; निर्वसीयतता और उत्तराधिकार ; अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन ; वे सभी विषय जिनके संबंध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले अपनी ""स्वीय विधि" के अधीन थे, विधियां बनाने की शक्तियां प्राप्त हैं ।" चूंकि ऊपरवर्णित प्रविष्टि 5 में अभिव्यक्त विषय "स्वीय विधि" से संबंधित थे, इसलिए विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार "स्वीय विधि" संविधान के अनुच्छेद 13 के खंड (3) के उपखंड (क) के अंर्थान्तर्गत विधि में सम्मिलित किए जाने योग्य थी । यह दलील दी गई कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्ति अनुच्छेद 13 की स्पष्ट भाषा के विपरीत थी । द्वितीयतः, यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 13(3)(क) की स्पष्ट भाषा से, जो "विधि" को "विधि" के

अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई .... रूढ़ि या प्रथा है", शब्दों में परिभाषित करती है, इस विवाद्यक पर संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है । यह बताया कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में की गई मताभिव्यक्ति इतिरोक्ति की प्रकृति में थी और उस पर निर्णय के विनिश्चयाधार के रूप में विचार नहीं किया जा सकता । उन्होंने आगे निवेदन किया कि उक्त निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा पारित निर्णय होने के कारण इस न्यायालय पर बाध्यकारी नहीं है । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार उपर्युक्त से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए बिना उन सभी प्रथाओं को जिनको चुनौती दी गई है शरीयत अधिनियम द्वारा मुस्लिम "स्वीय विधि" में सम्मिलित किया गया था । उन्होंने इसका यह कारण बताया कि शरीयत अधिनियम स्पष्टतः अनुच्छेद 13(3)(ख) के अर्थान्तर्गत एक "लागू विधि" थी । यह निवेदन किया गया कि याची ने उपर्युक्त अधिनियम की धारा 2 को चुनौती दी क्योंकि यह अधिनियम तीन तलाक या "तलाक-ए-बिद्दत" (निकाह हलाला और बहुविवाह) की प्रथाओं को मान्यता प्रदान करता है और उनको विधिमान्य बनाता है । इसलिए (दलील देने के प्रयोजनार्थ) यह परिकल्पित करते हुए भी कि ये प्रथाएं कोई रूढ़ि गठित नहीं करतीं, फिर भी इन प्रथाओं को प्रकटतः अनुच्छेद 13 में सम्मिलित किया गया था ।

71. यह स्वीकार किया गया कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में अभिव्यक्त विधिक स्थिति की पुष्टि इस न्यायालय द्वारा अनेक अवसरों पर की गई है । हम विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए निवेदनों को अपने शब्दों में अभिलिखित करने के बजाय भारत संघ की ओर से इस मामले में फाइल किए गए लिखित निवेदनों में स्वीकृत स्थिति को नीचे उद्धृत करते हैं :–

> "(ङ) महत्वपूर्ण रूप से यद्यपि इस निर्णय विधि का अनुसरण कृष्णा सिंह **बनाम** मथुरा अहीर, (1981) 3 एस. सी. सी. 689 और महिर्षि अवधेश **बनाम** भारत संघ, (1994) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 713 वाले मामलों में किया गया था, उच्चतम न्यायालय ने सक्रिय रूप से 'स्वीय विधियों' का परीक्षण डेनियल लतीफी **बनाम** भारत संघ, (2001) 7 एस. सी. सी. 740 (5 न्यायाधीशों की न्यायपीठ), मुहम्मद अहमद खान **बनाम** शाह बानो बेगम, (1985) 2 एस. सी. सी. 556 (5 न्यायाधीशों की न्यायपीठ), जॉन वेलमैटोम **बनाम** भारत संघ (2003) 6 एस. सी. सी. 611 (3 न्यायाधीशों की न्यायपीठ) इत्यादि वाले मामलों में मूल अधिकारों की कसौटी पर

किया............।"

तथापि, **मसिलामणि मुदालियार** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट किया गया जिसमें यह निवेदन किया गया था कि इस न्यायालय ने **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में विपरीत दृष्टिकोण अपनाया था और अभिनिर्धारित किया था कि, "किन्तु विद्यमान विधि के क्रियान्वयन द्वारा किसी हिन्दू महिला के विरुद्ध प्रतिबंधों और पक्षपात का निराकरण करते हुए समानता का अधिकार संविधान में प्रतिष्ठापित समानता अधिकार के पुष्टिकरण में होना चाहिए और "स्वीय विधि" को भी संवैधानिक उद्देश्यों पुष्टिकरण में होने की आवश्यकता है ।" उन्होंने आगे प्रकथन किया कि इस न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया कि "स्वीय विधियों" को संविधान से अभिप्राप्त नहीं किया गया है बल्कि इनको धार्मिक धर्म ग्रंथों से अभिप्राप्त किया गया है । अतः, अभिप्राप्त विधियों को संविधान के संगत होना चाहिए अन्यथा यदि वे मूल अधिकारों के उल्लंघन का अतिक्रमण करेंगे तो अनुच्छेद 13 के अधीन शून्य हो जाएंगे ।" यह उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण है कि यह मामला हिन्दू महिला के उत्तराधिकार के अधिकारों से संबद्ध है । इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह निवेदन किया गया कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में की गई मताभिव्यक्ति कि "स्वीय विधि" अनुच्छेद 13 द्वारा आच्छादित है, सही है और इस न्यायालय के ऊपर बाध्यकारी नहीं है ।

72. यह भी दलील भी दी गई कि संविधान निस्संदेह रूप से प्रत्येक नागरिक को उसकी आस्था और विश्वास की प्रत्याभूति प्रदान करता है किन्तु आस्था के प्रत्येक पालन को धर्म और विश्वास का अभिन्न भाग अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता । अतः उन्होंने निवेदन किया कि प्रत्येक मान्य ठहराए जाने योग्य (और प्रवर्तनीय) धार्मिक प्रथा को लैंगिक समानता, लैंगिक न्याय और गरिमा के संविधानिक उद्देश्य को संतुष्ट करना चाहिए । यह प्राख्यान किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को किसी "आवश्यक धार्मिक प्रथा का भाग नहीं माना जा सकता और इसलिए इस प्रथा को अनुच्छेद 25 का संरक्षण नहीं प्रदान किया जा सकता । उन्होंने निवेदन किया कि उस परीक्षा को, जिसके आधार पर किसी आवश्यक धार्मिक प्रथा का परीक्षण किया जाना है, **हिन्दू रिलीजियस इन्डाउमेंट्स, मद्रास** बनाम **श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियार आफ शिरूर मठ**[1] वाले मामले

[1] ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 282.

को सम्मिलित करते हुए अनेक निर्णयों की शृंखला में अधिकथित किया गया है, जिसमें इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

"20. हम यह समझते हैं कि ऐसे व्यापक निबंधनों में विरचित दलील का समर्थन नहीं किया जा सकता । सर्वप्रथम किसी धर्म के सिद्धांतों के संदर्भ में प्राथमिक रूप से अभिविनिश्चित किया जाना चाहिए कि कौन सी बातें किसी धर्म के किसी आवश्यक भाग को घटित करती हैं । यदि हिन्दुओं के किसी धार्मिक संप्रदाय के सिद्धांतों में यह विहित है कि ईश्वर की मूर्ति को भोजन का अर्पण दिन के किसी विशेष पहर में किया जाना चाहिए, तो उन आवधिक धर्मानुष्ठानों का निर्वाह वर्ष की कतिपय अवधि के दौरान कतिपय तरीके से किया जाना चाहिए या धार्मिक पाठ का नियमित रूप से सस्वर पाठ होना चाहिए या पवित्र आग में आहुतियों का अर्पण होना चाहिए, तो ये सभी बातें धर्म का भाग मानी जाएंगी और मात्र यह तथ्य कि इन बातों में किसी राशि का व्यय या पुजारियों और सेवकों की नियुक्ति अंतर्वलित है या विपणन योग्य वस्तु का प्रयोग अंतर्वलित है, तो इसमें वे क्रियाकलाप किसी वाणिज्यिक या आर्थिक प्रगति के क्रियाकलाप के भाग होने के कारण पंथ निरपेक्ष क्रियाकलाप नहीं हो जाएंगे ; ये सभी धार्मिक प्रथाएं हैं और इन्हें अनुच्छेद 26(ख) के अर्थान्तर्गत धार्मिक विषय माना जाना चाहिए । अनुच्छेद 25(2)(क) में जो बात अनुध्यात है, वह धार्मिक प्रथाओं का राज्य द्वारा इस प्रकार विनियमन नहीं है और वह स्वतंत्रता जिसकी प्रत्याभूति संविधान द्वारा दी गई है बल्कि उन क्रियाकलापों का विनियमन है जो यद्यपि धार्मिक प्रथाओं से सहबद्ध है, फिर भी आर्थिक, वाणिज्यिक या राजनैतिक प्रकृति के हैं, सिवाय इसके कि वे लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य और सदाचार के विपरीत न हों । हम इस संबंध में कुछ अमेरिकन और आस्ट्रेलियन मामलों को निर्दिष्ट करेंगे जो सभी 'जेहोवा के साक्षी' के नाम से जाने जाने वाले धार्मिक संघ से संबंधित व्यक्तियों के क्रियाकलापों से उत्पन्न हुए । लोगों का यह संघ संपूर्ण आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों में स्वच्छंद रूप से बाइबल के शाब्दिक निर्वचन के संबंध में बैठकें आयोजित करता था और उन्हें समुचित धार्मिक विश्वास का सार बताता था । बाइबल के सर्वोच्च प्राधिकार से संबंधित यह विश्वास उनके द्वारा गठित अनेक मानवीय प्राधिकारियों को भी बाइबल के प्राधिकार में सम्मिलित कर लेता है ।

वे सम्राट या अन्य संवैधानिक मानवीय प्राधिकारियों के समक्ष राज निष्ठा की शपथ लेने से और यहां तक कि राष्ट्रीय ध्वज के प्रति भी सम्मान दर्शित करने से इनकार करते हैं और वे विभिन्न राष्ट्रों के मध्य समस्त युद्धों और सभी प्रकार के युद्ध क्रियाकलापों की निंदा करते हैं । वर्ष 1941 में आस्ट्रेलिया में समामेलित 'जेहोवा के साक्षियों' की एक कंपनी ने उन मामलों को उद्‌घोषित करना और उनकी शिक्षा देना आरंभ कर दिया जो युद्ध के क्रियाकलापों और राष्ट्रमंडल की सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले थे और उनके विरुद्ध राज्य के राष्ट्रीय सुरक्षा विनियमों के अधीन कार्यवाही की गई थी । सरकार की कार्यवाही की वैधता को रिट याचिकाओं के माध्यम से उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई थी और उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि सरकार की कार्यवाही न्यायसंगत थी और धारा 116, जो आस्ट्रेलिया के संविधान के अंतर्गत धर्म की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति प्रदान करती है, का राष्ट्रीय सुरक्षा विनियमों द्वारा किसी भी प्रकार से अतिलंघन नहीं किया गया । (एडिलेड कंपनी **बनाम** कॉमनवेल्थ, 67 सीएलआर 116, 127) । ये निर्विवाद रूप से राजनैतिक क्रियाकलाप थे यद्यपि वे एक ऐसे धार्मिक विश्वास से उत्पन्न हुए थे जिनका पालन एक विशिष्ट समुदाय द्वारा किया जाता था । ऐसे मामलों में, जैसाकि मुख्य न्यायमूर्ति लैथेम ने बताया, धर्म के संरक्षण के लिए बनाया गया उपबंध ऐसा आत्यंतिक संरक्षण नहीं है जिसका संविधान के अन्य उपबंधों से स्वतंत्र रहते हुए निर्वचन किया जाना चाहिए और जिसे संविधान के उपबंधों से स्वतंत्र रहते हुए लागू किया जाना चाहिए । इन विशेषाधिकारों पर शांति, सुरक्षा और व्यवस्थित जीवन जीने के अधिकार को सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रभुसत्ता-संपन्न शक्ति को लागू किए जाने के राज्य के अधिकार पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए जिसके बिना सिविल स्वाधीनता की संवैधानिक प्रत्याभूति एक उपहास बनकर रह जाएगी ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

इसके पश्चात्, **रतीलाल** बनाम **मुम्बई राज्य**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश किया गया था, जिसमें निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की गई :–

[1] ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 388.

"13. धार्मिक विश्वास के मतावलम्बन में धार्मिक प्रथाएं या धार्मिक कार्यों के निर्वहन धर्म के उसी प्रकार से भाग हैं जैसे कि विशिष्ट सिद्धांतों में आस्था या विश्वास । अतः यदि जैन या पारसी धर्म के सिद्धांत ऐसे कतिपय अनुष्ठानों या धर्मानुष्ठानों को अधिकथित करते हैं जिनका निर्वहन किसी विशिष्ट समय में और किसी विशिष्ट रीति में किया जाना है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे पंथनिरपेक्ष क्रियाकलाप हैं जो मात्र इस कारणवश वाणिज्यिक या आर्थिक प्रकृति के प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें धर्म का व्यय या पुजारियों का नियोजन या किसी विपणन योग्य वस्तु का प्रयोग अंतर्वलित होता है । किसी भी बाह्य प्राधिकारी को यह कहने का अधिकार नहीं है कि वे धर्म के आवश्यक भाग नहीं हैं और राज्य के पंथनिरपेक्ष प्राधिकारी को यह अधिकार नहीं है कि वह उन्हें किसी भी ऐसी रीति में निषिद्ध या प्रतिषिद्ध कर सके जिसमें वह उन्हें न्यास की संपदा को शासित किए जाने के बहाने निषिद्ध या प्रतिषिद्ध करना चाहता । निश्चित रूप से, इन धार्मिक अनुष्ठानों के संबंध में उपगत खर्चों का मापमान धार्मिक संस्थाओं से संबंधित संपत्ति के प्रशासन का मामला है ; और यदि इन शीर्षों पर किए गए खर्चों के संबंध में यह संभाव्यता है कि वे न्यस्त संपत्तियों को पृथक् कर देंगे या संस्था के स्थायित्व को प्रभावित कर देंगे तो राज्य अभिकरणों द्वारा निश्चित रूप से समुचित नियंत्रण का प्रयोग किया जा सकता है, जैसाकि विधि द्वारा उपबंधित किया गया हो । हम इस संबंध में जमशेदजी **बनाम** सूना भाई 33 बाम्बे 122 वाले मामले में न्यायमूर्ति डावर द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट करेंगे और यद्यपि वे मताभिव्यक्तियां एक ऐसे मामले में की गई थीं जिसमें यह प्रश्न अंतर्वलित था कि क्या मुक्ताद बाज, ब्येजाशिनी जैसे धर्मानुष्ठानों को, जिन्हें पारसी धर्म द्वारा मान्यता प्रदान की गई, सतत रूप से आयोजित किए जाने के उद्देश्य के लिए पारसी वसीयतकर्ता द्वारा संपत्ति की वसीयत विधिमान्य पूर्त भेंट थी, हम समझते हैं कि ये मताभिव्यक्तियां हमारे वर्तमान प्रयोजनार्थ नितांत रूप से समुचित हैं ; अतः विद्वान् नयायाधीश ने मताभिव्यक्ति की कि यदि समुदाय का ऐसा विश्वास है और पारसी समुदाय के विश्वास के आधार पर यह निर्विवाद रूप से साबित हो गया है – तो एक पंथनिरपेक्ष न्यायाधीश उस विश्वास को स्वीकार करने के लिए बाध्य है – यदि उसे दानदाता, जो किसी के पक्ष में इस विश्वास के आधार पर उपहार देता है कि ऐसा वह अपने धर्म के

अनुसरण में और समुदाय या मानवता के कल्याण में कर रहा है, के अंतःकरण में मध्यक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है, तो वह इस विश्वास के आधार पर निर्णय करने से बच नहीं सकता । हमारे विचार में, ये मताभिव्यक्तियां उस संरक्षण के संबंध में की गई हैं जिसे हमारे संविधान के अनुच्छेद 26(ख) द्वारा प्रदान किया गया है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

हमारा ध्यान **कुरेशी** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले की ओर आकर्षित किया गया जिसमें इस न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"13. अब हम याचियों के मूल अधिकारों के अतिक्रमण के संबंध में दी गई दलीलों पर विचार करते हैं, हमारे लिए यह सुविधाजनक होगा कि अनुच्छेद 25(1) के अंतर्गत फाइल की गई शिकायत पर पहले विचार करें । यह अनुच्छेद इस प्रकार है –

'लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा ।'

इस न्यायालय ने खंड (2) के उपबंधों, जो कतिपय अपवाद अधिकथित करते हैं और जो वर्तमान प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं है, को निर्दिष्ट करने के पश्चात् रती लाल पान चंद गांधी **बनाम** बाम्बे राज्य [1954] एस. सी. आर. 1055, 1062, 1063] वाले मामले में इस अनुच्छेद के अर्थ और परिधि को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया –

'अतः निबंधनों, जो यह अनुच्छेद अधिरोपित करता है, के अध्यधीन रहते हुए, प्रत्येक व्यक्ति को हमारे संविधान के अंतर्गत न केवल अपनी धार्मिक आस्था, जिसका अनुमोदन न केवल उसके अपने निर्णय या अंतःकरण द्वारा किया गया हो, बल्कि उसकी अपनी आस्था का प्रदर्शन किए जाने के द्वारा भी किया गया हो, को मानने का मूल अधिकार प्राप्त है किन्तु यह धारा याचियों के विचारों, जिनको उसके धर्म द्वारा आदेशित किया गया है या मंजूरी प्रदान की गई है और साथ ही अन्य लोगों की

---

[1] ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 731.

आत्मिक उन्नति के प्रयोजनार्थ अपने धार्मिक विचारों का आगे प्रचार प्रसार करने के लिए प्रदान किए गए मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है । यह अतात्विक भी है कि क्या किसी व्यक्ति द्वारा अपनी आस्था का प्रचार प्रसार अपनी व्यक्तिगत हैसियत में किया गया है या किसी चर्च या संस्था की ओर से । धर्म, जिसका आशय धार्मिक आस्था के मतावलंबन में बाहरी रूप से दिखाई देने वाले कार्यों के निर्वहन से है, का मुक्त रूप से प्रयोग लोक व्यवस्था, लोक स्वास्थ्य और लोक नैतिकता को सुनिश्चित किए जाने के प्रयोजनार्थ अधिरोपित किए जाने वाले राज्य विनियमों के अध्यधीन है ।'

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

अतः अब हम जिस बात की जांच करेंगे, वह हमारे समक्ष इस दावे को साबित किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रस्तुत की गई सामग्री है कि क्या इस्लाम द्वारा गाय की कुर्बानी के लिए धार्मिक रूप से आदेशित किया गया है या मंजूरी प्रदान की गई है ? हमारे समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री अत्यंत अपर्याप्त है और यह आश्चर्यजनक है कि इस प्रकार के मामले में याचिका में किए गए अभिवाक् अत्यधिक अस्पष्ट है । 1956 की बिहार याचिका संख्या 58 में जो सुस्पष्ट अभिकथन किए गए, वे निम्नलिखित हैं –

'यह कि याची सादर आगे यह निवेदन करते हैं कि उक्त आक्षेपित मूल अधिकार, जो संविधान के अनुच्छेद 25 के अंतर्गत प्रत्याभूत किया गया है, के अंतर्गत बकरीद के अवसर पर उनके समुदाय के द्वारा पालन की जाने वाली धार्मिक प्रथा है जिसमें उक्त अवसर पर गाय की कुर्बानी की जाए । समुदाय के गरीब सदस्य प्रायः समुदाय के सात सदस्यों के नाम पर एक गाय की कुर्बानी करते हैं जबकि समुदाय के प्रत्येक सदस्य के नाम पर एक भेड़ या एक बकरे की कुर्बानी देनी पड़ेगी जो कि बहुत मंहगी पड़ेगी । आक्षेपित धारा द्वारा अधिरोपित पूर्ण पाबंदी के परिणामस्वरूप याचियों को उक्त कुर्बानी को करने की अनुज्ञा नहीं होगी जो कि उनके धर्म में एक प्रथा और रूढ़ि है और जिसके लिए पवित्र कुरान द्वारा आदेशित किया गया है और जिसका पालन अनंत काल से मुस्लिमों द्वारा किया जाता रहा है और जिसे भारत में भी मान्यता प्राप्त हैं ।'

अन्य याचिकाओं में किए गए अभिकथन भी इसी प्रकार के हैं । इन अभिकथनों से भी विपक्ष द्वारा अपने शपथपत्र के पैरा 21 में सुस्पष्ट रूप से इनकार किया गया है । किसी भी व्यक्ति, जो इस्लाम के सुसंगत सिद्धांतों की व्याख्या करने के लिए विशेष रूप से सक्षम हो, द्वारा कोई शपथपत्र फाइल नहीं किया गया । याचिका में पवित्र कुरान की ऐसी किसी भी विशिष्ट सुरा को कहीं पर भी निर्दिष्ट नहीं किया गया है जो गाय की कुर्बानी की अपेक्षा करती हो । हमारे समक्ष दलीलों के दौरान जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है, वे सुरा 22 'आयत' 28 और 33 और सुरा 108 हैं । पवित्र किताब जो आदेशित करती है, यह है कि लोगों को ईश्वर के सामने प्रार्थना करनी चाहिए और कुर्बानी करनी चाहिए । हमारे समक्ष किसी भी मौलाना द्वारा इन 'आयतों' के आशयों को स्पष्ट करते हुए या इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए कोई भी शपथपत्र प्रस्तुत नहीं किया गया है । तथापि, हम इसे हदया की पुस्तक सं. 43 के पृष्ठ सं. 592 पर अधिकथित पाते हैं कि यह प्रत्येक स्वतंत्र मुसलमान, जो परिपक्वता की आयु प्राप्त कर चुका है, का कर्तव्य है कि वह ईद कुर्बान या कुर्बानी के त्यौहार के अवसर पर कुर्बानी दे यदि वह समर्थ है और यात्रा पर नहीं है । एक व्यक्ति के लिए बकरे की कुर्बानी निर्धारित है और सात व्यक्तियों के लिए एक गाय या एक ऊंट की कुर्बानी निर्धारित है । अतः किसी मुसलमान के लिए यह विकल्प है कि एक व्यक्ति के लिए एक बकरी की या सात व्यक्तियों के लिए एक गाय या एक ऊंट की कुर्बानी दे । यह बाध्यकारी प्रतीत नहीं होता कि किसी व्यक्ति को गाय की ही कुर्बानी देनी होगी । किसी विकल्प का तथ्य किसी बाध्यकारी कर्तव्य के विपरीत प्रतीत होता है । तथापि, यह दलील दी गई है कि कोई व्यक्ति, जिसके परिवार में छह व्यक्ति हैं, गाय की कुर्बानी का खर्च वहन कर सकता है, किन्तु सात बकरों की कुर्बानी का खर्च वहन नहीं कर सकता । अतः ऐसे मामलों में आर्थिक विवशता तो हो सकती है किन्तु कोई धार्मिक विवशता नहीं हो सकती । यह दलील भी दी गई कि भारतीय मुसलमान अनंत काल से गाय की कुर्बानी दे रहे हैं और इस प्रथा को, यदि वह आदिष्ट नहीं है निश्चित रूप से उनके धर्म द्वारा मंजूरी दी गई है और उनकी यह धार्मिक प्रथा अनुच्छेद 25 द्वारा संरक्षित है । यद्यपि याचियों का दावा है कि गाय की कुर्बानी अनिवार्य है, राज्य ने इस धार्मिक प्रथा की अनिवार्यता से इनकार किया है । जिस तथ्य पर प्रत्यर्थियों द्वारा जोर दिया गया और

जिससे इनकार नहीं किया जा सकता, यह है कि बड़ी संख्या में मुसलमान बकरीद के अवसर पर गाय की कुर्बानी नहीं करते । यह भारत के सर्वविदित इतिहास का भाग है कि मुगल सम्राट बाबर ने गायों के कत्ल को धार्मिक कुर्बानी के रूप में प्रतिषिद्ध किया था और अपने पुत्र हुमायूं को भी ऐसा ही करने के लिए निर्देशित किया था । कहा जाता है कि इसी प्रकार से सम्राट, अकबर, जहांगीर और अहमद शाह ने भी गाय के कत्ल को प्रतिषिद्ध किया था । मैसूर के नवाब हैदर अली ने भी गाय के कत्ल को अपराध घोषित किया था और इस अपराध के अपराधियों के हाथ काटे जाने के लिए दंडनीय बनाया था । वर्ष 1953 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा स्थापित गोसंवर्धन जांच समिति के तीन सदस्य मुस्लिम थे और उन्होंने गायों के कत्ल पर पूर्ण प्रतिबंध लगाए जाने की सिफारिश सर्वसम्मति से की थी । हमारे समक्ष अभिलेख पर ऐसी कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर हम ऊपरवर्णित तथ्यों के आधार पर यह कह सकें कि इस दिवस पर गाय की कुर्बानी किसी मुसलमान के लिए उसकी धार्मिक आस्था और विचार को प्रदर्शित किए जाने के प्रयोजनार्थ एक खुल्लमखुल्ला किए जाने वाला कार्य है । इस पृष्ठभूमि, में हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम याचियों के इस दावे को मान्य ठहरा सकें ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

विद्वान् महान्यायवादी ने **गुजरात राज्य** बनाम **मिर्जापुर मोती कुरैशी कसाब जमात**[1] वाले मामले को भी उद्धृत किया और उक्त मामले में की गई निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया :–

"22. इस न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** आशुतोष लाहिरी (1995) 1 एस. सी. सी. 189 वाले मामले में उल्लेख किया है कि बकरीद के अवसर पर धार्मिक उद्देश्य के प्रयोजनार्थ मुसलमानों द्वारा किसी पशु की कुर्बानी में गायों का कत्ल कुर्बानी के एकमात्र उपाय के रूप में सम्मिलित नहीं है । बकरीद पर गायों का कत्ल न तो आवश्यक है और न ही धार्मिक अनुष्ठान के रूप में आवश्यक रूप से अपेक्षित है । कोई वैकल्पिक धार्मिक प्रथा अनुच्छेद 25(1) को अंतर्गत नहीं आती है । इसके विपरीत, यह सामान्य जानकारी का विषय है कि गाय और उसका वंश अर्थात् सांड, बैल और बछड़ों को

[1] (2005) 8 एस. सी. सी. 534.

हिन्दुओं द्वारा दीपावली और अन्य त्यौहारों जैसे कि मकर संक्रांति और गोपाष्टमी के अवसरों पर विनिर्दिष्ट दिवसों पर पूजा जाता है । बड़ी संख्या में ऐसे मंदिर हैं जहां 'नंदी' या 'सांड' की प्रतिमा की नियमित रूप से पूजा की जाती है । तथापि, हम इस प्रश्न में और अधिक अन्तर्वलित होना नहीं चाहते और हम पक्षों के विद्वान् काउंसेलों से निष्पक्षतापूर्वक कहना चाहते हैं कि किसी भी पक्ष ने निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई अपील की प्रतिरक्षा या विरोध में धर्म या संविधान के अनुच्छेद 25 का अवलंब लिए जाने के द्वारा कोई दलील देने का प्रयास नहीं किया है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

अंततः हमारा ध्यान **सैदना ताहर सैफुद्दीन साहेब** बनाम **मुम्बई राज्य**[1] वाले मामले की ओर आकर्षित किया गया, जिसमें निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की गई है :–

"60. किन्तु जब किसी ऐसे विधान, जिसके बारे में 'सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए उपबंधित किए जाने' के एकमात्र उपाय के रूप में दावा किया गया है, पर विचार किया जाता है, तब अत्यंत भिन्न विचार उत्पन्न होते हैं । आरंभिकतः, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह वाक्यांश सटीक नहीं है और इसकी अंतर्वस्तु में लचीलापन है, जैसाकि अनुच्छेद 25(2)(ख) के द्वितीय भाग द्वारा भी विरोध किया गया है । इस संबंध में इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि लोक व्यवस्था, नैतिकता या स्वास्थ्य के आधार पर धार्मिक प्रथाओं पर अधिरोपित परिसीमाएं को अनुच्छेद 25(1) के आरंभिक शब्दों द्वारा पहले ही व्यावृत्त किया जा चुका है और यह व्यावृत्ति आस्थाओं और प्रथाओं को आच्छादित करेगी चाहे उन्हें उन लोगों के द्वारा, जो धर्म का पालन करते हैं, आवश्यक या महत्वपूर्ण समझा गया हो । मेरा विचार है कि उस संदर्भ को ध्यान में रखते हुए, जिसमें यह वाक्यांश उत्पन्न हुआ, यह आशयित है कि मात्र उन विधियों की विधिमान्यता को व्यावृत्त किया जाए जो धर्म की आधारभूत और आवश्यक प्रथाओं, जो अनुच्छेद 25(1) के प्रभावी भाग द्वारा दो कारणों से प्रत्याभूत हैं, पर आक्रमण न करती हो ; (1) वास्तव में व्यावृत्ति को धर्म की आवश्यक आधारभूत प्रथाओं को आच्छादित करने

[1] ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853.

वाले के रूप में पढ़े जाने पर धार्मिक स्वातंत्र्य की संपूर्ण प्रत्याभूति अकृत और अर्थहीन हो जाएगी – कोई ऐसा स्वातंत्र्य जो मात्र प्रदर्शन किए जाने के प्रयोजनार्थ नहीं है बल्कि धर्मपालन के प्रयोजनार्थ है, अत्यंत लघु संख्या में विधानों के द्वारा उन धार्मिक प्रथाओं को निराकृत किए जाने के प्रयोजनार्थ हैं जो 'सामाजिक कल्याण या सुधार के लिए उपबंध' शीर्षक के अंतर्गत सम्मिलित किए जाने योग्य नहीं पाए गए । (2) यदि अभी-अभी उद्धृत किए गए वाक्यांश की बाबत यह आशयित था कि उसका क्रियान्वयन अत्यधिक व्यापक होगा और इतना तीखा जितनी कि अनुच्छेद 25(1) द्वारा प्रत्याभूत अनिवार्य बातें हैं, तो किसी विशेष उपबंध, जैसे कि हिन्दुओं के सभी वर्ग के लिए 'हिन्दू धार्मिक संस्थाओं के खोले जाने' की कोई आवश्यकता नहीं होती चूंकि इस उपबंध द्वारा अनुध्यात विधान अनेक सामाजिक सुधारों के मुकाबले सर्वोत्कृष्ट होगा ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

73. यह उल्लेख किया गया कि मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड अर्थात् इस याचिका में प्रत्यर्थी सं. 3 द्वारा फाइल किए गए अगस्त, 2016 के प्रति-शपथपत्र में तीन तलाक की प्रथा (साथ में "निकाह हलाला" और बहुविवाह) को "अवांछनीय" कहकर निर्दिष्ट किया गया है । तद्नुसार आगे यह निवेदन किया गया कि किसी भी "अवांछनीय" प्रथा, और वह भी उस प्रथा को, जिसने संबंधित धर्म के आधार का स्वरूप प्राप्त कर लिया है, को "अनिवार्य प्रथा" का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता ।

74. भारत संघ की ओर से यह प्राख्यान किया गया कि भारत देश अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं, जिनमें वह एक पक्ष है, में प्रतिष्ठापित सिद्धांतों का पालन करने की बाध्यता के अधीन है । भारत संयुक्त राष्ट्र का संस्थापक सदस्य होने के कारण उसके घोषणा पत्र से बंधा हुआ है जिसकी उद्देशिका में लैंगिक समानता को मानव अधिकार के रूप में सम्मिलित किए जाने की घोषणा करते हुए और मनुष्य की गरिमा के द्वारा मूल मानवाधिकारों में विश्वास की पुष्टि करते हुए और पुरुषों और महिलाओं को समान अधिकार प्रत्याभूत करते हुए सर्वप्रथम किसी अंतरराष्ट्रीय करार को सम्मिलित किया गया था । उन्होंने आगे निवेदन किया कि महत्वपूर्ण रूप से यूनाइटेड नेशन्स कमीशन ऑन दि स्टेट्स ऑफ वूमेन (महिलाओं की हैसियत पर संयुक्त राष्ट्र आयोग) की बैठक सर्वप्रथम फरवरी, 1947 में हुई जिसमें 15 राष्ट्रों ने भाग लिया – सभी राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व महिलाओं द्वारा किया गया

जिनमें भारत भी सम्मिलित था (भारत का प्रतिनिधित्व शरीफाह हामिद अली ने किया था) । इस आयोग ने अपने प्रथम सत्र के दौरान राष्ट्रीयता, प्रजाति, भाषा या धर्म को ध्यान में न रखते हुए महिलाओं की हैसियत में मानवीय उद्यम के समस्त क्षेत्रों में पुरुषों के समान स्तर पर बढ़ोतरी किए जाने की शपथ को सम्मिलित करते हुए और कानून, विधिक सिद्धांतों या नियमों या रूढ़िवादी विधि के निर्वचन के उपबंधों में महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के पक्षपात को समाप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ मार्गदर्शक सिद्धांतों की घोषणा की । यूनाइटेड नेशन्स कमीशन ऑन द स्टेट्स ऑफ वूमेन (महिलाओं की हैसियत पर संयुक्त राष्ट्र आयोग) प्रथम सत्र ई/281/खंड 1 फरवरी 25, 1947) । यह निवेदन किया गया कि यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्युमन राइट्स (मानवाधिकारों का वैश्विक घोषणा पत्र) 1948, इंटरनेशनल कोवनेंट ऑफ इकोनॉमिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स (आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा), 1966 और इंटरनेशनल कोवनेंट सोशल एंड पॉलिटिकल राइट्स (सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा) 1966 में पुरुषों और महिलाओं के मध्य समानता पर बल दिया गया है । महिलाओं के संबंध में अन्य सुसंगत अंतरराष्ट्रीय लिखतों, जो हमारे संज्ञान में लाई गई, में कन्वेंशन ऑन दि पॉलिटिकल्स राइट्स ऑफ वूमेन (महिलाओं के राजनैतिक अधिकारों का कन्वेंशन, 1952, डिक्लेरेशन ऑन दि प्रोटेक्शन ऑफ वूमेन एंड चिल्ड्रेन इन इमरजेंसी एंड आर्म कनफ्लिक्ट (आपातकाल और सशस्त्र संघर्ष में महिलाओं और बच्चों के संरक्षण पर घोषणा पत्र), 1954 इंटर अमेरिकन कन्वेंशन फार दि प्रिवेंशन, पनीशमेंट एंड इलिमिनेशन ऑफ वायलेंस अगेंस्ट वूमेन्स (महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के निवारण, दंड और समाप्ति के लिए अंतर अमेरिकन कन्वेंशन) 1955, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑन डेमोक्रेसी (लोकतंत्र पर वैश्विक घोषणा पत्र) 1997 और ऑप्शनल प्रोटोकॉल टू दि कन्वेंशन ऑन दि इलिमिनेशन ऑफ ऑल फार्म्स ऑफ डिसक्रिमिनेशन अगेंस्ट वूमेन (महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के पक्षपातों की समाप्ति पर कन्वेंशन की बाबत वैकल्पिक प्रोटोकॉल) 1999 सम्मिलित हैं । विद्वान् महान्यायवादी ने आगे यह निवेदन किया कि भारत सरकार ने वियना घोषण पत्र और कन्वेंशन ऑन दि इलिमिनेशन ऑफ ऑल फार्म्स ऑफ डिसक्रिमिनेशन अगेंस्ट वूमेन, (सीईडीएडब्ल्यू) (महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के पक्षपात की समाप्ति पर कन्वेंशन) पर तारीख 19 जून, 1993 को हस्ताक्षर किए हैं । सीईडीएडब्ल्यू की उद्देशिका में दोहराया गया है कि महिलाओं के विरुद्ध पक्षपात से मानवीय गरिमा के लिए अधिकार

और सम्मान के समानता के अधिकारों के सिद्धांतों का अतिक्रमण होता है और यह असमानता पुरुषों के साथ समान शर्तों के आधार पर उनके देश के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में बाधा थी । उन्होंने जोर दिया कि इस प्रकार की असमानता सामाजिक और पारिवारिक जीवन में व्यक्तित्व के विकास में बाधा थी और महिलाओं की संभाव्यताओं के पूर्ण विकास में, उनके देश और मानवता की सेवा में अत्यधिक कठिनाइयां उत्पन्न कर रही थीं । यह बताया गया कि सीईडीएडब्ल्यू का अनुच्छेद 1 महिलाओं के प्रति विभेद को परिभाषित करता है जबकि अनुच्छेद 2(ख) महिलाओं के विरुद्ध प्रति विभेद की समाप्ति के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए "महिलाओं के प्रति समस्त विभेदों को प्रतिषिद्ध किए जाने के प्रयोजनार्थ, जहां तक संभव हो, मंजूरियों को सम्मिलित करते हुए समुचित विधायी और अन्य उपायों को अंगीकृत करते हुए" राज्य को आदेशित करता है । अनुच्छेद 2 का खंड (ग) हस्ताक्षर करने वाले राज्यों को महिलाओं के अधिकारों के विधिक संरक्षण को सुनिश्चित किए जाने के लिए आदेशित करता है और अनुच्छेद 3 पुरुषों के मुकाबले में समानता के आधार पर मानवीय अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रयोग और भोग को प्रत्याभूत करने के लिए महिलाओं के संपूर्ण विकास और उन्नति को सुनिश्चित किए जाने के लिए समुचित उपाय किए जाने के लिए राज्य को आदेशित करता है । आगे यह निवेदन किया गया कि समानता के सिद्धांतों की पुनः पुष्टि 1993 के जून माह में वियना में आयोजित मानवाधिकारों पर द्वितीय विश्व सम्मेलन और 1995 में बीजिंग में आयोजित महिलाओं पर चतुर्थ विश्व सम्मेलन में की गई थी । यह बताया गया कि भारत उस सम्मेलन और अन्य घोषणा पत्रों का एक पक्ष था और उन घोषणा पत्रों को वास्तविकता प्रदान करने के लिए प्रतिबद्ध है । यह प्राख्यान किया गया कि 1993 के सम्मेलन में लिंग आधारित हिंसा और लैंगिक उत्पीड़न की समस्त कोटियों और शोषण की भर्त्सना की गई थी ।

75. अंततः महान्यायवादी ने यह बताया कि संपूर्ण विश्व में अभिभावी अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्ति, जिसके अंतर्गत "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया है (विवरण के लिए देखें पैरा 5-संपूर्ण विश्व में इस्लामिक और साथ ही गैर इस्मालिक देशों में विधायन द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निरसन) । उन निवेदनों, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, के आधार पर यह दलील दी गई कि इस बात का उल्लेख किया जाना नितांत रूप से महत्वपूर्ण है कि बड़ी संख्या में मुस्लिम देशों या अन्य देशों में जैसे कि पाकिस्तान, बांग्लादेश, अफगानिस्तान, मोरक्को,

ट्यूनेशिया, तुर्की, इंडोनेशिया, मिश्र, ईरान और श्रीलंका, जहां बड़ी संख्या में मुस्लिम जनसंख्या है, में महत्वपूर्ण सुधार किए गए हैं और तलाक विधि को विनियमित किया गया है । यह बताया गया कि पाकिस्तान में विधान की अपेक्षा है कि पुरुष को माध्यस्थम् परिषद् की अनुज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है । यह बताया गया कि बांग्लादेश की प्रथा भी पाकिस्तान के ही समान है । यह बताया गया कि ट्यूनेशिया और तुर्की भी न्यायेत्तर तलाक, जो "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रकृति का है, को मान्यता प्रदान नहीं करते । अफगानिस्तान में ऐसे "तलाक" को जो एक ही बार में तीन बार उद्बोधन करके दिया जाता है, अविधिमान्य माना जाता है । मोरक्को और इंडोनेशिया में "तलाक" की कार्यवाही पंथनिरपेक्ष न्यायालयों में होती है और उन कार्यवाहियों के दौरान बीच-बचाव और सुलह को प्रोत्साहित किया जाता है और पुरुषों और महिलाओं को पारिवारिक और "तलाक" के मामलों में समान रूप से महत्व दिया जाता है । इंडोनेशिया में "तलाक" एक न्यायिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत उन लोगों को जिनका विवाह इस्लामी विधि के अंतर्गत हुआ है, "तलाक" के लिए धार्मिक न्यायालय की शरण में जा सकते हैं जबकि अन्य इसी प्रयोजन के लिए जिला न्यायालयों की शरण में जा सकते हैं । ईरान और श्रीलंका में "तलाक" किसी काजी और/या किसी न्यायालय द्वारा, केवल तभी प्रदान किया जा सकता है जब सुलह के समस्त प्रयास विफल हो गए हों । यह निवेदन किया गया कि कट्टरपंथी इस्लामिक देशों में भी विधि के इस क्षेत्र में सुधार हुए हैं और इसलिए भारत जैसे पंथनिरपेक्ष गणतंत्र में इस बाबत कोई कारण नहीं है कि महिलाओं को उन अधिकारों से वंचित किया जाए जो उन्हें समस्त मुस्लिम देशों में भी प्राप्त है । यह निवेदन किया गया कि इस तथ्य से कि मुस्लिम देशों में अत्यधिक सुधार हुए हैं, यह बात साबित हो जाती है कि प्रश्नगत प्रथा अनिवार्य रूप से धार्मिक प्रथा नहीं है ।

76. यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त परिस्थितियों में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अधीन संरक्षण प्रदान नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त, चूंकि अनुच्छेद 25(1) संविधान के भाग 3 के अधीन है, इसलिए इसे संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 द्वारा प्रदत्त अधिकारों के सामंजस्य में होना चाहिए और न कि उसके अतिक्रमण में । यह निवेदन किया गया कि चूंकि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा उपर्युक्त अनुच्छेदों में अभिव्यक्त मूल सिद्धांतों का स्पष्टतः अतिक्रमण करती है, इसलिए इसे असंवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए ।

77. हमारे लिए एक दिलचस्प घटना को स्मरण करना आवश्यक है

जो सुनवाई के दौरान घटित हुई । विद्वान् महान्यायवादी, जिसने ऊपरवर्णित तरीके में इस न्यायालय की सहायता की, इस बाबत भी स्पष्ट थे कि "तलाक" प्राप्त करने के लिए मुस्लिम पुरुषों को उपलब्ध अन्य प्रक्रियाएं जैसे कि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" भी उन्हीं कारणोंवश असंवैधानिक घोषित किए जाने योग्य हैं जिन कारणोंवश "तलाक-ए-बिद्दत" को असंवैधानिक घोषित किए जाने की ईप्सा की गई है । इस संबंध में उनके द्वारा दी गई दलील यह थी कि चूंकि "तलाक-ए-बिद्दत", "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" पति की एकपक्षीय इच्छा पर आधारित है, इसलिए इनमें से किसी भी प्रकार के "तलाक" के लिए पति के पास अपनी पत्नी को "तलाक" देने के लिए किसी युक्तिसंगत कारण की उपलब्धता की अपेक्षा नहीं की गई है और इनमें से किसी के लिए भी पत्नी के ज्ञान में लाए जाने या उसको सूचना की आवश्यकता नहीं है और न ही इस प्रकार की प्रक्रियाओं में पत्नी की जानकारी या उसकी सहमति अपेक्षित है । यह निवेदन किया गया था कि और इस प्रकार "तलाक" की जो अन्य दो तथाकथित रूप से अनुमोदित प्रक्रियाएं मुस्लिम पुरुषों को उपलब्ध हैं ("तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन"), समान रूप से उसी प्रकार से एकपक्षीय और अयुक्तियुक्त हैं जैसे कि "तलाक-ए-बिद्दत" । यह बताया गया कि सुनवाई के दौरान भारत संघ द्वारा निवेदन मात्र इस कारणवश "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता तक सीमित थे कि इस न्यायालय ने मामले की सुनवाई के आरंभ में ही पक्षों को सूचित कर दिया था कि वर्तमान सुनवाई याचियों और मध्यक्षेपियों द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता पर की गई प्रार्थना के परीक्षण तक ही सीमित होगी । उन्होंने दलील दी कि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" को चुनौती "तलाक-ए-बिद्दत" के संबंध में इस न्यायालय द्वारा निर्णय किए जाने के पश्चात् दी जाएगी । हमने इस न्यायपीठ द्वारा उठाई गई एक शंका पर महान्यायवादी द्वारा दिए गए उत्तर के कारणवश इस घटना को निर्दिष्ट किया है और इसको अभिलिखित किए जाने की आवश्यकता पर विचार किया है । हममें से एक (न्यायमूर्ति यू. यू. ललित) ने विद्वान् महान्यायवादी से प्रश्न किया कि यदि मुस्लिम पुरुषों को उनकी पत्नियों से विवाह-विच्छेद करने के लिए उपलब्ध ऊपरनिर्दिष्ट तीनों प्रक्रियाओं को असंवैधानिक करते हुए अपास्त कर दिया जाए, तो मुस्लिम पुरुष विवाह-विच्छेद के मामलों में उपचारहीन हो जाएंगे ? इस पर विद्वान् महान्यायवादी ने हमारी शंका का उत्तर सकारात्मक में दिया । किन्तु, न्यायालय को आश्वासन दिया गया कि संसद् उन आधारों को अधिकथित करते हुए, जिनके आधार पर मुस्लिम

पुरुष अपनी पत्नियों को "तलाक" दे सकेंगे, शीघ्र ही एक विधान अधिनियमित करेगी । हमने तद्नुसार इस घटना को अभिलिखित किया है क्योंकि इस घटना की वर्तमान मामले में होने वाले निर्णय के साथ सुसंगतता है ।

78. भारत के विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री तुषार मेहता ने विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए समस्त निवेदनों और दलीलों का समर्थन किया । उन्होंने मामले के प्रत्येक पहलू पर भारत संघ की ओर से प्रस्तुत की गई विधिक प्रतिपादनाओं का स्वतंत्र रूप से समर्थन किया ।

भाग 8

याचियों की दलीलों का खंडन

79. प्रथमतः, याचियों की ओर से किए गए निवेदनों का ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड – प्रत्यर्थी सं. 8 (जिसे इसमें इसके पश्चात् एआईएमपीएलबी कहा गया है) ने खंडन किया । ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री कपिल सिब्बल और अन्य अनेक विद्वान् काउंसेलों ने एआईएमपीएलबी का प्रतिनिधित्व किया । उन निवेदनों की आधारशिला रखते हुए, जिनके संबंध में प्रत्यर्थियों की ओर से बहस किया जाना ईप्सित है, यह प्राख्यान किया गया है कि किसी व्यक्ति के जन्म के समय किए जाने वाले अनुष्ठान उस कुटुम्ब के धार्मिक मानदंडों के सामंजस्य में होते हैं जिसमें उसका जन्म होता है और तत्पश्चात् जीवन के आगे बढ़ने के प्रत्येक प्रक्रम के दौरान अनुष्ठान भी होते जाते हैं । यह बताया गया कि कुछ अन्य परिवारों में यहां तक कि बच्चे के दत्तक ग्रहण का कार्य में भी कुछ धार्मिक अनुष्ठान होते हैं । इन धार्मिक अनुष्ठानों की अनुपस्थिति में दत्तक ग्रहण अविधिमान्य होता है । यह निवेदन किया गया कि धार्मिक अनुष्ठान प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण मूल स्थिति को प्रदर्शित करते हैं । विद्वान् काउंसेल के अनुसार इन धार्मिक अनुष्ठानों में वे तरीकें भी सम्मिलित होते हैं जिसमें समुदाय के सदस्यों को पोशाकें पहननी अपेक्षित होती हैं । जहां तक मुस्लिम महिलाओं का संबंध है, उनके द्वारा पहनने जाने वाले "बुर्के" या "हिजाब" को निर्दिष्ट किया गया जिसके द्वारा महिलाएं स्वयं को अपरिचितों की दृष्टि से बचाने के लिए पर्दे में रखती है । ये सभी मताभिव्यक्तियां उन लोगों से संबंधित है जो किसी धर्म का पालन करते हैं और उनकी आस्था से संबंधित है । यह प्राख्यान किया गया कि वे लोग जो मुस्लिम धर्म का पालन करते हैं, कुरान में अभिव्यक्त आज्ञा का पालन करते हैं । यह निवेदन किया गया कि विवाह भी किसी व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रक्रमों के समान एक प्रक्रम है ।

इसका निर्वहन उससे संबंधित अनुष्ठानों के सामंजस्य में किया जाना चाहिए । अतः यदि कोई विवाहित युगल विवाह-विच्छेद के माध्यम से एक दूसरे से पृथक् होना चाहता है तो भी उससे संबंधित अनुष्ठानों का पालन किया जाना चाहिए । यह बताया गया कि अभिव्यक्त धार्मिक अनुष्ठानों का पालन व्यक्ति की मृत्यु के अवसर पर भी होता है । यह निवेदन किया गया कि बच्चे की अभिरक्षा और संरक्षण, भरणपोषण, दहेज, उपहार और इसी प्रकार के अन्य विवाद्यकों को सम्मिलित करते हुए समस्त विवाद्यक ऐसे मामले हैं जिनका मार्गदर्शन लोगों के धर्म के साथ सहबद्ध उनकी आस्था के आधार पर किया जाना चाहिए । विवाह-विच्छेद और/या मृत्यु होने पर संपत्ति का संवितरण किस प्रकार से किया जाए, यह भी आस्था द्वारा शासित होता है । यह निवेदन किया गया कि इसी प्रकार से विरासत और उत्तराधिकार के प्रश्नों का भी निपटारा व्यक्ति के धर्म की आज्ञा के सामंजस्य में किया जाना चाहिए । यह निवेदन किया गया कि ये सभी विवाद्यक धार्मिक आस्था के मामले हैं ।

80. यह बताया गया कि पूर्वगामी पैराग्राफ में निर्दिष्ट व्यक्तिगत मामले "स्वीय विधि" के परिक्षेत्र के अंतर्गत आते हैं । इस प्राख्यान की व्याख्या ब्लैक का ला डिक्शनरी (10वां संस्करण, 2014) में "स्वीय विधि" पद की परिभाषा का अवलंब लेते हुए किए जाने की ईप्सा की गई, जो इस प्रकार है :–

> "वह विधि जो किसी व्यक्ति के पारिवारिक मामलों को शासित करती है, इस बात को ध्यान में रखे बिना कि वह व्यक्ति कहां जाता है । कॉमन विधि प्रणाली में 'स्वीय विधि' व्यक्ति के निवासस्थान पर लागू होने वाली विधि को निर्दिष्ट करती है । सिविल विधि प्रणाली में यह व्यक्ति की राष्ट्रीयता से जुड़ी हुई विधि को निर्दिष्ट करती है (और इसीलिए कभी-कभी इसको 'राष्ट्रीयता विधि' भी कहा जाता है) ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

आर. एच. ग्रेवसन द्वारा "कन्फ्लिक्ट ऑफ लॉज 188" (7वां संस्करण, 1974) में "स्वीय विधि" की परिभाषा के प्रति भी निर्देश किया गया, जो इस प्रकार है :–

> "'स्वीय विधि' की धारणा व्यक्ति की सामाजिक प्राणी के रूप में संकल्पना पर आधारित है जिससे उसके दैनिक जीवन के संव्यवहार,

जैसे कि विवाह, विवाह-विच्छेद, धर्मजत्व, अनेक प्रकारों की हैसियत और उत्तराधिकार जो उसकी व्यक्तिगत भावना को अत्यधिक निकटता से प्रभावित करते हैं और जिन्हें विधि की उस प्रणाली द्वारा सार्वभौमिक रूप से शासित किया जा सकता है जो इस प्रयोजन के लिए अत्यधिक उपयुक्त और पर्याप्त समझी जाती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

"स्वीय विधि" पद की संचयी परिभाषा का अवलंब लेते हुए यह निवेदन किया गया कि धार्मिक प्रथाओं से संबंधित आस्था के मामलों के क्रमविकास का निर्णय आवश्यक रूप से संबद्ध समुदाय द्वारा अंगीकृत प्रथाओं के संदर्भ में और "स्वीय विधि" के प्रत्येक पहलू के संदर्भ में किया जाना चाहिए । आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा यह स्वीकार किया गया कि "स्वीय विधि" स्वयमेव ही विधायन के अधीन हैं और इसलिए केवल विधान के अभाव में "स्वीय विधियों" का व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं के संबंध में अनिवार्य समझा जाना चाहिए ।

81. यद्यपि इस बात को स्वीकार किया गया था कि किसी विषय पर विधायन उसी विषय पर "स्वीय विधि" पर अध्यारोही प्रभाव रखता है, फिर भी यह दलील दी गई कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में किसी विधान की अनुपस्थिति में "स्वीय विधियों" पर इस आधार पर आक्रमण नहीं किया जा सकता कि वे संविधान के भाग 3 में समाविष्ट किन्हीं उपबंधों – मूल अधिकारों के विपरीत हैं । यह निवेदन किया गया कि कानूनी विधि के अभाव में धार्मिक प्रथाएं और आस्था लोगों (चाहे वे किसी भी समुदाय से संबंधित हों) द्वारा उनका पालन किए जाने का अधिकार का निर्धारण करती हैं । अपनी इस दलील के समर्थन में कि संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 के आधार पर "स्वीय विधि" को चुनौती नहीं दी जा सकती, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने **नरसू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले का अवलंब लिया । ज्येष्ठ काउंसेल ने **श्री कृष्ण सिंह** बनाम **मथुरा अहीर**[1] वाले मामले का भी अवलंब लिया जिसमें इस न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकला था कि शूद्रों (चारों हिन्दू जातियों में निम्नतर-श्रमिक जाति के सदस्य) के अधिकार, जैसा कि स्मृति (जो परंपरागत रूप से लिखित में अभिलिखित एक हिन्दू पाठ्य को निर्दिष्ट करती है) लेखकों द्वारा स्पष्ट किया गया है, अविधिमान्य है चूंकि वे संविधान के भाग 3 के अंतर्गत प्रत्याभूत मूल अधिकारों के

[1] (1981) 3 एस. सी. सी. 689.

टकराव में है । यह निवेदन किया गया कि इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त दोनों निर्णयों पर **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में विचार किया गया जिसमें उपर्युक्त निर्णयों में अभिलिखित विधिक स्थिति की पुष्टि की गई थी । उन्होंने दलील दी कि "विधि" और "प्रवृत्त विधि" के मध्य स्पष्ट रूप से अंतर है जिसका निर्वचन इस न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 13 के संदर्भ में किया गया है । यह प्राख्यान किया गया कि अनुच्छेद 372 के साथ पढ़ने पर जिसमें यह आदिष्ट है कि भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियों, जो संविधान के आरंभ होने के तुरंत पहले प्रवृत्त थीं, जब तक कि उनमें किसी सक्षम विधान-मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा फेरफार न किया जाए, उनको निरसित या संशोधित न किया जाए, प्रवृत्त रहेंगी । यह निवेदन किया गया कि जहां तक "स्वीय विधि" में परिवर्तन किए जाने का प्रश्न है, विधान का आश्रय लिया जाना अत्यावश्यक था, जैसाकि सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 द्वारा उपबंधित किया गया है – "विवाह और विवाह-विच्छेद", शिशु और अवयस्क, दत्तक ग्रहण, विल, निर्वसीयता और उत्तराधिकार, अविभक्त कुटुंब और विभाजन, वे सभी विषय जिनके संबंध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले अपनी "स्वीय विधि" के अधीन थे ।" अतः उन्होंने दलील दी गई कि "स्वीय विधियां" स्वयमेव ही संविधान के भाग 3 में समाविष्ट किसी भी उपबंध के अधीन चुनौती की विषयवस्तु नहीं हैं ।

82. यह दलील दी गई थी कि संविधान के अनुच्छेद 13 में "प्रथा और रूढ़ि" अभिव्यक्ति में ऐसे धार्मिक संप्रदायों की आस्था, जो उनकी "स्वीय विधि" में सन्निहित है, सम्मिलित नहीं होगी । जहां तक मामले के वर्तमान पहलू का संबंध है, 1915 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट की धारा 112 को भी निर्दिष्ट किया गया जिसमें "स्वीय विधियों" और "विधि का बल रखने वाली प्रथाओं" के मध्य स्पष्ट रूप से विभेद करने का प्रयास किया गया । ऊपरवर्णित धारा 112 को नीचे उद्धृत किया गया है :–

> "112. **विरासत और उत्तराधिकार के मामलों में लागू होने वाली विधियां** – कोलकाता, मद्रास और मुम्बई उच्च न्यायालय यथास्थिति कोलकाता, मद्रास या मुंबई के निवासियों के विरुद्ध वादों में, अपनी आरंभिक अधिकारिता का प्रयोग करते हुए भूमि, किराया

[1] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.

> और माल से संबंधित विरासत और उत्तराधिकार के मामलों में और विभिन्न पक्षों में मध्य संविदा और संव्यवहार के मामलों में, जब दोनों पक्ष विधि का बल रखने वाली एक ही 'स्वीय विधि' या प्रथा के अधीन हैं, 'स्वीय विधि' या प्रथा के अनुसार निर्णय लेंगे और जब दोनों पक्ष विधि का बल रखने वाली विभिन्न 'स्वीय विधियों' या प्रथाओं के अधीन हैं, तो उस विधि या प्रथा के अनुसार निर्णय लेंगे जिनके अधीन प्रतिवादी है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 13 को विरचित करते समय "प्रथा और रूढ़ि" शब्दों के चयन और "स्वीय विधि" अभिव्यक्ति के अपवर्जन का उल्लेख किए जाने की आवश्यकता है । यह निवेदन किया गया कि संविधान सभा को "स्वीय विधि" पद (जिसका उसने सातवीं अनुसूची में समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 में सावधानीपूर्वक प्रयोग किया) और "प्रथा और रूढ़ि" पद (जिसका संविधान सभा ने संविधान के अनुच्छेद 13 को विरचित करते समय प्रयोग किया), के प्रयोग की जानकारी थी । यह दलील दी गई कि उपर्युक्त स्थिति पर आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ द्वारा **यूथ वेलफेयर फेडरेशन**[1] वाले मामले में सावधानीपूर्वक बल दिया गया है । यह दलील दी गई कि यदि "स्वीय विधि" पद को अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त "प्रवृत्त विधि" की परिभाषा से अपवर्जित कर दिया जाए, तो कुछ धार्मिक संप्रदायों के साथ प्रत्यक्ष संबंध रखने वाले आस्था के मामलों ("स्वीय विधि" के मामलों) में संविधान के अनुच्छेदों 14, 15 और 21 में प्रमाणित अधिकारों को साबित करने की आवश्यकता नहीं होगी । मामले को उस दृष्टि से देखते हुए यह दलील दी गई कि याचियों द्वारा भाग 3 में समाविष्ट उपबंधों-मूल अधिकारों के आधार पर दी गई चुनौती को सरसरी तौर पर अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए ।

83. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री कपिल सिब्बल ने संवैधानिक स्थिति के पूर्वोक्त दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए "शरीयत" – मुस्लिम "स्वीय विधि" में "तलाक" की संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने दलील दी कि भारत में इस्लाम के संदर्भ में धार्मिक समूह दो कोटियों में विभाजित हैं – सुन्नी और शिया । आगे यह दलील दी

---

[1] (1996) ए. एल. टी. 1138 (1993 की रिट याचिका सं. 9717, जिसका विनिश्चय तारीख 9.10.1996 को किया गया ।)

गई कि सुन्नी पुनः विभिन्न धार्मिक समूहों/मतों में विभाजित हो गए । चार प्रमुख सुन्नी मत – हनाफी, मलाकी, शफई और हनबली हैं । आगे यह निवेदन किया गया कि एक पांचवां मत/समूह – अहले हदीथ बाद में अस्तित्व में आया । यह दलील दी गई कि भारत में 90% सुन्नी मुस्लिम हनाफी मत के हैं । यह निवेदन किया गया कि भारत में मुस्लिमों की जनसंख्या में शिया मुस्लिमों और सुन्नी मुस्लिमों के अन्य समूहों की अत्यधिक लघु जनसंख्या है ।

84. विद्वान् काउंसेल ने इस बात पर बल दिया कि 'तलाक' के तीनों स्वरूप "तलाक-ए-अहसन", "तलाक-ए-हसन" और "तलाक-ए-बिद्दत" जिनके प्रति याचियों द्वारा सुनवाई के दौरान निर्देश किया गया, मात्र उस प्रक्रिया को चित्रित करते हैं जिसका अनुसरण किए जाने की अपेक्षा एक मुस्लिम पति से की जाती है । आगे यह दलील दी गई कि इनमें से किसी भी प्रक्रिया के स्वरूप का कुरान में उल्लेख नहीं है । यह प्राख्यान किया गया कि यहां तक कि इनमें से किसी भी स्वरूप का उल्लेख हदीस में भी नहीं है । यह स्वीकार किया गया कि हदीस में स्वयं के द्वारा घोषित किए गए "तलाक" को अच्छी प्रथा के रूप में नहीं माना गया है किन्तु फिर भी इस प्रकार के "तलाक" की विधिक पुनीतता को मान्यता प्रदान की गई है । यह निवेदन किया गया कि इस प्रकार के "तलाक" को इस्लाम के समस्त धर्मावलंबियों द्वारा स्वीकार किया गया है । अतः यह दलील दी गई कि याचियों द्वारा बेतुका निवेदन किया गया है कि केवल कुरान में ही इस बाबत उपबंधित किया गया है कि किस संदर्भ में और किस तरीके में "तलाक" को लागू किया जा सकता है । आगे यह प्राख्यान किया गया कि याचियों द्वारा दी गई चुनौती का गंभीरतापूर्वक परीक्षण किए जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि याचियों ने "तलाक" को एक संकल्पना के रूप में चुनौती नहीं दी है । आगे यह दलील दी गई कि सत्यता तो यह है कि याची तो केवल अनुक्रम को चुनौती दे रहे हैं जिसका अनुसरण मुस्लिम पुरुषों द्वारा अपनी पत्नियों को "तलाक" देते समय "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रक्रिया का पालन करते हुए किया जाता है ।

85. विद्वान् काउंसेल ने याचियों द्वारा अपनाई गई स्थिति को स्वीकार किया कि इस्लाम प्रतिनिधित्व करता है (i) कुरान में उपबंधित बातों का, (ii) उन बातों का जिनको पैगम्बर मुहम्मद ने समय-समय पर कथित किया और जिनका समय-समय पर उन्होंने पालन किया, और (iii) जिन बातों का "हदीसों" में सदियों में पीढ़ी दर पीढ़ी स्मरण किया गया और

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अभिलिखित किया गया और जिन बातों के "हदीसों" में सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी स्मरण किया गया और अभिलिखित किया गया और जिन बातों के संबंध में मुस्लिम विश्वास करते हैं की उनको पैगम्बर मुहम्मद ने कहा था और उनका पालन किया था । यह प्राख्यान किया गया कि ऊपरवर्णित प्राचीन इस्लामिक विधि का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि मुस्लिमों ने सदियों से इनका पालन किया है, जो विभिन्न मुस्लिम समूहों/मतों की धार्मिक आस्था का भाग बन गए हैं । विद्वान् काउंसेल के अनुसार मान्यताप्राप्त प्रथाएं मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत की परिधि के क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं ।

86. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी दलीलों पर बल देने के प्रयोजनार्थ कुरान की विभिन्न "आयतों" पर विशेष रूप से बल देने का प्रयास किया । वे "आयतें" नीचे उल्लिखित हैं :-

> "i. जो कुछ भी अल्लाह ने बस्तियों के लोगों से अपने रसूल की ओर पलटा दे और वह अल्लाह और रसूल और नातेदारों और अनाथों और मोहताजों और मुसाफिरों के लिए है, ताकि वह तुम्हारे मालदारों ही के बीच चक्कर न खाता रहे जो कुछ रसूल तुम्हें दे वह ले लो और जिस चीज से वह तुमको रोक दे उससे रुक जाओ । अल्लाह से डरो, अल्लाह कठोर सजा देने वाला है । (कुरान, अल-हश्र 59.7)
>
> ii. ऐ लोगों जो इमान लाए हो, अल्लाह और उसके रसूल की आज्ञा का पालन करो और आदेश सुनने के बाद उससे मुंह न फेरो । (कुरान, अल-अनफाल 8.20)
>
> iii. (इन्हें बताओ कि) हमने जो भी रसूल भेजा है इसीलिए भेजा है कि अल्लाह के अनुमति से उसकी आज्ञा का पालन किया जाए । अगर उन्होंने यह नीति अपनाई होती कि जब ये अपने आप पर जुर्म कर बैठे थे तो तुम्हारे पास आ जाते और अल्लाह से माफी मांगते और रसूल भी इनके लिए माफी की प्रार्थना करता, तो यकीनन अल्लाह को माफ करने वाला और रहम करने वाला पाते । (कुरान, अल-नीसा 4.64)
>
> iv. यह इसलिए है कि उन लोगों ने अल्लाह और उसके रसूल का मुकाबला किया और जो अल्लाह और उसके रसूल का मुकाबला करे, अल्लाह उसके लिए अत्यंत कड़ी पकड़ करने वाला है । (कुरान अल-अनफाल 8.13)

v. किसी ईमानवाले मर्द और किसी ईमानवाली औरत को यह हक नहीं है कि जब अल्लाह और उसका रसूल किसी मामले का फैसला कर दे तो फिर उसे अपने उस मामले में खुद फैसला करने का अधिकार बाकी रहे । और जो कोई अल्लाह और उसके रसूल की नाफरमानी करे तो उसे स्पष्ट पथभ्रष्टता में पड़ गया । (कुरान, अल-अहजाब 33.36)

vi. मगर जो आदमी रसूल के विरोध पर कटिबद्ध हो और ईमानवालों के रास्ते के सिवाय किसी और राह पर चले, जबकि उस पर सीधा मार्ग स्पष्ट हो चुका हो, तो उसको हम उसी ओर चलाएंगे जिधर वह खुद फिर गया और उसे जहन्नम में झोकेंगे जो सबसे बुरा ठिकाना है । (कुरान, अल-निसा 4.115)"

उपर्युक्त के अतिरिक्त तीन तलाक के संबंध में भी कुरान को निर्दिष्ट किया गया । यह इस प्रकार है :–

"i. 'तलाक' दो बार है । फिर या तो सीधी तरह औरत को रोक लिया जाए या भले तरीके से उसको विदा कर दिया जाए । और विदा करते हुए ऐसा करना तुम्हारे लिए जायज नहीं है कि जो कुछ तुम उन्हें दे चुके हो, उसमें से कुछ वापस ले लो । अलबत्ता यह अपवाद है कि पति-पत्नी को अल्लाह की निर्धारित सीमाओं पर कायम न रह सकने कि आशंका हो । ऐसी दशा में अगर तुम्हें यह भय हो कि वे दोनों अल्लाह की सीमाओं पर कायम न रहेंगे, तो उन दोनों के बीच यह मामला हो जाने में कोई हर्ज नहीं है कि पत्नी अपने पति को कुछ मुआवजा देकर जुदाई हासिल कर ले । ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं, जिनका उल्लंघन न करो । और जो लोग अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करें, वे जालिम हैं । (कुरान, अल-बकरा 2.229)

ii. फिर अगर (दो बार 'तलाक' देने के बाद पति ने पत्नी को तीसरी बार) 'तलाक' दे दिया, तो वह औरत फिर उसके लिए हलाल न होगी, सिवाय इसके कि उसका निकाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो और वह उसे 'तलाक' दे दे । तब अगर पहला पति और यह औरत, दोनों यह समझे कि ईश्वरीय सीमाओं पर कायम रहेंगे, तो उनके लिए एक दूसरे की ओर पलटने में कोई हर्ज नहीं है । ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं, जिन्हें वह उन लोगों के मार्गदर्शन के लिए स्पष्ट कर रहा है, जो (उसकी सीमाओं को तोड़ने का परिणाम)

जानते हैं । (कुरान, अल-बकरा 2.229 और 2.230)

iii. जब तुम अपनी औरतों को 'तलाक' दे चुके और वे अपनी इद्दत की अवधि पूरी कर लें, तो फिर इसमें रुकावट न खड़ी करो कि वे अपने मनपसंद पतियों से निकाह कर लें, जब कि वे सामान्य रीति से आपस में निकाह करने पर राजी हों । तुम्हें नसीहत की जाती है कि ऐसी हरकत हर्गिज न करना, अगर तुम अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान लाने वाले हो । तुम्हारे लिए शिष्ट और सुथरा तरीका यही है कि इससे बाज रहो । अल्लाह जानता है, तुम नहीं जानते । (कुरान, अल-बकरा 2.232)

iv. ऐ नबी, जब तुम लोग औरतों को 'तलाक' दो तो उन्हें उनकी "इद्दत (अवधि) के लिए 'तलाक' दिया करो और इद्दत के समय की ठीक-ठीक गिनती करो, और अल्लाह से डरो जो तुम्हारा रब है । (इद्दत के समय में) न तुम उन्हें उनके घरों से निकालों और न वे खुद निकले, सिवाय इसके कि वे कोई स्पष्ट बुराई कर बैंठे । ये अल्लाह की नियत की हुई सीमाएं हैं और जो कोई अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करेगा, वह अपने ऊपर खुद जुल्म करेगा । तुम नहीं जानते, शायद इसके बाद अल्लाह (मेल-मिलाप की) कोई सुरा पैदा करे दे । (कुरान, अल-तलाक 65.1)"

विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने संपूर्ण स्थिति को स्पष्ट किए जाने के प्रयोजनार्थ न्यायालय का ध्यान "तलाक" के संदर्भ में पैगम्बर मोहम्मद को विशेषित करने वाले कथनी की ओर आकर्षित किया जो विद्वान् काउंसेल के अनुसार हमारे समक्ष उपस्थित विवाद को विनिर्धारित करने में सहायक होंगे । वे कथन इस प्रकार है :

"i. सलमाह बिद अबी सलमाह ने अपने पिता को वृत्तांत सुनाया कि जब हफ्स बिन मुघायरा ने तीन तलाक दिया था, तो पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने उसे वैध ठहराया । सभी तीनों उद्घोषणाएं एकल शब्द में की गई थीं, अतः पैगम्बर ने उसको (पत्नी को) उससे (पति से) अपरिवर्तनीय रूप से पृथक् कर दिया था । हमें यह नहीं बताया गया कि पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने उसको (पति को) इसके लिए फटकारा भी था (दर्कुतानी, किताब अल-तलाक वा अल-खुला वा अल-आयला, 5/23, हदीस सं. 3992)

ii. अमस रेक्पिम्ट्स पी एम मुआध की निर्णयज विधि मैंने

पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) को कहते हुए सुना – ओ मुआध, जो भी बिद्दत 'तलाक' का आश्रय लेगा, चाहे वह एक व्यक्ति हो या दो हों या तीन, हम उसके 'तलाक' को प्रभावी बना देंगे (दर्कुतानी, 5/81 किताब अल-तलाक वा अल-खुला वा अल-आयला, हदीस सं. 4020)

iii. जब अब्दुल्लाह इब्न उमर ने अपनी पत्नी को पहली बार उस समय 'तलाक' कहा जब उसकी माहवारी चल रही थी । तब पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने उससे यह कहते हुए अपनी पत्नी को अपने साथ रखने के लिए कहा था कि जो इब्ने उमर, अल्लाह तबारक व ताला ने इस प्रकार का कोई आदेश नहीं दिया है – तुमने सुन्ना के विरुद्ध कार्य किया है । सुन्ना यह है कि जिसके लिए तुम स्त्री के रजस्वला होने की प्रतीक्षा करते हो और तत्पश्चात् शुद्धि की अवधि में 'तलाक' बोलते हो । उन्होंने कहा कि इस प्रकार पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) उनको आज्ञा दी कि और मैंने उसको (पत्नी को) अपने साथ रखा । तत्पश्चात् उन्होंने मुझसे कहा – जब वह शुद्ध हो जाती है, तब उसको 'तलाक' दो या उसको अपने साथ रखो । तब अब्दुल्लाह इब्ने उमर ने पूछा यदि मैं तीन तलाक दे देता तो क्या मैं उसको (पत्नी को) अपने साथ रख सकता था ? तब पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने उत्तर दिया नहीं, तब वह तुमसे पृथक् हो जाती और तुम्हारे द्वारा किया गया ऐसा कार्य पाप होता" (सुन्ना बयहाकी, 7/547, हदीस सं. 14955) ।

iv. आयशा खाथमिया हसन बिन अली की पत्नी थी । जब अली की हत्या कर दी गई और हसन बिन अली को खलीफा बनाया गया, तब हसन बिन अली ने उनसे मुलाकात की और उसने (हसन की पत्नी आयशा खाथमिया ने) उनको खलीफा बनाए जाने पर बधाई दी । हसन बिन अली ने उनको उत्तर दिया, 'आपने अली की हत्या पर हर्ष व्यक्त किया है, इसलिए मैं आपको तीन तलाक देता हूं ।' तब उसने अपने आप को कपड़े से छुपा लिया और कहा, मैं अल्लाह की सौगंध खा कर कहती हूं कि मेरा यह आशय नहीं था । उसने अपनी इद्दत की अवधि के पूर्ण हो जाने तक प्रतीक्षा की और तत्पश्चात् वहां से प्रस्थान किया । हसल बिन आली ने उसका दहेज उसको वापस कर दिया और बीस हजार दिरहम का उपहार दिया । जब संदेशवाहक उसके पास पहुंचा और उसने धन को देखा, तब उसने कहा, 'यह मेरे प्रिय, जिससे मुझे पृथक् कर दिया गया है, द्वारा

दी गई अत्यंत तुच्छ भेंट है ।' जब संदेशवाहक ने इस बाबत हसन इब्न अली को सूचित किया, तो उनके अश्रु निकल आए और उन्होंने कहा, 'यदि मैंने अपने पिता से न सुना होता जो मेरे पिता को मेरे बाबा ने बताया था कि पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने कहा था कि जो भी अपनी पत्नी से तीन बार 'तलाक' उद्घोषित करते हुए 'तलाक' लेगा, उसको अपनी उस पत्नी को अपने साथ दुबारा रखने की अनुज्ञा तब तक नहीं होगी जब तक कि वह अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य से विवाह नहीं कर लेती, तो मैं उसको अपने साथ दुबारा रख लेता (अल सुन्ना कुबरा लिल बयहाकी, हदीस सं. 14492) ।

v. उवयमर अजलानी ने पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) से शिकायत की थी कि उसने अपनी पत्नी को किसी परपुरुष के साथ जारकर्म करते हुए देखा है । पत्नी ने इस आरोप से इनकार किया । कुरान के आदेशों के अनुसार पैगम्बर (उनपे शांति बनी रहे) ने पति-पत्नी के मामले में कार्रवाई आरंभ की । कार्यवाही की प्रक्रिया के समापन उवयमर ने कहा : 'यदि मैं उसको अपने साथ रख लेता हूं तो मैं झूठा साबित हो जाउंगा' । अतः पैगम्बर की उपस्थिति में और बिना उनकी आज्ञा के उवयमर ने तीन बार 'तलाक' उद्घोषित किया । (शाही अल-बुखारी किताब अल-तलाक, हदीस सं. : 5259)"

87. कुरान की "आयतों" और पैगम्बर मुहम्मद को विशेषित कथनों पर आगे दलीलें देते हुए विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने न्यायालय का ध्यान "तलाक" से संबंधित हदीसों की ओर आकर्षित किया । वे हदीसें नीचे उद्धृत की गई हैं :–

"(i) वे सभी कार्य जिनकी अनुज्ञा अल्लाह द्वारा दी गई हैं, 'तलाक' सर्वाधिक अवांछनीय कार्य है । (सुनान अबु दाउद, बाद कराहिया अल-तलाक, हदीस सं. 2178) ।

(ii) यदि कोई व्यक्ति, जो एक ही बार में तीन तलाक की उद्घोषणा करता था, को खलीफा उमर के समक्ष लाया जाता था तो खलीफा उमर उसकी पिटाई करवाते थे और तत्पश्चात् पति-पत्नी को पृथक् कर देते थे । (मुसानाफ इब्न अबी शायबाह, बाब मनकारा अल यातलिक अल राजल इमराताहू थालाथा फी मकड वाहादी वा आजाजा धालीका अलायही । हदीस सं. 18089.

(iii) अब्दुल्ला के आधार पर अलकामा ने वृत्तांत सुनाया कि उससे किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में पूछा गया था कि जिसने अपनी पत्नी को सौ बार 'तलाक' कहा हो । उन्होंने कहा कि मात्र तीन बार कहने से ही वह उसके लिए प्रतिषिद्ध हो गई और बाकी सतानवें बार कहा जाना अपराध है । (मुसानाफ इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, बाब फी अल रजल यातलाकु इम्रताहू मियाता अब अलफा हदीस सं. : 18098)

(iv) एक व्यक्ति मदीना में किसी मजाकिया व्यक्ति से मिला । हे सैदक, 'क्या तुमने अपनी पत्नी को 'तलाक' दिया है ? उसने कहा, 'हां' । उसने कहा, 'कितनी हजार बार ? (कितनी बार ? उसने उत्तर दिया : हजार) । अतः उसको उमर के समक्ष प्रस्तुत किया गया । उन्होंने कहा तो तुम हो जिसने अपनी पत्नी को 'तलाक' दिया है ? उसने कहा मैं तो मजाक कर रहा था । अतः उन्होंने उसके विरुद्ध आदेश पारित किया और कहा कि इन सभी में से मात्र तीन ही पर्याप्त हैं । एक अन्य वृत्तांतकर्ता ने बताया कि उमर कहते थे : 'तुम्हारे लिए तीन तलाक पर्याप्त है' (मुसानाफ अब्द अल रजाक, किताब अल-तलाक, हदीस सं. 11340)

(v) अब्दुल्ला इब्न उमर ने कहा : 'जो तीन तलाक का आश्रय लेगा, वह अपने ईश्वर की अवज्ञा करेगा और पत्नी उससे पृथक् हो जाएगी ।' (मुसानाफ अब इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, हदीस सं. 18091) ।

(vi) इमरान इब्द हुसैन से एक व्यक्ति जिसने एक ही बार में तीन तलाक कहते हुए अपनी पत्नी को 'तलाक' दे दिया था, के बारे में पूछा गया था । उसने कहा कि उस व्यक्ति जिसने अपने ईश्वर की अवज्ञा की है और अब उसकी पत्नी उसके लिए प्रतिषिद्ध हो गई है । (मुसानाफ इब्द अबी शायबा, हदीस सं. 18087)

(vii) यदि कोई अपनी पत्नी, जिसके साथ उसने दाम्पत्यिक संबंध नहीं बनाए हैं, से कहता है कि ; मैं तुमको तीन तलाक देता हूं, तो वह प्रभावी हो जाएगा । क्योंकि उसने अपनी पत्नी को तब 'तलाक' दिया जब वह उसकी पत्नी थी । यही स्थिति उस पत्नी के लिए भी लागू होती है जिसके साथ उसका विवाह पूर्णता को प्राप्त हो गया ।' (अल मुहाधधाब, 4/305) ।

(viii) अतः अध्याय इस प्रकार आगे बढ़ता है : 'उन लोगों का दृष्टिकोण जो कुरान के कथनों पर विश्वास करते हैं : 'तलाक दो बार उद्घोषित किया जा सकता है, तत्पश्चात् या तो सम्मानपूर्वक अपने साथ रख लिया जाए या करुणा के साथ त्यक्त कर दिया जाए ; इसका आशय यह है कि तीन तलाक प्रभावी हो जाता है । (बुखारी, 3/402)' ।

88. तीनों पूर्ववर्ती पैरा में अभिलिखित तथ्यात्मक स्थिति के आधार पर यह निवेदन किया गया कि इस न्यायालय को उस तरीके में निर्वचन करने का प्रयास नहीं करना चाहिए जिसमें किसी आस्था पर विश्वास रखने वालों ने "तलाक" की उद्घोषणा की प्रक्रिया को समझा है । आगे यह दलील दी गई कि आस्था के मामलों के विषय में यही उत्तम होगा कि इनका निर्वचन उसी तरीके पर छोड़ दिया जाना चाहिए जिसमें किसी समुदाय के सदस्यों ने अपने धर्म को समझा है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार यह उन आत्यंतिक अन्तर्विरोधों को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक है जो याचियों की ओर से दी गई दलीलों का समग्र रूप से परिशीलन किए जाने पर प्रकट होते हैं, और जैसाकि प्रत्यर्थियों की ओर से भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । यह निवेदन किया गया कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के निर्वचन किए हैं । यह दलील भी दी गई कि उन निर्वचनों, जिनका अवलंब याचियों द्वारा लिया गया और जो किसी आस्था में विश्वास रखने वालों, और सुन्नी मुसलमानों के हनाफी मत का पालन करने वालों द्वारा किए गए निर्वचन के विनिर्धारण के लिए सुसंगत भी हैं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार एक विद्वान्, जिनका अवलंब लिया गया, मिर्जा गुलाम अहमद (जो कादियानी मत के संस्थापक थे) के शिष्य थे, जिन्होंने पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् स्वयं को पैगम्बर घोषित कर दिया था । यह दलील दी गई कि उस कादियानी शिष्य का नाम मुहम्मद अली था । और निर्वचनों जिनका अवलंब विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा अपने निष्कर्ष अभिलिखित करते हुए लिया गया (संदर्भ के प्रयोजनार्थ देखें भाग 6 - "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर न्यायिक उद्घोषणाएं) मुहम्मद अली को श्रेय देने वाले विचारों पर आधारित थीं । यह निवेदन किया गया कि मुहम्मद अली को सभी मुसलिमों द्वारा मान्यता प्रदान नहीं की गई है और इसलिए यह न्याय का मजाक उड़ाना होगा यदि मुस्लिमों की आस्था के विपरीत (विशेष रूप से हनाफी मत से संबंधित मुस्लिम) उनके विचारों का अवलंब लिया जाए और उनका पालन किया जाए । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने पूर्वोक्त विचार व्यक्त करते हुए उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए अलग-अलग

निर्णयों (विवरण के लिए भाग-6 – "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर न्यायिक उद्घोषणाएं देखें) का अवलंब लिया और दलील दी कि ऊपरनिर्दिष्ट पृष्ठभूमि में उनमें अभिलिखित विभिन्न हदीसों का अवलंब लिया जाना उचित नहीं था ।

89. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त निवेदन करते हुए "तलाक-ए-बिद्दत" – तीन तलाक के विषय पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया । इस संबंध में उन्होंने दोहराया कि "तलाक" के तीन प्रकार के होते हैं – "तलाक-ए-अहसन", "तलाक-ए-हसन" और "तलाक-ए-बिद्दत" । उन्होंने आगे दलील दी कि इनमें से किसी भी प्रकार के "तलाक" के प्रति कुरान या हदीसों में निर्देश नहीं किया गया है । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त तीन प्रकार के "तलाकों" को इस्लामिक विद्वानों द्वारा इस प्रकार प्रवर्गीकृत किया गया है । आगे यह दलील दी गई कि सभी प्रकार के "तलाकों" में जो बात सामान्य है, वह पति और पत्नी के मध्य वैवाहिक संबंधों के पृथक्करण के मामले में "तलाक" की अंतिमता है । यदि एक अन्य सामनता के बारे में भी बताया गया जो यह है कि यदि "तलाक-ए-अहसन" को रद्द नहीं किया जाता तो वह अंतिमता प्राप्त कर लेता है ; इसी प्रकार से "तलाक-ए-हसन" को भी यदि रद्द नहीं किया जाता, तो वह भी अंतिम माना जाता है ; और "तलाक-ए-बिद्दत" – उद्घोषणा के समय पर तीन तलाक, अंतिम माना जाता है । यह निवेदन किया गया कि जब सभी प्रकार/स्वरूप के "तलाक" तीन बार उच्चारित किए जाते हैं, तो वे अप्रतिसंहरणीय हो जाते हैं । आगे यह दोहराया गया कि याचियों ने इस न्यायालय के समक्ष "तलाक" की अंतिमता को चुनौती नहीं दी है, बल्कि वे मात्र मुस्लिम पतियों द्वारा अंगीकृत उस प्रक्रिया को चुनौती दे रहे हैं जिसका पालन "तलाक-ए-बिद्दत" के समय किया जाता है और जो तत्काल प्रभाव से अंतिम हो जाता है ।

90. पूर्ववर्ती पैरा में अभिव्यक्त बातों के संदर्भ में इस बात पर जोर देने का प्रयास किया गया कि इमाम अबु हनीफा ने पैगम्बर मुहम्मद द्वारा कही गई बातों को स्वयं अभिलिखित नहीं किया था । यह दलील दी गई कि अबु हनीफा के दो अनुयायी थे – इमाम अबु युसूफ और इमाम मोहम्मद । यह निवेदन किया गया कि इमाम अबु युसूफ ने अपनी पुस्तक "इख्तिलाफ अबी हनीफा वाबनी अबी लैला" (प्रथम संस्करण 1357) में तीन तलाक पर जो लिखा वह निम्नलिखित है :–

"(i) यदि पति ने अपनी पत्नी से कहा, 'तुम्हारा मामला तुम्हारे

हाथ में है ;, पत्नी ने कहा, 'मैंने स्वयं को तीन बार 'तलाक' दे दिया" । अबु हनीफा (अल्लाह उन पर शांति बनी रहे) ने कहा ; 'यदि पति का आशय तीन बार 'तलाक' कहने का था, तो यह तीन ही है ।'"

इमाम अबु मोहम्मद द्वारा लिखी गई पुस्तक "अल-मौता" (प्रथम खंड) को भी निर्दिष्ट किया गया, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित प्राख्यान किया गया :–

"(i) मोहम्मद ने कहा : अतः हम इसका अनुसरण करते हैं कि यदि वह अपने पति को चुनती है तो इसको 'तलाक' के रूप में नहीं गिना जाएगा, और यदि वह स्वयं को चुनती है तो इसका आशय वही होगा जो उसके पति द्वारा निकाला गया था, यदि उसका आशय एक था तो एक बार ही गणना की जाएगी जो रद्द न किए जाने योग्य (बानियाह) 'तलाक' होगा और यदि उसका आशय तीन था तो यह तीन तलाक होगा । ऐसा अबु हनीफा ने कहा था ।"

91. अन्य मतो के विद्वानों द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के संबंध में लिखे गए लेखों को भी निर्दिष्ट किया गया । इस संबंध में न्यायालय का ध्यान निम्नलिखित बातों की ओर आकर्षित किया गया :–

"(i) अधिकांश उलेमाओं ने इस नवीन प्रथा को प्रभावी पाया है (बदय-अल-सनय, फस्ल हुकुम तलाक-अल-बिद्द, किताब-अल-तलाक, 3/153) ।

(ii) तुम किसी की गर्भवती पत्नी के संबंध में एक बार में या तीन विभिन्न सत्रों में 'तलाक' की उद्घोषणा के प्रभाव के बारे में क्या समझते हो, इमाम मलिक ने इसका उत्तर सकारात्मक में दिया । अल-मुदावना, 2/68) ।

(iii) अहल अल सुन्ना के सभी विद्वानों द्वारा भी तीन तलाक की विधिमान्यता का समर्थन किया गया । अललामा इब्नमा ने कहा कि : 'इस विचार का श्रेय अब्दुल/अह इब्न अब्बास को जाता है । इसी विचार का समर्थन अनेक उत्तरवर्तियों और पश्चात्वर्ती विद्वानों द्वारा किया गया ।' (अल-मुघनी ली इब्न कुदामा, 10/334) ।

(iv) पुस्तक सुन्नाह और प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा सर्वसम्मति के साथ व्यक्त किए गए विचार ये हैं कि तीन तलाक तब भी प्रभावी हो जाता है जब उसको एक ही बार में बोल दिया जाए । तथापि, यह कार्य स्वयमेव ही पाप है । (अहकम-अल-कुरान लिल जसास, 2/85)

(v) (सफे' I मत के) इमाम सफे' I ने अपनी पुस्तक अल-उम (पांचवां खंड) में जो अभिकथित किया है वह निम्नलिखित है –

> 'यदि वह कहता है कि तुमको तीन तलाक के आशय के साथ पूर्णतया 'तलाक' दे दिया गया है, तो इसको तीन तलाक समझा जाएगा और यदि उसका आशय केवल एक बार से था, तो इसको एक बार कहा गया 'तलाक' समझा जाएगा और यदि वह कहता है कि तुमको तीन के आशय के साथ 'तलाक' दे दिया गया है, तो इसको तीन समझा जाएगा ।' (पृष्ठ 359)

(vi) माफक्कद दिन अबी मुहम्मद अब्दुल्लाह बिन अहमद बिन मुहम्मद बिन कुदामाह अल-मुकद्दसी अल-जमायली अल-दिमासकी अल-सालहि अल-हनबली (हनबली मत के) ने अपनी पुस्तक अल-मुघनि (दसवां खंड) में जो कथित किया है वह निम्नलिखित है –

> अहमद ने कहा : यदि वह अपनी पत्नी से कहता है : मैं तुमको तीन बार के आशय के साथ 'तलाक' देता हूं, और उसने स्वयं के लिए तीन बार के आशय के साथ 'तलाक' स्वीकार कर लिया, तो इसको तीन समझा जाएगा, और यदि उसका आशय एक से था तो इसको एक समझा जाएगा । (पृष्ठ 394)

(vii) अल्लामा इब्न कुदामा, एक हनबली विद्वान् का मत है कि यदि कोई अपनी पत्नी को एक ही उच्चारण में तीन बार 'तलाक' बोलकर 'तलाक' देता है, तो यह 'तलाक' प्रभावी होगा और वह उसके लिए अविधिमान्य हो जाएगी, जब तक कि वह किसी अन्य से विवाह नहीं कर लेती । विवाहोत्तर संभोग अतात्विक है । तीन तलाक की विधिमान्यता का समस्त अहल अल-सुन्नाह विद्वानों द्वारा समर्थन किया गया है । अल्लामा इब्न कुदामा ने आगे कहा कि : यह विचार अब्दुल्ला इब्न अब्बाद, अबु हुरैरा, उमर, अब्दुल्ला इब्न उमर, अब्दुल्ला इब्न अम्र इब्न आस, अब्दुल्लाह इब्न मसूद और अनास को समर्पित है । इन्हीं विचारों को अधिकांश उत्तराधिकारियों और पश्चात्वर्ती विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया ।" '(अल-मुघनि ली इब्न कुदामा, 10,334)'

92. पूर्वगामी पैरा में दर्शित हदीसों के आधार पर यह निवेदन किया गया कि सुन्नी मुसलमानों के हनाफी मत के अनुसार "तलाक-ए-बिद्दत" – तीन तलाक उनकी "स्वीय विधि" का अभिन्न भाग था अर्थात् उनकी

आस्था का अभिन्न अंग जिसका उन्होंने पालन सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी किया है । इस स्थिति के आधार पर यह निवेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" को मुसलमानों का संविधान द्वारा संरक्षित मूल अधिकार माना जाना चाहिए, जिसमें संविधान द्वारा प्रतिष्ठापित मूल अधिकार के अतिक्रमण – या याचियों द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक नैतिकता की कसौटी पर मध्यक्षेप नहीं किया जाना चाहिए ।

93. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने दोहराया कि "स्वीय विधि" के मामले में न्यायिक मध्यक्षेप, याचियों द्वारा की गई प्रार्थना को अभिप्राप्त किए जाने के प्रयोजनार्थ अंगीकृत किया जाने वाला उचित भाग नहीं होगा । संसार के बड़ी संख्या में मुस्लिम देशों को निर्दिष्ट किया गया (विवरण के लिए पैरा 5 देखें – संसार के इस्लामी और गैर-इस्लामी देशों में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निरसन) जिसके कारण विधायन द्वारा रूढ़िवादी प्रथाओं, जो वर्तमान सामाजिक मानदंडों के अनुसार नहीं थी, के विरुद्ध आवश्यक सहायता प्रदान की गई । यह निवेदन किया गया कि सभी देशों में, जहां "तलाक-ए-बिद्दत" को शून्य कर दिया गया है या जहां इस प्रथा का पालन नहीं किया जाता वहां पर निर्वचन की दृष्टि से उन देशों के विधान-मंडलों ने उक्त सुधार लाने के लिए मध्यक्षेप किया है ।

94. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने "स्वीय विधि" की परिधि और अनुच्छेद 25 में प्रतिपादित धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता को पूर्णतः अभिव्यक्त किए जाने के प्रयोजनार्थ संविधान सभा में किए गए विचार-विमर्श का अवलंब लिया । दिलचस्प रूप से, संविधान के अनुच्छेद 44 को सर्वप्रथम निर्दिष्ट किया गया जिसको नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

> "44. नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता – राज्य, भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा ।"

इस बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि संविधान सभा में हुए विचार-विमर्श के दौरान वर्तमान अनुच्छेद 44 को अनुच्छेद 35 के रूप में संख्यांकित किया गया था । संविधान सभा में विचार-विमर्श के दौरान मोहम्मद इस्माइल साहिब, नजिरुद्दीन अहमद, महबूब अली बेग, साहिब बहादुर और पौकर साहिब बहादुर द्वारा अनुच्छेद 35 के प्रारूपण के संबंध में संशोधन प्रस्तावित किए गए थे । उनके द्वारा प्रस्तावित संशोधनों के सुसंगत उद्धरण और उनके स्पष्टीकरणों को नीचे उद्धृत किया गया है :–

"मोहम्मद इस्माइल साहिब (मद्रास : मुस्लिम) : श्रीमान, मैं यह प्रस्ताव प्रस्तुत करता हूं कि अनुच्छेद 35 में निम्नलिखित परंतुक को जोड़ा जाए :

"परंतु लोगों के किसी भी समूह, वर्ग या समुदाय पर यह बाध्यता नहीं होगी कि वे अपनी 'स्वीय विधि', यदि उनकी ऐसी कोई 'स्वीय विधि' है, का परित्याग कर दें ।"

लोगों के किसी समूह या समुदाय का अपनी स्वयं की 'स्वीय विधि' का पालन करने और उसका अनुसरण करने का अधिकार मूल अधिकारों में सम्मिलित है और इस उपबंध को कानूनी और वादयोग्य मूल अधिकारों में वास्तव में सम्मिलित किया जाना चाहिए । इसी कारणवश मैंने और अन्य मित्रों ने कुछ अन्य अनुच्छेदों, जो इस अनुच्छेद के पहले आते हैं, के संबंध में संशोधन दिए हैं और जिन्हें मैं उचित प्रक्रम पर प्रस्तुत करूंगा ।

वर्तमान में 'स्वीय विधि' का अनुसरण करने का अधिकार उन लोगों की जीवनशैली का भाग हैं जो ऐसी विधियों का अनुसरण कर रहे हैं ; यह उनके धर्म का भाग है और उनकी संस्कृति का भाग है । यदि 'स्वीय विधियों' को प्रभावित करते हुए कुछ किया जाता है, तो इसका अर्थ उन लोगों की जीवनशैली में मध्यक्षेप किया जाना होगा जो सदियों से और 'पीढ़ी दर पीढ़ी' इन विधियों का अनुसरण करते रहे हैं । इस पंथनिरपेक्ष राज्य, जिसको सृजित करने का प्रयास हम कर रहे हैं, को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे लोगों की जीवन शैली और धर्म में किसी भी प्रकार से मध्यक्षेप हो । 'स्वीय विधि' को बनाए रखे जाने का मामला कोई नया मामला नहीं है ; हमारे समक्ष यूरोपीय देशों के पूर्वनिर्णय मौजूद हैं । उदाहरण के लिए यूगोस्वालिया, जो सर्बों, क्रोटों और स्लोवेंस की राजसत्ता है और जो अल्पसंख्यकों के अधिकार प्रत्याभूत किए जाने के प्रयोजनार्थ संधि के अंतर्गत बाध्यताधीन है । (इस संधि में) मुसलमानों के अधिकारों के संबंध में निम्नलिखित खंड है –

'सर्ब क्रोट और स्लोवेन राज्य मुसलमानों को पारिवारिक विधि के मामलों में स्वीय हैसियत वाले उपबंध, जो मुसलमान रूढ़ियों के अनुसार इन मामलों को विनियमित करने के लिए उपयुक्त हैं, प्रदान करने के लिए सहमत हैं ।'

हम इस प्रकार के खंडों को अनेक अन्य यूरोपीय संविधानों में

भी पाते हैं । किन्तु ये खंड अल्पसंख्यकों को निर्दिष्ट करते हैं जबकि मेरा संशोधन मात्र अल्पसंख्यकों को निर्दिष्ट नहीं करता बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय को सम्मिलित करते हुए सभी लोगों को निर्दिष्ट करता है क्योंकि यह कहता है, 'लोगों के किसी समूह, वर्ग या समुदाय को बाध्य नहीं किया जाएगा' इत्यादि । इसलिए यह लोगों की विद्यमान 'स्वीय विधियों' के संबंध में अधिकारों को अभिप्राप्त किए जाने की ईप्सा करता है ।

पुनः, यह संशोधन किसी नवीन प्रथा को पुरःस्थापित या लोगों के लिए विधि के किसी नए समुच्चय को लाए जाने की ईप्सा नहीं करता, बल्कि मात्र 'स्वीय विधि', जो कतिपय वर्गों के लोगों के मध्य पहले से विद्यमान है, को बनाए रखे जाने की ईप्सा करता है । अब, लोग समान आचार संहिता क्यों चाहते हैं, जैसाकि अनुच्छेद 35 में उपबंधित है । वे अनवधानतावश असमानता में सामंजस्य चाहते हैं । किन्तु मैं यहां पर कहना चाहता हूं कि इस प्रयोजनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि 'स्वीय विधि' को सम्मिलित करते हुए लोगों की सिविल विधि को संगठित किया जाए । इस प्रकार से संगठित किए जाने के कारण असंतोष उत्पन्न होगा और सामजंरय प्रभावित होगा । किन्तु यदि लोग अपनी स्वयं की 'स्वीय विधि' का अनुपालन करना चाहते हैं, तो इससे कोई असंतोष उत्पन्न नहीं होगा । लोगों का प्रत्येक वर्ग अपनी स्वयं की 'स्वीय विधि' का पालन करने के लिए स्वतंत्र होगा और वे दूसरों से नहीं टकराएंगे ।

श्री नजीरुद्दीन अहमद : श्रीमान् मैं यह संशोधन प्रस्तुत करता हूं :–

"यह कि अनुच्छेद 35 में निम्नलिखित परंतुक को सम्मिलित किया जाए :

परंतु किसी समुदाय की 'स्वीय विधि', जिसे कानून द्वारा प्रत्याभूत किया गया है, को परिवर्तित नहीं किया जाएगा सिवाय समुदाय के पूर्व अनुमोदन के जिसको इस प्रकार से अभिनिश्चित किया जाएगा जैसाकि संघ विधान-मंडल विधि द्वारा विनिर्धारित करे ।"

मैं यह संशोधन प्रस्तुत करते हुए अपनी टिप्पणियों को मात्र मुस्लिम समुदाय द्वारा महसूस की गई असुविधा तक सीमित नहीं करना चाहता । मैं इसे अधिक व्यापक आधार पर प्रस्तुत करना चाहता

हूं । वास्तव में, प्रत्येक समुदाय, प्रत्येक धार्मिक समुदाय की कतिपय धार्मिक विधियां, कतिपय सिविल विधियां होती हैं, जो अपृथक्नीय रूप से धार्मिक आस्थाओं और प्रथाओं से संबद्ध होती हैं । मेरा विश्वास है कि समान आचार संहिता को प्रारूपित किए जाते समय इन धार्मिक विधियों या अर्ध धार्मिक विधियों को विचारण से बाहर रखा जाए । ऐसे कुछ कारण हैं जिनके कारणवश इस संशोधन को प्रस्तुत किया गया है । उनमें से एक यह है कि यह निश्चित रूप से प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 19 से टकराव में है । अनुच्छेद 19 में यह उपबंधित किया गया है कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म को आबध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा । वास्तव में, यह अत्यधिक मूल सिद्धांत है कि प्रारूपण समिति ने इसे ठीक ही इस स्थान पर पुरःस्थापित किया है । तत्पश्चात् इसी अनुच्छेद के खंड (2) में इस अधिकार को सीमित किए जाने के प्रयोजनार्थ यह उपबंधित किया गया है कि 'इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है ।' मेरा निश्चित रूप से विचार है कि ऐसी अनेक विनाशक प्रथाएं हो सकती हैं जो धार्मिक प्रथाओं से जुड़ी हुई हों और उन्हें नियंत्रित किया जा सकता है । किन्तु ऐसी भी कतिपय धार्मिक प्रथाएं, कतिपय धार्मिक विधियां हैं जो खंड (2), अर्थात् वित्तीय, राजनैतिक या अन्य पंथनिरपेक्ष क्रियाकलाप जो धार्मिक प्रथाओं के साथ सहबद्ध हो, के अपवाद के अंतर्गत नहीं आती हैं । धर्म पालन की स्वतंत्रता और धर्म के प्रचार की स्वतंत्रता को प्रत्याभूत करके और इसे ठीक ही प्रत्याभूत करके मेरा विचार है कि वर्तमान अनुच्छेद उस अधिकार को ले लेना चाहता है जिसको अनुच्छेद 19 द्वारा दिया गया है । श्रीमान् जी, मेरा निवेदन है कि हमें इस असमानता को रोकने का प्रयास करना चाहिए । हमने अनुच्छेद 19 में एक निश्चायक उपबंध को अधिनियमित किया है जो वाद योग्य है और जो राज्य के किसी भी निवासी को, उसकी जाति और समुदाय को ध्यान में रखे बिना न्यायालय में ले जा सकता है और विधि के प्रवर्तन की ईप्सा कर सकता है । इसके विपरीत हम

निर्देशाधीन उपबंध द्वारा राज्य को कुछ छूट प्रदान कर रहे हैं जो राज्य को, स्वीकार किए गए अधिकार को अनदेखा करने के योग्य बना सकता है । और इस प्रकार का अधिकार विधि सम्मत नहीं है । यह अनुच्छेद राज्य को कतिपय बातों की सिफारिश करता है और इसलिए यह राज्य को एक अधिकार प्रदान करता है । किन्तु इसके पश्चात् राज्य के निवासियों को इस उपबंध के अधीन कोई अधिकार प्रदान नहीं किय गया है । मैं निवेदन करता हूं कि वर्तमान अनुच्छेद द्वारा अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदान की गई प्रत्याभूतियों को प्रोत्साहित किए जाने की संभाव्यता है । श्रीमान्‌जी, मैं निवेदन करता हूं कि सिविल प्रक्रिया संहिता के कतिपय पहलू हैं जिन्होंने हमारी 'स्वीय विधियों' में पहले ही मध्यक्षेप कर दिया है और ऐसा करके ठीक ही किया है । अंग्रेजों ने 175 वर्षों के ब्रिटिश शासन के दौरान कतिपय मूलभूत 'स्वीय विधियों' में मध्यक्षेप नहीं किया था । उन्होंने रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, परिसीमा अधिनियम, सिविल प्रक्रिया संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता, दंड संहिता, साक्ष्य अधिनियम, संपत्ति अंतरण अधिनियम, शारदा अधिनियम और विभिन्न अन्य अधिनियम अधिनियमित किए थे । इन अधिनियमों को धीरे-धीरे जब आवश्यकता उत्पन्न हुई, अधिरोपित किया गया और उनका आशय था कि समान विधियां बनाई जाएं चाहे वे किसी समुदाय विशेष की 'स्वीय विधियों' के टकराव में ही क्यों न हों । किन्तु विवाह प्रथाओं और विरासत विधियों के मामलों को देखें । उन्होंने उनमें कभी मध्यक्षेप नहीं किया । हमारा समाज अभी जिस प्रक्रम पर है, उस पर यह कठिन होगा कि लोगों से कहा जाए कि वे विवाह के बारे में अपने विचारों, जो अनेक समुदायों में धार्मिक संस्थाओं के साथ सहबद्ध है, का परित्याग कर दें । विरासत विधियों के बारे में भी यह धारणा की जाती है कि वे धार्मिक आदेशों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में हैं । मेरा निवेदन है कि इन मामलों में मध्यक्षेप धीरे-धीरे होना चाहिए और समय के साथ-साथ उसमें बढ़ोत्तरी होनी चाहिए । मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक ऐसी स्थिति आएगी जब सिविल विधियां समान हो जाएंगी । किन्तु वह समय अभी नहीं आया है । हमें विश्वास है कि राज्य को समान सिविल संहिता बनाने की जो शक्ति प्रदान की गई है, वह समय से पहले प्रदान कर दी गई है । अभी (अनुच्छेद 35) जैसी स्थिति है, किसी भी राज्य के लिए अनुच्छेद 35 के अधीन यह न्यायसंगत नहीं होगा कि वह विभिन्न समुदायों की स्थापित विधियों में तुरंत मध्यक्षेप

करे । उदाहरण के लिए विभिन्न समुदायों में पुनर्विवाह प्रथाएं । यदि हम इस विधि का प्रवर्तित करना चाहते हैं कि प्रत्येक विवाह का रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य हो और यदि ऐसा नहीं किया जाता है, तो विवाह विधिमान्य नहीं होगा, तो हम ऐसा अनुच्छेद 35 के अधीन कर सकते हैं । किन्तु क्या आप किसी विवाह, जो विद्यमान विधि और वर्तमान धार्मिक आस्थाओं और प्रथाओं के अधीन विधिमान्य हैं, को इस आधार पर अविधिमान्य कर देंगे कि वह किसी नई विधि के अधीन रजिस्ट्रीकृत नहीं है और इस प्रकार विवाह से जन्में बच्चों को अवैध ठहरा देंगे ।

यह मात्र एक दृष्टांत है कि मध्यक्षेप के क्या प्रभाव हो सकते हैं । जैसाकि मैंने पहले ही निवेदन किया है, हमारा उद्देश्य समान सिविल संहिता होना चाहिए किन्तु यह धीरे-धीरे और संबद्ध लोगों की सहमति से किया जाना चाहिए । अतः मैंने अपने संशोधन में सुझाव दिया है कि विशिष्ट समुदायों से संबंधित धार्मिक विधियां, सिवाय उनकी सहमति के और उस तरीके से किया जाना चाहिए जिसका अभिनिर्धारण संसद विधि द्वारा करे । संसद किसी समुदाय की सहमति के विनिर्धारण का निर्णय उस समुदाय के प्रतिनिधियों के माध्यम से कर सकता है और प्रतिनिधियों द्वारा इसे उनके निर्वाचन संभाषणों और प्रतिज्ञाओं द्वारा सुनिश्चित किया जा सकता है । वास्तव में, इसे निर्वाचन में विश्वास का आधार बनाया जा सकता है और उस पर मत प्राप्ति को जनता की सहमति समझा जा सकता है । ये विस्तृत विवरण के मामले हैं । मैंने अपने संशोधन द्वारा प्रयास किया है कि इसे निर्णीत किए जाने के प्रयोजनार्थ केंद्रीय विधान-मंडल के जिम्मे छोड़ दिया जाए कि ऐसी सहमति को कैसे अभिनिश्चित किया जाए । श्रीमान्जी, मैं निवेदन करता हूं कि यह मात्र आदर्शवाद का विषय नहीं है । यह कठोर वास्तविकता का विषय है जिसका सामना करने से हमें इनकार नहीं करना चाहिए और मेरा विश्वास है कि इससे देश के विभिन्न वर्गों के मध्य बड़ी मात्रा में गलतफहमी और विद्वेष की भावना बढ़ेगी । जो ब्रिटिश 175 वर्षों में नहीं कर सके या जो उनके द्वारा किए जाने की आशंका थी, जो मुस्लिम पांच सौ वर्षों में करने से विरत रहे, हमें वह करने की शक्ति अचानक प्रदान नहीं करनी चाहिए । श्रीमानजी मैं निवेदन करता हूं कि हमें सभी कुछ अचानक करने के प्रयोजनार्थ जल्दबाजी में आगे नहीं बढ़ना चाहिए किन्तु सावधानी के साथ, अनुभव के साथ, राजनीतिमत्ता के साथ सहानुभूति

के साथ आगे बढ़ना चाहिए ।

"महबूब अली बेग साहिब बहादुर,: श्रीमानजी, मैं यह प्रस्ताव प्रस्तुत करता हूं कि अनुच्छेद 35 में निम्नलिखित परंतुक जोड़ा जाए :"

"परंतु यह कि इस अनुच्छेद की कोई बात नागरिक की 'स्वीय विधि' को प्रभावित नहीं करेगी ।"

अनुच्छेद 35 की बाबत मेरा मत है कि शब्द 'सिविल संहिता' के अंतर्गत कड़ाईपूर्वक किसी नागरिक की 'स्वीय विधि' आच्छादित नहीं आती । सिविल संहिता के अंतर्गत इस प्रकार की विधियां आती हैं : संपत्ति विधियां, संपत्ति अंतरण, संविदा विधि, साक्ष्य विधि इत्यादि । किसी विशिष्ट धार्मिक समुदाय द्वारा पालन की जाने वाली विधि अनुच्छेद 35 के अंतर्गत नहीं आती है । यह मेरा विचार है । फिर भी इस स्थिति को स्पष्ट किए जाने के प्रयोजनार्थ कि अनुच्छेद 35 नागरिक की 'स्वीय विधि' को प्रभावित नहीं करता, मैंने इस संशोधन का नोटिस दिया है । श्रीमानजी, अब यदि किसी कारणवश इस अनुच्छेद के रचयिताओं के मस्तिष्क में यह है कि नागरिक की 'स्वीय विधि' भी 'सिविल संहिता' अभिव्यक्ति के अंतर्गत आती है, मैं निवेदन करना चाहता हूं कि वे कतिपय धार्मिक समुदायों के अत्यंत निकट होने के कारण 'स्वीय विधि' के अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य का अनदेखा कर रहे हैं । जहां तक मुसलमानों का संबंध हैं, उनकी उत्तराधिकार, विरासत, विवाह और 'तलाक' की विधियां पूर्णतया उनके धर्म पर आधारित है ।

श्री एम अनंथसायनम अयंगर : यह संविदा का मामला है ।

महबूब अली बेग साहिब बहादुर : मैं जानता हूं कि श्री अनंथसायनम अयंगर के विचार अन्य समुदायों की विधियों के बारे में सदैव अत्यंत विलक्षण होते हैं । इसका निर्वचन संविदा के रूप में किया जाता है जबकि हिन्दुओं के मध्य विवाह एक संस्कार है और यूरोपीयन्स के मध्य यह हैसियत का मामला है । मैं इस बात को भलीभांति जानता हूं किन्तु मुसलमानों पर यह संविदा कुरान द्वारा अधिरोपित की गई है और यदि इसका पालन नहीं किया जाता तो विवाह बिल्कुल भी विधिक विवाह नहीं होगा । मुसलमानों द्वारा 1350 वर्षों से इस विधि का पालन किया जाता रहा है और सभी राज्यों में

सभी प्राधिकारियों द्वारा इसको मान्यता प्रदान की जाती रही है । यदि आज श्री अनंथसायनम अयंगर यह कह रहे हैं कि विवाह को साबित करने का कोई अन्य तरीका प्रस्तावित किया जा रहा है, तो हम इससे सहमत होने से इनकार करते हैं क्योंकि यह हमारे धर्म के अनुसार नहीं है । यह उस संहिता के अनुसार नहीं है जो हमारे ऊपर इस मामले में सदैव ही अधिरोपित रही है । इसलिए, श्रीमानजी इस मामले को हल्के में न लिया जाए । मैं जानता हूं कि अन्य समुदायों के मामले में भी, उनकी 'स्वीय विधि' पूर्णतया उनके धार्मिक पहलुओं पर आधारित होती है । यदि कुछ समुदायों के उनके धार्मिक पहलुओं और प्रथाओं की बाबत अन्य तरीके हैं, तो उन्हें किसी अन्य समुदाय पर अधिरोपित नहीं किया जा सकता जो इस बात पर जोर देता है कि उनके अपने धार्मिक पहलुओं को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए ।

ख. पौकर साहिब बहादुर (मद्रास : मुस्लिम) श्रीमान उपाध्यक्ष महोदय, मैं उस प्रस्ताव का समर्थन इस सीमा तक करता हूं कि अनुच्छेद 35 में निम्नलिखित परंतुक को जोड़ा जाए, जो कि श्री मोहम्मद इस्माइल साहिब द्वारा पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है :

"परंतु लोगों का कोई समूह, वर्ग या समुदाय अपनी स्वयं की 'स्वीय विधि', यदि उसकी ऐसी कोई विधि है, का परित्याग करने के लिए बाध्य नहीं होगा ।"

यह अनुच्छेद 35 का अत्यंत संतुलित और युक्तिसंगत संशोधन है । अब मैं सदन से अनुरोध करूंगा कि इस संशोधन पर न केवल मुस्लिम समुदाय के दृष्टिकोण से विचार किया जाए, बल्कि विभिन्न समुदायों, जो इस देश में विद्यमान हैं और विरासत, विवाह, उत्तराधिकार, 'तलाक', विन्यास और अन्य अनेक मामलों के संबंध में विभिन्न संहिता विधियों का पालन करते हैं । सदन को इस बात पर विचार करना चाहिए कि ब्रिटिश जिन्होंने इस देश पर विजय प्राप्त की और इस देश पर 150 वर्षों से भी अधिक समय तक शासन किया, इस देश का प्रशासन चलाने में इसलिए सफल रहे क्योंकि उन्होंने इस देश के विभिन्न समुदायों में से प्रत्येक को उनकी अपनी 'स्वीय विधियों' का अनुपालन करने की प्रत्याभूति प्रदान की थी । यही सफलता का रहस्य और न्याय प्रशासन का आधार है, जिसका अवलंब विदेशियों ने भी लिया । श्रीमान् जी, मैं पूछता हूं कि हमने जो स्वतंत्रता इस देश के लिए अभिप्राप्त की है, क्या हम उसको उस

अंतःकरण की स्वतंत्रता और धार्मिक प्रथाओं की स्वतंत्रताओं और प्रत्येक व्यक्ति की उसकी 'स्वीय विधि' का अनुपालन करने की स्वतंत्रता का अभित्याग करने जा रहे हैं और संपूर्ण देश पर एक समान सिविल विधि अधिरोपित करने की इच्छा रखते हैं, चाहे इसका अर्थ यही क्यों न हो, – जैसाकि मैं कहता हूं और इसमें सिविल विधि की समस्त शाखाएं सम्मिलित हो सकती हैं अर्थात् विवाह की विधि, विरासत की विधि, विवाह-विच्छेद की विधि और इसी प्रकार के अन्य मामले ?

सर्वप्रथम मैं उस वास्तविक आशय को जानना चाहूंगा, जिसके आधार पर इस खंड को प्रस्तावित किया गया । यदि 'सिविल संहिता' शब्दों का आशय सिविल प्रक्रिया संहिता और ऐसी अन्य विधियों को लागू ना है जो समान है जहां तक वर्तमान में भारत का संबंध है, तो किसी को इससे कोई आपत्ति नहीं होगी, किन्तु देश में विभिन्न प्रांतों में विभिन्न सिविल अधिनियमों ने प्रत्येक समुदाय के लिए उनकी अपनी 'स्वीय विधियों', जहां तक विवाह, विरासत, विवाह-विच्छेद इत्यादि का संबंध है, का अनुपालन सुनिश्चित कर लिया है । किन्तु, यदि यह आशय है कि राज्य की आकांक्षा इन सभी उपबंधों पर अध्यारोही प्रभाव अधिरोपित करने की है और सभी व्यक्तियों पर इन मामलों पर समान विधि अधिरोपित करने की है जिन पर वर्तमान में विभिन्न प्रांतों में सिविल न्यायालय अधिनियमों द्वारा विचार किया जाता है, और साथ ही मैं मात्र यह कहता हूं कि श्रीमान् जी यह एक आक्रांतात्मक उपबंध है जिसको सहन नहीं किया जाना चाहिए ; और इसका अर्थ यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि मैं केवल मुसलमानों की भावनाओं की बात कर रहा हूं । ऐसा कहकर मैं इस देश के अनेक वर्गों, जो महसूस करते हैं कि उनकी धार्मिक प्रथाओं और धार्मिक विधियों, जिनसे वे अभी तक शासित होते रहे हैं, की भावनाओं में इस प्रकार का मध्यक्षेप आक्रांतात्मक होगा, की भावनाओं की बात कर रहा हूं ।

* * * *

यदि ऐसा कोई निकाय जैसाकि यह है, धार्मिक अधिकारों और प्रथाओं में मध्यक्षेप करता है तो यह आक्रांतात्मक होगा । श्रीमान् जी, इन संगठनों ने उस भाषा से भी अधिक कठोर भाषा का प्रयोग किया है, जैसाकि मैं प्रयोग कर रहा हूं । इसलिए, मैं इस सभा से अनुरोध

करूंगा कि उस प्रत्येक बात पर मुस्लिम समुदाय के दृष्टिकोण से विचार न करे, जो मैं कह रहा हूं । मैं जानता हूं कि हिन्दू समुदाय के विभिन्न वर्गों के मध्य विरासत की विधि से संबंधित अनेक मामलों में अत्यधिक मतभेद है । क्या यह सभा उन सभी अंतरों को अपास्त करने और समान बनाने जा रही है ? मैं पूछता हूं कि समान शब्द से आपका क्या अर्थ है और आप किस समुदाय की किस विशिष्ट विधि को आप मानक बनाएंगे ? यहां मिताक्षरा और दायभाग प्रणालियां हैं ; यहां अनेक अन्य प्रणालियां हैं जिनका पालन विभिन्न अन्य समुदायों द्वारा किया जाता है । तो वह क्या है जिसको कि आप आधार बनाएंगे ।

क्या हमको इस प्रकार का कोई भी कार्य करने का अधिकार है ? इस खंड द्वारा आप संपूर्ण देश और संपूर्ण प्रणाली में क्रांति ला रहे हैं । इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

श्रीमान् जी, जैसाकि मेरे पूर्ववर्ती वक्ता ने इस मामले पर बोलते हुए पहले ही कहा है, यह अनुच्छेद 19 में मूल अधिकारों के संबंध में बनाए गए उपबंध के सर्वथा विपरीत है । यदि यह विपरीत है, तो इस प्रकार के खंड का क्या प्रयोजन होगा । क्या इस सभा को यह अधिकार है कि एक ही बार में ऐसा अनुच्छेद बना दे जिसके द्वारा संपूर्ण देश में क्रांति आ जाए ? क्या ऐसा आशयित है ? मैं नहीं जानता कि इस अनुच्छेद के रचयिताओं का क्या आशय है । मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हुए अत्यधिक दुख हो रहा है कि अत्यधिक महत्व के किसी ऐसे मामले पर, इस अनुच्छेद के रचयिताओं या प्रारूपकारों ने गंभीरतापूर्वक और पर्याप्त रूप से विचार नहीं किया है । क्या किसी और संविधान से इसकी नकल की गई है या नहीं, मैं नहीं जानता । फिर भी, यदि इसकी नकल किसी और संविधान से की गई है तो, मैं उस संविधान के ऐसे किसी उपबंध की भर्त्सना करता हूं । अन्य देशों, जहां पर परिस्थितियों पूर्णतः भिन्न है, के अन्य संविधानों से धाराओं की नकल किया जाना अत्यधिक आसान है । उन देशों में अनेक ऐसे समुदाय हैं जो सदियों से या हजारों सालों से विभिन्न प्रथाओं का पालन कर रहे हैं । आप एक ही बार में उन सभी को शून्य कर देना चाहते हैं और सभी बातों को समान कर देना चाहते हैं । इससे किस उद्देश्य की पूर्ति होगी ? ऐसी एकरूपता से किस उद्देश्य की पूर्ति होगी सिवाय इसके कि लोगों के अंतःकरण की हत्या

होना और उनको यह महसूस कराना कि उनको दबाया जा रहा है, जहां तक उनके धार्मिक अधिकारों और प्रथाओं का संबध है । श्रीमान् जी, मैं निवेदन करता हूं कि हिन्दू समुदाय में ऐसे अनेक वर्ग हैं जो इसके विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं और जो इसके विरुद्ध मुझसे भी अधिक कठोर भाषा का प्रयोग कर रहे हैं । यदि इस अनुच्छेद के रचयिता कहते हैं कि बहुसंख्यक समुदाय इसके समर्थन में एकमत है, तो मैं उनको ऐसा कहने की चुनौती देता हूं । ऐसा नहीं है । यदि यह धारणा भी कर ली जाए कि बहुसंख्यक समुदाय का यह मत है तो मैं कहता हूं कि इसकी निंदा की जानी चाहिए और इसको स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि एक लोकतंत्र में जैसाकि मैं समझ रहा हूं, बहुसंख्यक समुदाय का यह कर्तव्य है कि अल्पसंख्यक समुदाय के पवित्र अधिकारों को सुनिश्चित करे । यह लोकतंत्र का अपमान होगा यदि बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक अधिकारों का हनन करे । यह किसी भी प्रकार से लोकतंत्र नहीं होगा । यह तानाशाही होगी । इसलिए, मैं आपसे और इस सदन के सभी सदस्यों से निवेदन करता हूं इस अनुच्छेद पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए ; इसको पारित किए जाने के प्रयोजनार्थ हल्के में न लिया जाए ।

श्रीमान् जी, इस संबंध में मैं निवेदन करुंगा कि मैंने मूल अधिकार के अनुच्छेद के संशोधन के प्रयोजनार्थ भी नोटिस दिया है । यह मात्र नीति निदेशक तत्व है ।"

प्रारूपित अनुच्छेद 35 में प्रस्तावित ऊपरवर्णित संशोधनों का विरोध के. एम. मुंशी और अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने किया था । उनके उत्तर के सुसंगत उद्धरणों को नीचे उद्‌भूत किया गया है :–

"श्री के. एम. मुंशी (बाम्बे : सामान्य सदस्य) : श्रीमान् उपाध्यक्ष महोदय, मैं कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं । यह विशिष्ट खंड जो इस सदन के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत है, इस पर प्रथम बार विचार नहीं हो रहा है । इस पर इस सदन के समक्ष प्रस्तुत किए जाने के पूर्व भी विभिन्न समितियों और विभिन्न स्थानों पर चर्चा की जा चुकी है । वे आधार जो इसके विरुद्ध अब प्रस्तुत किया गया है, यह है कि प्रथमतः यह अनुच्छेद 19 में उल्लिखित मूल अधिकार का अतिलंघन करता है ; और द्वितीयतः यह अल्पसंख्यकों के विरुद्ध तानाशाही से परिपूर्ण है ।

जहां तक अनुच्छेद 19 का संबंध है, सदन ने इसे स्वीकार कर

लिया था और इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि 'इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारत नहीं करेगी जो (क) विनियमन या निर्बंधन करती है'– मैं अनावश्यक शब्दों को विलोपित कर रहा हूं – 'या अन्य पंथ निरपेक्ष क्रियाकलाप जो धार्मिक आचरण से संबद्ध हो सकते हैं ; (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार ।' इसलिए इस सदन ने इस सिद्धांत को पहले ही स्वीकार कर लिया है कि यदि जिस किसी धार्मिक प्रथा का अब तक अनुसरण किया जाता है उसके अंतर्गत कोई पंथनिरपेक्ष क्रियाकलाप आता है या वह सामाजिक सुधार या सामाजिक कल्याण के क्षेत्र के अंतर्गत आती है, तो संसद को उसके बारे में अल्पसंख्यकों के मूल अधिकारों का अतिलंघन किए बिना विधि बनाने की शक्ति प्राप्त होगी । यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यदि यह खंड अस्तित्व में रखा नहीं जाता तो इसका यह अर्थ नहीं होगा तो भविष्य में संसद को सिविल संहिता अधिनियमित करने का कोई अधिकार नहीं होगा । एक मात्र निर्बंधन जो इस अधिकार को प्रभावित करता है, वह अनुच्छेद 19 है और मैंने पहले ही बताया है कि अनुच्छेद 19, जिसे सदन द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है ऐसे विधानों की अनुज्ञा प्रदान करता है जिसके अंतर्गत पंथ निरपेक्ष क्रियाकलाप आते हैं । इस अनुच्छेद का संपूर्ण उद्देश्य यह है कि जब कभी भी संसद उचित समझे या जब कभी भी संसद में बहुसंख्यक सांसद उचित समझे, वे देश की 'स्वीय विधि' को एकीकृत बनाने का प्रयास कर सकेंगे ।

आगे एक दलील यह दी गई है कि सिविल संहिता की अधिनियमिति अल्पसंख्यकों के लिए तानाशाहीपूर्ण होगी । क्या यह तानाशाहीपूर्ण है ? किसी भी प्रगतिशील मुस्लिम देश में किसी भी अल्पसंख्यक की 'स्वीय विधि' को इतना अधिक पवित्र रूप में मान्यता प्रदान नहीं की गई है कि सिविल संहिता की अधिनियमिति को प्रभावित कर दिया जाए । उदाहरणार्थ तुर्की या मिस्त्र । इन देशों में किसी भी अल्पसंख्यक को इस प्रकार के अधिकारों की अनुज्ञा प्रदान नहीं की गई है । किन्तु मैं और आगे की बात करता हूं । जब शरीयत अधिनियम पारित किया गया था या पूर्व शासनकाल में केन्द्रीय विधान-मंडल द्वारा कतिपय विधियां पारित की गई थीं, तो खोजा और कुटची मेमन अत्यधिक असंतुष्ट थे ।

वे कतिपय हिन्दू रूढ़ियों का भी पालन करते हैं ; सदियों से जब से उन्होंने धर्म परिवर्तन किया तब से वे ऐसा करते आए हैं । वे शरीयत की पुष्टि नहीं करना चाहते ; और फिर भी केन्द्रीय विधान मंडल के विधान द्वारा कतिपय मुस्लिम सदस्यों, जिन्होंने महसूस किया कि शरीयत अधिनियम संपूर्ण समुदाय पर प्रवर्तित किया जाना चाहिए, ने अपने विचार रखे । खोजा और कुटची मेमन ने अत्यधिक अनिच्छापूर्वक इसकी मंजूरी दे दी थी । तब अल्पसंख्यकों के अधिकार कहां गए थे ? जब आप एक समुदाय को एकीकृत करना चाहते हैं, तो आपको उन लाभों पर भी विचार करना होगा जो संपूर्ण समुदाय को उद्भूत होते हैं और न कि उसके एक भाग से संबंधित प्रथाओं के संबंध में । अतः यह कहना सही नहीं है कि इस प्रकार का कार्य बहुसंख्यकों द्वारा की जाने वाली तानाशाही है । यदि आप उन यूरोपीय देशों, पर नजर डालेंगे जहां सिविल संहिता लागू है, तो जो कोई भी वहां विश्व के किसी भी भाग से जाता है और प्रत्येक अल्पसंख्यक को सिविल संहिता को स्वीकार करना होता है । अल्पसंख्यकों को यह तानाशाही के रूप में महसूस नहीं होता । अतः प्रश्न यह है कि क्या हम हमारी 'स्वीय विधियों' को ऐसी रीति में एकीकृत करने जा रहे हैं कि सामान्य अनुक्रम में संपूर्ण देश की जीवनशैली एकीकृत और पंथनिरपेक्ष हो जाए । हम 'स्वीय विधि' से धर्म को पृथक् करना चाहते हैं, जिसे सामाजिक संबंध कहा जा सकता है या जहां तक विरासत या उत्तराधिकार का संबंध है पक्षों के अधिकार कहा जा सकता है । इन बातों का धर्म से क्या लेना-देना है, मैं समझ पाने में असमर्थ हूं । उदाहारण के लिए हिन्दू विधि के प्रारूप को देखिए जो विधान-मंडल के समक्ष है । यदि कोई मनु और याज्ञवल्क्य की बात करता है और सभी उसका अनुसरण करते हैं, तो मैं समझता हूं कि नए विधेयक के अधिकांश उपबंध उनके द्वारा अधिरोपित निषेधों के खंडन में होंगे । किन्तु अंततः हम एक प्रगतिशील समाज हैं । हम एक ऐसी प्रक्रम पर खड़े हैं जहां हमें एकीकृत होना चाहिए और धार्मिक प्रथाओं द्वारा मध्यक्षेप के बिना किसी भी प्रकार से राष्ट्र को एकीकृत करना चाहिए । तथापि, यदि पूर्व में धार्मिक प्रथाओं का अर्थान्वयन इस प्रकार से किया जाता कि उसके अंतर्गत जीवन के संपूर्ण क्षेत्र आ जाते, तो हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच सकते थे जहां हम मजबूती के साथ खड़े हो सकते और कह सकते कि ये मामले धर्म नहीं हैं, ये शुद्धतः पंथ निरपेक्ष विधान

हैं । इस अनुच्छेद द्वारा इसी बात पर जोर दिया गया है ।

अब उन असुविधाओं पर विचार कीजिए जिन्हें आप सिविल संहिता की अनुपस्थिति में स्थायित्व प्रदान कर देंगे । उदाहरण के लिए हिन्दुओं को लीजिए । मयूख विधि भारत के कुछ भागों में लागू होती हैं ; अन्य भागों में मिताक्षरा विधि लागू होती है ; और बंगाल में दायभाग विधि लागू होती है । इस प्रकार हिन्दुओं के मध्य भी पृथक्-पृथक् विधियां हैं और हमारे अधिकांश प्रांतों और राज्यों ने अपने-अपने लिए पृथक् पृथक् हिन्दू विधि बनाना आरंभ कर दिया है । क्या हम थोड़ा थोड़ा करके इस आधार पर विधान बनाने की अनुज्ञा प्रदान करने जा रहे हैं कि यह देश की 'स्वीय विधि' को प्रभावित करता है ? अतः यह मात्र अल्पसंख्यकों के विचारार्थ प्रश्न नहीं है बल्कि यह बहुसंख्यकों को भी प्रभावित करने वाला प्रश्न है ।

मैं जानता हूं कि अनेक ऐसे हिन्दू हैं जो समान सिविल संहिता को पसंद नहीं करते क्योंकि उनके भी वही विचार हैं जो सम्मानित मुस्लिम सदस्यों के हैं किन्तु वे सबसे अंत में बोलते हैं । वे महसूस करते हैं कि विरासत, उत्तराधिकार, इत्यादि की 'स्वीय विधि' वास्तव में उनके धर्म का भाग है । यदि ऐसा है तो आप कभी नहीं दे सकते, उदाहरण के लिए, औरतों को समानता । किन्तु आपने इस संबंध में एक मूल अधिकार पहले ही पारित कर दिया है और आपके समक्ष यहां पर एक अनुच्छेद है जो अधिकथित करता है कि किसी भी लिंग के विरुद्ध कोई भी पक्षपात नहीं होना चाहिए । हिन्दू विधि को देखिए ; क्या आपको महिलाओं के विरुद्ध कोई भी पक्षपात दिखाई देता है ; और यदि वह पक्षपात हिन्दू धर्म या हिन्दू धार्मिक प्रथा का भाग है, तो आप ऐसी कोई भी विधि पारित नहीं कर सकते जो हिन्दू महिला की स्थिति को हिन्दू पुरुष के समतुल्य उन्नत कर सके । इसलिए ऐसा कोई कारण नहीं है कि भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र के भीतर कोई सिविल संहिता नहीं होनी चाहिए ।

*　　*　　*　　*

श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर (मद्रास : सामान्य सदस्य) – श्रीमान् उपाध्यक्ष महोदय, मेरे मित्र सम्मानित श्री मुंशी के अत्यंत परिपूर्ण व्याख्यान के पश्चात् मैं आवश्यक नहीं समझता कि सम्पूर्ण विषय पर बात की जाए । किन्तु यहां पर यह समझना आवश्यक है कि क्या इस अनुच्छेद के वर्तमान स्वरूप के विरुद्ध कोई वास्तविक

आक्षेप हो सकता है ?

"राज्य भारत के समस्त राज्यक्षेत्र के नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा ।"

*   *   *   *

अब मेरे मित्र श्री पोकर ने प्रारूपण समिति पर इस आधार पर आक्रमण किया कि उन्हें अपने कार्य की जानकारी नहीं थी । मैं जानना चाहता हूं कि उन्होंने सावधानीपर्वूक पढ़ा है कि ब्रिटिश शासनकाल के दौरान क्या घटित हुआ था । आपको ज्ञात होना चाहिए कि मुस्लिम विधि के अंतर्गत संविदाएं, दांडिक विधि के क्षेत्र, विवाह-विच्छेद विधि के क्षेत्र, विवाह के क्षेत्र और मुस्लिम विधि में समाविष्ट विधि के संपूर्ण भाग आते हैं । जब ब्रिटिश का इस देश पर आधिपत्य था, तो उन्होंने कहा था, हम देश में एक दांडिक विधि प्रस्तावित करने जा रहे हैं जो सभी नागरिकों पर लागू होंगी, चाहे वे अंग्रेज हों या हिन्दू हों या मुस्लिम हों । क्या मुस्लिम कोई अपवाद थे और क्या उन्होंने ब्रिटिश के विरुद्ध दांडिक विधि की एकल प्रणाली प्रस्तावित करने के विरुद्ध विद्रोह किया ? इसी प्रकार से, हमारे समक्ष मुस्लिमों और हिन्दुओं के मध्य, मुस्लिमों और मुस्लिमों के मध्य संव्यवहारों को नियंत्रित करने वाली संविदा विधि है । वे (मुस्लिम) कुरान की विधि द्वारा शासित नहीं होते हैं बल्कि एंग्लो इंडियन न्यायशास्त्र द्वारा शासित होते हैं । फिर भी इसके विरुद्ध कोई अपवाद नहीं लिया गया । पुनः अंतरण की विधि में अनेक सिद्धांत हैं जिन्हें ब्रिटिश न्यायशास्त्र से लिया गया है ।

इसलिए जब दो सभ्यताओं या दो संस्कृतियों के मध्य कोई संविदा होती है, तो प्रत्येक संस्कृति प्रभावित होती है और दूसरी संस्कृति को प्रभावित करती है । यदि कोई निश्चित विरोध है या समुदाय के किसी एक वर्ग द्वारा जोरदार विरोध किया जाता है, तो इस देश के विधायकों के लिए उसे अनदेखा करने का प्रयास करना मूर्खतापूर्ण होगा । आज अनुच्छेद 35 के बिना भी, भारत की भावों की संसद् को ऐसी विधियों को पारित करने से रोकने के लिए कुछ भी नहीं है । इसलिए विचार यह है कि समान सिविल संहिता होनी चाहिए ।

अब पुनः भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों में मुस्लिम, हिन्दू कैथोलिक, क्रिश्चियन और यहूदी हैं । मैं श्री पोकर से जानना चाहता हूं कि क्या

फ्रांस, जर्मनी, इटली और यूरोपीय प्रायद्वीप के सभी देशों में विभिन्न 'स्वीय विधियां' विकसित की गई थीं या क्या उत्तराधिकार की विधियों विभिन्न देशों में समन्वित या एकीकृत नहीं है । उन्हें मुस्लिम न्यायशास्त्र का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना चाहिए था और पता लगाना चाहिए था कि उन सभी देशों में विधि की एकल प्रणाली है या विधि की विभिन्न प्रणालियां हैं ।

उन लोगों को छोड़िए जो उन देशों में रहते हैं । आज देश के अन्य भागों में रहने वाले लोगों के संबंध में, यदि वे यूरोप प्रायद्वीप के उन देशों में संपत्ति धारित करते हैं जहां जर्मन सिविल संहिता या फ्रेंच सिविल संहिता लागू होती है, तो लोग उन स्थानों की विधियों द्वारा शासित होंगे । इसलिए, यह कहना सही नहीं है कि हम धर्म के परिक्षेत्र का अतिक्रमण कर रहे हैं । मुस्लिम विधि के अधीन, जैसाकि हिन्दू विधि के अंतर्गत नहीं होता है, विवाह शुद्धतः एक सिविल संविदा है । पवित्रता का विचार मुस्लिम न्यायशास्त्र में विवाह की संकल्पना के अंतर्गत नहीं आता यद्यपि संविदा का विचार कुरान और न्यायविदों द्वारा अधिकथित तौर से शासित हो सकता है । इसलिए धर्म खतरे में होने का कोई प्रश्न नहीं है । निश्चित रूप से कोई भी संसद्, कोई भी विधान-मंडल लोगों की धार्मिक मान्यताओं में मध्यक्षेप करने की विधान-मंडल की शक्ति के सिवाय इस संबंध में कानून बनाने की मूर्खता नहीं करेगा । अंततोगत्वा, एक मात्र समुदाय जो परिवर्तनकारी समय के साथ स्वयं को परिवर्तित करने का इच्छुक है, देश का बहुसंख्यक समुदाय है । वे अल्पसंख्यकों से सबक सीखने और अपनी हिन्दू विधियों को अंगीकृत करने और अपने में सुधार लाने के लिए, चाहे वह हिन्दू विधि ही क्यों न हो, इच्छुक है । इसलिए उस आक्षेप में कोई बल नहीं है जो अनुच्छेद 35 के विरुद्ध किए गए हैं । भावी विधान-मंडल समान सिविल संहिता बनाने का प्रयास कर सकते हैं या वे ऐसा नहीं कर सकते हैं । समान सिविल संहिता सिविल विधि के प्रत्येक पहलू पर लागू होगी । संविदा, प्रक्रिया और संपत्ति के संबंध में एकरूपता को सुनिश्चित किए जाने की ईप्सा उन्हें समवर्ती सूची में लाए जाने के द्वारा की गई है । इन मामलों के संबंध में ब्रिटिश न्यायशास्त्र का महानतम योगदान इन मामलों में एकरूपता लाना है । हम ब्रिटिशों से एक कदम आगे जाएंगे वे जिन्होंने इस देश पर शासन किया । आप एक विदेशी सरकार, जो शासन कर रही है, के मुकाबले में राष्ट्रीय घरेलू सरकार पर अविश्वास क्यों करते हैं ? हमारे मुस्लिम

मित्र एक लोकतांत्रिक नियम, जो निश्चित रूप से सभी लोगों की धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं का अधिक ख्याल रखेगा, के मुकाबले ब्रिटिश शासन में अधिक विश्वास और अधिक आस्था क्यों रखते हैं ?

इसलिए इन कारणोंवश मैं निवेदन करता हूं कि यह सदन सर्वसम्मति से इस अनुच्छेद को, जिसे सदस्यों के समक्ष गंभीर मंत्रणा के पश्चात् रखा गया है, पारित करे ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

इससे पहले कि संशोधनों पर मतदान किया जाता, डा. बी. आर. अम्बेडकर ने निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की :–

माननीय डा. बी. आर. अम्बेडकर – श्रीमान्, मुझे आशंका है कि मैं उन संशोधनों को स्वीकार नहीं कर सकता जो इस अनुच्छेद की बाबत प्रस्तुत किए गए हैं । मैं इस मामले पर विचार करते हुए इस प्रश्न के गुणागुण पर विचार नहीं करना चाहता कि क्या इस देश में एक सिविल संहिता होनी चाहिए या नहीं ? यह एक ऐसा मामला है जिस पर, मैं समझता हूं, मेरे मित्र श्री मुंशी और श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर द्वारा पर्याप्त रूप से विचार किया गया है । जब किसी मूल अधिकार के संबंध में संशोधन प्रस्तुत किए जाएंगे तब मेरे लिए संभव होगा कि इस विषय पर पूर्ण कथन कर सकूं और इसलिए मैं नहीं समझता कि अभी इस पर विचार करूं ।

मेरे मित्र श्री हुसैन इमाम ने संशोधनों के समर्थन में खड़े होते हुए पूछा कि क्या यह संभव और अपेक्षित है कि इस देश के लिए, जो अत्यधिक विशाल है, के लिए विधियों की एक समान संहिता हो । अब मैं स्वीकार करता हूं कि मैं इस कथन पर इस साधारण कारणवश अत्यधिक आश्चर्यचकित था कि इस देश में हमारे पास मानवीय संबंधों के लगभग प्रत्येक पहलू की बाबत विधियों की एक समान संहिता है । हमारे पास एक समान और संपूर्ण दांडिक संहिता है, जो सम्पूर्ण देश में लागू होती है और जो दंड संहिता और दांडिक प्रक्रिया संहिता में समाविष्ट है । हमारे पास संपत्ति अंतरण की विधि है, जो संपत्ति से संबंधित संबंधों पर विचार करती है और संपूर्ण देश में क्रियान्वित होती हैं । तत्पश्चात् परक्राम्य लिखित अधिनियम हैं – और मैं असंख्यक अधिनियमितियों को उद्धृत कर सकता हूं जिनसे

यह साबित हो जाएगा कि इस देश के पास समस्त व्यावहारिक प्रयोजनार्थ एक सिविल संहिता है, जो अंतर्वस्तु में समान है और संपूर्ण देश पर लागू होती है । अब सिविल विधि में एकमात्र क्षेत्र विवाह और उत्तराधिकार का है जिस पर अभी तक विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है । यही वह छोटा सा कोना है जिस पर अभी तक हम विजय प्राप्त नहीं कर सके हैं और उन लोगों का, जो संविधान के भाग के रूप में अनुच्छेद 35 को रखना चाहते हैं, का आशय यह है कि वे परिवर्तन लाना चाहते हैं, इसलिए यह दलील कि क्या हमें ऐसी किसी बात का प्रयास करना चाहिए, इस साधारण कारणवश निरर्थक प्रतीत होती है कि हमने वास्तव में उस संपूर्ण क्षेत्र को आच्छादित कर लिया है जो इस देश में समान सिविल संहिता के अंतर्गत आता है । इसलिए इस प्रश्न को पूछा जाना अत्यधिक विलम्बित है कि क्या हम ऐसा कर सकते हैं । जैसाकि मैं कहता हूं, हमने ऐसा पहले ही कर लिया है ।

अब हम संशोधनों पर विचार करते हैं, मात्र दो मताभिव्यक्तियां हैं जो मैं करना चाहूंगा । मेरी प्रथम मताभिव्यक्ति यह होगी कि क्या सदस्यों, जिन्होंने संशोधन प्रस्तुत किए हैं, से कहा जाए कि मुस्लिम 'स्वीय विधि', जहां तक इस देश का संबंध है, संपूर्ण देश में अपरिवर्तनीय और समान थी । अब मैं इस कथन को चुनौती देना चाहता हूं । मैं समझता हूं कि मेरे अधिकांश मित्र जिन्होंने इस संशोधन पर बोला है, इस बात को बिल्कुल भूल चुके हैं कि वर्ष 1935 तक उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत शरीयत विधि के अधीन नहीं था । यह क्षेत्र उत्तराधिकार और अन्य मामलों में हिन्दू विधि का अनुसरण करता था, तत्पश्चात् वर्ष 1939 में यह हुआ कि केन्द्रीय विधान-मंडल ने इस क्षेत्र में कार्य शुरू किया और उन्होंने उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत के मुस्लिमों पर से हिन्दू विधि के उपयोजन को निरसित कर दिया और उनके ऊपर शरीयत विधि लागू कर दी । यहीं पर बात खत्म नहीं हुई ।

मेरे सम्मानित मित्र यह भूल गए हैं कि उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत के अलावा संपूर्ण देश के विभिन्न भागों में, जैसे कि संयुक्त प्रांतों, केन्द्रीय प्रांतों और बाम्बे में वर्ष 1937 तक मुस्लिम उत्तराधिकार के मामलों में बड़ी सीमा तक हिन्दू विधि द्वारा शासित थे । उन्हें उन मुसलमानों के संबंध में, जो शरीयत विधि का पालन करते थे, समान

विधि संहिता पर लाने के प्रयोजनार्थ वर्ष 1937 में मध्यक्षेप करना पड़ा और एक ऐसी अधिनियमिति को पारित करना पड़ा जो संपूर्ण भारत में शरीयत विधि लागू करने वाली थी ।

मुझे मेरे मित्र श्री करुणाकर मेनन ने बताया है कि उत्तरी मालाबार में मरुमक्काथयम विधि सभी पर न केवल हिन्दुओं पर बल्कि मुस्लिमों पर भी लागू होती थी । यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि मरुमक्काथयम विधि का मातृसत्तामक स्वरूप था न कि पितृसत्तामक स्वरूप ।

अतः उत्तरी मालाबार के मुसलमान अभी तक मरुमक्काथयम विधि का पालन कर रहे थे । अतः किसी प्रकार का स्पष्ट कथन करने की आवश्यकता नहीं है कि मुस्लिम विधि अपरिवर्तनीय विधि रही है जिसका पालन वे अनादिकाल से करते चले आ रहे हैं । वह विधि इस रूप में कतिपय भागों में लागू नहीं थी और यह मात्र 10 वर्ष पहले लागू की गई है । इसलिए यदि इस बात को आवश्यक पाया जाता है कि धर्म को ध्यान में रखे बिना सभी नागरिकों पर लागू होने वाली किसी एकल सिविल संहिता को विकसित किए जाने के प्रयोजनार्थ हिन्दू विधि के कतिपय भागों को, मात्र इस कारणवश नहीं कि वे हिन्दू विधि में समाविष्ट थे बल्कि इस कारणवश कि उन्हें अत्यधिक उपयुक्त पाया गया था और अनुच्छेद 35 द्वारा प्रदर्शित नई सिविल संहिता में सम्मिलित किया गया था, तो मुझे पक्का विश्वास है कि किसी मुस्लिम को यह कहने का अधिकार नहीं होगा कि सिविल संहिता के रचयिताओं ने मुस्लिम समुदाय की भावनाओं के साथ अत्यधिक खिलवाड़ किया ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

मेरी द्वितीय मताभिव्यक्ति यह है कि उन्हें (मुस्लिमों सदस्यों को) आश्वासन दिया जाए । मैं इस मामले में निश्चित रूप से उनकी भावनाओं का सम्मान करता हूं, किन्तु मेरा विचार है कि उन्होंने अनुच्छेद 35 में, जो मात्र यह प्रस्तावित करता है कि राज्य देश के नागरिकों के लिए सिविल संहिता सुनिश्चित करने के लिए प्रयास करेगा, बहुत कुछ पढ़ लिया है । यह अनुच्छेद ऐसा नहीं कहता है कि राज्य संहिता को विरचित किए जाने के पश्चात् अपने सभी नागरिकों पर मात्र इस कारणवश प्रवर्तित करेगा कि वे नागरिक हैं । यह निश्चित रूप से संभव है कि भावी संसद् आरंभिक कथन के रूप में एक उपबंध बना दे कि यह संहिता केवल उन लोगों पर

लागू होगी जो यह घोषणा करते हैं कि वे इसके द्वारा बाध्य होने के लिए तैयार हैं, ताकि आरंभिक प्रक्रम पर संहिता का लागू किया जाना पूर्णतः स्वैच्छिक हो । संसद् उन आधारों को किसी तरीके के द्वारा निश्चित कर सकती है । यह कोई नया तरीका नहीं है । इसे 1937 के शरीयत अधिनियम में अंगीकृत किया गया था जब इसे उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत के अलावा अन्य राज्यक्षेत्रों में लागू किया गया था । इस विधि ने स्पष्ट किया है कि यह शरीयत विधि है जो उन मुसलमानों पर लागू की जानी है जो चाहते हैं कि उनको शरीयत अधिनियम द्वारा बाध्य किया जाए और इस प्रयोजनार्थ उन्हें राज्य के प्राधिकारी के पास जाना चाहिए और घोषणा करनी चाहिए कि वे उसके द्वारा (शरीयत विधि द्वारा) बाध्य होने के इच्छुक हैं और उनके द्वारा घोषणा किए जाने के पश्चात् ही वह विधि उन पर और उनके उत्तराधिकारियों पर लागू होगी । संसद् के लिए इस प्रकार का उपबंध सन्निविष्ट करना निश्चित रूप से संभव होगा ताकि इस भय का, जो मेरे मित्र यहां पर व्यक्त कर रहे हैं, पूर्णतया निराकरण हो जाए । अतः, मैं निवेदन करता हूं कि इन संशोधनों में कोई सार नहीं है और मैं इनका विरोध करता हूं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

जब संविधान सभा के उपाध्यक्ष द्वारा मामले को मतदान के लिए प्रस्तुत किया गया, तो यह प्रस्ताव पारित किया गया :–

"श्रीमान् उपाध्यक्ष : प्रश्न यह है कि :

"यह कि अनुच्छेद 35 में निम्नलिखित परंतुक जोड़ा जाए :

'परंतु लोगों के किसी समूह, वर्ग या समुदाय को उनकी अपनी 'स्वीय विधि', यदि वे ऐसी कोई विधि रखते हैं, का परित्याग करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा' ।"

इस प्रस्ताव को नकार दिया गया ।"

प्रारूपित अनुच्छेद 35 के संबंध में संविधान सभा में संपन्न हुई बहस, जिसे संविधान के अनुच्छेद 44 में सम्मिलित किया गया (जिसको ऊपर उद्धृत किया गया है) के आधार पर यह निवेदन किया गया कि जैसे कि अनुच्छेद 25(2)(ख) में अभिव्यक्त किया गया और इसी प्रकार से अनुच्छेद 44 के संबंध में की गई बहस का संबंध है, संविधान सभा का आशय विभिन्न समुदायों की "स्वीय विधियों" की महत्ता को अन्य मूल अधिकारों की तरह, यद्यपि एक परंतुक के साथ कि विधान-मंडल उसको संशोधित करने के

लिए सक्षम है, उन्नत करके संरक्षण प्रदान करना था ।

95. क्रमिक रूप से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमारा ध्यान अनुच्छेद 25 के संदर्भ में संविधान सभा द्वारा की गई बहस की ओर आकर्षित किया जिससे कि वे अपनी इस दलील पर बल दे सकें कि उपर्युक्त अनुच्छेद का उद्देश्य उनकी "स्वीय विधियों" को मूल अधिकारों की महत्ता तक उन्नत किए जाने के द्वारा परिरक्षित करना था । यह दलील दी गई कि तत्काल रूप से यह उन्नयन संविधान में अनुच्छेद 25 और 26 को भाग 3 मूल अधिकारों के संघटकों के रूप में सम्मिलित करके किया गया था । यहां पर यह अभिलिखित किया जाना सुसंगत होगा कि अनुच्छेद 25, जैसा कि वह अब विद्यमान है, पर संविधान सभा द्वारा प्रारूपित अनुच्छेद 19 के रूप में बहस की गई थी । यह दलील दी गई कि मोहम्मद इस्माइल साहिब द्वारा प्रस्तावित केवल एक संशोधन और पंडित लक्ष्मी कांत मित्रा द्वारा दिए गए उसके उत्तर के आधार पर उस प्रतिपादना को प्राप्त किया जा सकता है जिसकी ईप्सा की गई है अर्थात् "स्वीय विधियां" व्यक्ति के अपृथक्नीय अधिकार है और उन्हें उनकी अपनी आस्था के सामंजस्य में शासित होने की अनुज्ञा प्रदान करते हैं । वर्तमान विवाद के प्रयोजनार्थ, मोहम्मद इस्माइल साहिब द्वारा प्रस्तावित संशोधन और उस संबंध में संविधान सभा में उनका कथन सुसंगत है और उसे यहां नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

> "मोहम्मद इस्माइल साहिब : श्रीमान् जी, इस अत्यंत महत्वपूर्ण मामले पर इस सदन के समक्ष मुझे अपने विचार प्रस्तुत करने का एक अन्य अवसर प्रदान करने के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद । मैं निवेदन करता हूं –
>
> "यह कि अनुच्छेद 19 के खंड (2) के पश्चात् निम्नलिखित नया खंड जोड़ा जाए –
>
> '(3) इस अनुच्छेद के खंड (2) में की कोई भी बात किसी नागरिक के उस समूह या समुदाय, जिससे वह संबंधित है या संबंधित होने की सहमति व्यक्त करता है, की 'स्वीय विधि' का अनुसरण करने के अधिकार को प्रभावित नहीं करेगी' ।"
>
> श्रीमान् जी यह उपबंध जिसका मैं सुझाव दे रहा हूं लोगों के उनके परिवारों और समुदायों की सीमाओं के भीतर अपनी 'स्वीय विधि' का अनुसरण करने के दीर्घ अवधि से चले आ रहे अधिकार को मान्यता प्रदान करता है । यह अन्य समुदायों के सदस्यों के अधिकारों

को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता । यह अन्य समुदायों के सदस्यों के अपनी 'स्वीय विधि' का अनुसरण करने के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करता । इसका अर्थ किसी अन्य समुदाय के सदस्यों द्वारा किसी भी प्रकार के बलिदान से बिल्कुल नहीं है । श्रीमान् जी, यहां पर हम जिस बात से संबद्ध हैं, वह कतिपय परिवारों, जो एक ही समुदाय से संबद्ध होते हैं, के सदस्यों की मात्र एक प्रथा है । यह एक पारिवारिक प्रथा है और उन मामलों में जैसे कि उत्तराधिकार, विरासत और वक्फ और विल द्वारा संपत्तियों का निस्तारण में 'स्वीय विधि' क्रियान्वित होती है । यह केवल उन मामलों में क्रियान्वित होती है जिनसे हम 'स्वीय विधि' के अंतर्गत संबद्ध हैं । अन्य मामलों में जैसे कि साक्ष्य, संपत्ति अंतरण, संविदा और इसी प्रकार के असंख्यक अन्य प्रश्नों के निर्धारण के लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता क्रियान्वित होगी और प्रत्येक नागरिक पर लागू होगी, चाहे वह जिस भी समुदाय से संबंधित हो, इसलिए इससे समानता की अपेक्षित मात्रा, जो राज्य सिविल विधि मामलों में लागू करने का प्रयत्न कर रहा है, में अपकर्षण नहीं होगा ।

लोगों के मध्य 'स्वीय विधि' का अनुसरण करने की यह प्रथा सदियों से चल रही है । मैं इस संशोधन के द्वारा जो चाहता हूं, वह यह है कि इस प्रथा में अभी व्यवधान उत्पन्न नहीं होना चाहिए और मैं मात्र इस प्रथा को जारी रखना चाहता हूं जिसका अनुसरण लोगों द्वारा सदियों से किया जा रहा है । एक पूर्व अवसर पर डा. अम्बेडकर ने मुस्लिम 'स्वीय विधि', जैसेकि वक्फ से संबंधित अधिनियमितियां, शरीयत विधि और मुस्लिम विवाह विधि से संबंधित कतिपय अधिनियमितियों के बारे में कहा था । यहां पर मुस्लिम 'स्वीय विधि' के निरसन का प्रश्न बिल्कुल उत्पन्न नहीं होता । कोई पुनरीक्षण नहीं किया गया है और उन सभी मामलों में जो किया गया है, वह यह था कि मुस्लिम 'स्वीय विधि' को स्पष्ट किया गया था और यह स्पष्ट किया गया था कि ये विधियां केवल मुस्लिमों पर लागू होंगी । वे इनको बिल्कुल भी उपांतरित नहीं करते । इसलिए वे अधिनियमितियां और विधान अब निर्णयज विधियों के मामलों के रूप में उद्धृत नहीं किए जा सकते जिनके आधार पर हम लोगों की 'स्वीय विधि' में किसी भी प्रकार से अतिलंघन कर सकें । इस संशोधन के अधीन मैं चाहता हूं कि यह सदन स्वीकार करे कि जब हम यह बात करते हैं

कि राज्य धर्म के पंथ निरपेक्ष पहलू के संदर्भ में कुछ करे तो 'स्वीय विधि' का प्रश्न नहीं उठेगा और यह प्रभावित नहीं होगा ।

* * * *

किसी के द्वारा अपनी आस्था को मानने, आचरण करने और उसका प्रचार करने का अधिकार ऐसा अधिकार है जो मनुष्य के पास आदि काल से रहा है और जिसे प्रत्येक मनुष्य के अपृथक्नीय अधिकार के रूप में न केवल इस देश में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में मान्यता प्रदान की गई है और मैं समझता हूं कि मनुष्य के इस अधिकार को प्रभावित किए जाने के प्रयोजनार्थ किसी के द्वारा कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए । अनुच्छेद का यह भाग, जिस भी रूप में है, उचित रूप से शब्दांकित है और इसमें कोई फेरफार नहीं किया जाना चाहिए । यह मेरा विचार है ।

एक अन्य माननीय सदस्य ने उन कठिनाइयों के बारे में बात की जो धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं । मेरा कहना है कि कठिनाइयां धर्म के प्रचार या उसको मानने या उसके अनुरूप आचरण करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न नहीं हुई है । वे धर्म के संबंध में गलतफहमी के कारण उत्पन्न हुई हैं । मेरा दृष्टिकोण यह है और मैं यह कहना चाहता हूं कि सही दृष्टिकोण यह है कि यदि लोग केवल अपने-अपने धर्म को सही ढंग से समझ लें और वे उसका पालन सही ढंग से उचित रीति में करें, तो किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी; और क्योंकि किसी कारणवश कुछ कठिनाई उत्पन्न हुई, तो इसका यह कारण नहीं है कि किसी मनुष्य द्वारा उसके धर्म का पालन और प्रचार किए जाने के मूल अधिकारों को किसी भी प्रकार से निरसित कर दिया जाना चाहिए ।"

पंडित लक्ष्मी कांत मित्रा का उत्तर नीचे उद्‌धृत किया गया है –

"**पंडित लक्ष्मी कांत मित्रा (पश्चिमी बंगाल : सामान्य सदस्य)** – श्रीमान् जी, मैं इस अनुच्छेद के सामान्य आशय को स्पष्ट करने के प्रयोजनार्थ कुछ कहना चाहता हूं जिससे कि मेरे सम्मानित मित्रों के मस्तिष्क में इस अनुच्छेद के संबंध में उत्पन्न हुई गलतफहमियों को दूर किया जा सके ।

प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 19 सभी व्यक्तियों को उनकी पसंद के किसी भी धर्म का पालन करने, उसके अनुरूप आचरण

करने और उसका प्रचार करने का अधिकार प्रदत्त करता है किन्तु ये अधिकार कतिपय शर्तों, जिनको राज्य लोक नैतिकता, लोक व्यवस्था और लोक स्वास्थ्य के हित में अधिरोपित कर सकता है, द्वारा सीमाबद्ध कर दिया गया है और यह भी कि इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त अधिकार संविधान के इस भाग के अंतर्गत उल्लिखित किसी भी उपबंध के टकराव में नहीं है । मेरे कुछ मित्रों ने दलील दी कि इस अधिकार को प्रारूपित संविधान में रखे जाने की अनुज्ञा इस साधारण कारणवश प्रदान नहीं की जानी चाहिए कि हमने बार-बार घोषित किया है कि हमारा देश एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र बनने जा रहा है और इसलिए धर्म की प्रथा को मूल अधिकार के रूप में स्थान दिए जाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं की जानी चाहिए । आगे यह दलील दी गई कि किसी विशिष्ट आस्था या धर्म का प्रचार करने का अतिरिक्त अधिकार प्रदत्त करके कठिनाइयों और टकराव के सभी द्वार खुल जाएंगे जो कभी न कभी राष्ट्र के सामान्य जीवन को अपंग बना देंगे । मैं यहां पर तुरंत कहना चाहता हूं कि पंथनिरपेक्ष राष्ट्र की यह संकल्पना पूर्णतया गलत है । (पंथनिरपेक्ष राष्ट्र द्वारा, जैसाकि मैं इसे समझता हूं, यह आशय है कि राज्य धर्म या समुदाय के आधार पर किसी विशिष्ट प्रकार की धार्मिक आस्था का पालन करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध किसी भी प्रकार का कोई पक्षपात नहीं करेगा । संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि राज्य में कोई भी विशिष्ट धर्म किसी भी प्रकार का राज्य-संरक्षण प्राप्त नहीं करेगा । राज्य अन्य धर्मों के बहिष्करण में या उनके अधिमान में किसी विशिष्ट धर्म को स्थापित या संरक्षित नहीं करेगा या धन प्रदान नहीं करेगा और राज्य में किसी भी नागरिक के साथ अधिमानिक बर्ताव या उसके साथ पक्षपात मात्र इस आधार पर नहीं किया जाएगा कि वह किसी विशेष धर्म को मानने वाला है । अन्य शब्दों में राज्य के मामलों में किसी विशेष धर्म को मानना विचार की विषयवस्तु नहीं होगा ।) मैं इसे किसी पंथनिरपेक्ष राष्ट्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात मानता हूं । इसके साथ-साथ, हमें इस बात पर विचार करते हुए अत्यधिक सावधान रहना होगा कि हमारा देश किसी को भी किसी विशिष्ट धर्म को मानने और उसका पालन करने बल्कि उसका प्रचार करने से भी नहीं रोकता है । श्रीमान उपाध्यक्ष महोदय, हमारा यह गौरवशाली देश कुछ भी नहीं होगा यदि यह उच्च धार्मिक और अध्यात्मिक संकल्पनाओं और आदर्शों का पालन नहीं करेगा । भारत विश्व में सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं कर सकेगा यदि

वह उस अध्यात्मिक उंचाई को प्राप्त नहीं कर सकेगा जो उसने अपने गौरवशाली अतीत में प्राप्त कर ली थी । अतः, मैं महसूस करता हूं कि संविधान ने इसके लिए न केवल एक अधिकार के रूप में बल्कि मूल अधिकार के रूप में न्यायतः उपबंधित किया है । इस मूल अधिकार का प्रयोग करके इस राज्य में निवास करने वाले प्रत्येक समुदाय को उनके धर्म के अनुसार उनकी पसंद का कुछ भी करने के समान अधिकार और सुविधाएं होंगी परंतु यह तब जबकि इस अधिकार का टकराव यहां अधिकथित शर्तों के साथ न हो ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उपर्युक्त के अतिरिक्त, मात्र यह उल्लेख किया जाना सुसंगत होगा कि मोहम्मद इस्माइल साहिब द्वारा प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा द्वारा नकार दिया गया था ।

96. विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री कपिल सिब्बल ने अपनी दलीलों को समाप्त करते हुए अपना ध्यान मुस्लिम "स्वीय विधि" (शरीयत) अधिनियम, 1937 पर केन्द्रित किया और हमारा ध्यान कुछ बहसों की ओर आकर्षित किया जो तब हुई थीं जब इस अधिनियम से संबंधित विधेयक को विधान सभा में प्रस्तुत किया गया था । केवल एच. एम. अब्दुल्लाह और अब्दुल कयूम द्वारा सदन में किए गए कथनों के प्रतिनिर्देश करना आवश्यक है । उन्हें नीचे उद्धृत किया गया है :–

"**श्री एच. एम. अब्दुल्लाह (पश्चिमी केन्द्रीय पंजाब : मुस्लिम सदस्य)** श्रीमान् जी, मैं निवेदन करता हूं – "इस विधेयक का उद्देश्य ब्रिटिश भारत में मुसलमानों के लिए मुस्लिम 'स्वीय विधि' (शरीयत) को लागू किए जाने के लिए उपबंधित करना है, जैसाकि प्रवर समिति द्वारा सूचित किया गया है, और जिस पर विचार किया गया ।"

इस विधेयक का उद्देश्य, जैसीकि इस सदन को पहले से जानकारी है, कतिपय मामलों में, जहां किसी विवाद के पक्षकार मुस्लिम है, प्रथागत विधि को शरीयत द्वारा प्रतिस्थापित करना है । ऐसा करके कमजोर लिंग की सहायता होगी चूंकि यह विधेयक महिलाओं को पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने और कतिपय आधारों पर विवाह के विघटन का दावा करने में सक्षम बनाता है । संक्षेप में इस विधेयक के उद्देश्य को स्पष्ट करने के उपरांत मुझे यह कहते हुए अत्यधिक हर्ष हो रहा है कि इस विधेयक को प्रवर समिति

से सर्वसम्मति से समर्थन प्राप्त हुआ है सिवाय एक या दो बिन्दुओं के । मैसर्स मुदी, मोहम्मद अजहर अली और सर मुहम्मद यारनिन खान द्वारा अपने उनके विसम्मति के कार्यवृत्त में विधेयक के खंड 2 में 'या विधि' शब्दों का विरोध किया गया । जैसा कि कार्यसूची में इन शब्दों के लोप के लिए संशोधन किया गया है, मैं इन पर तब विचार करूंगा जब विधेयक पेश किया जाएगा । इस दौरान मैं अपनी टिप्पणियों को उपांतरणों तक सीमित रखूंगा जिनका सुझाव प्रवर समिति द्वारा दिया गया है । प्रवर समिति द्वारा मुख्य रूप से दो परिवर्तन किए गए है, पहला विधेयक के अधिक्षेत्र से कृषि भूमि के अपवर्जन से संबंधित और दूसरा 'तलाक' शब्द के विस्तार से संबंधित है । चूंकि कृषि भूमि का उत्तराधिकार 1935 के भारत सरकार के अधिनियम के अधीन अनन्य रूप से प्रांत का विषय है, इसे मेरी इच्छा के अत्यधिक विरुद्ध विधेयक से अपवर्जित किया जाना है । विवाह के विघटन के विभिन्न स्वरूपों, जिन्हें शरीयत द्वारा मान्यता प्रदान की गई है, को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि उन सभी स्वरूपों के संबंध में उपबंध किया जाए । इस संबंध में उपबंधों को क्रियान्वित किए जाने के प्रयोजनार्थ एक नया खंड 3 विधेयक में सम्मिलित किया गया है जिसके द्वारा जिला न्यायाधीश को सशक्त किया गया है कि वे कतिपय आधारों पर किसी विवाहित मुस्लिम महिला की याचिका पर विवाह के विघटन का अनुतोष प्रदान कर सके । ये परिवर्तन महिलाओं, जो वर्तमान में ऐसे मामलों में उनके पतियों की दया पर हैं, के हित में प्रस्तावित किए गए हैं ।

मुझे जानकारी है कि इन हितकारी परिवर्तनों का समर्थन सदन द्वारा किया जाएगा । उपर्युक्त के अतिरिक्त, प्रवर समिति ने कुछ अन्य संशोधन किए हैं जिन्हें रिपोर्ट में पूर्णतः स्पष्ट किया गया है और मैं उनका विवरण प्रस्तुत करने के लिए सदन का समय लेना चाहता हूं । मुझे आशा है कि यह विधेयक अपने वर्तमान स्वरूप में संपूर्ण सदन का अनुमोदन प्राप्त करेगा ।

श्रीमान् जी, मैं प्रस्ताव करता हूं ।

श्रीमान उपाध्यक्ष (श्री अखिल चंद्र दत्ता) – प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया – "यह कि यह विधेयक ब्रिटिश भारत में मुसलमानों के लिए मुस्लिम 'स्वीय विधि' (शरीयत) लागू किए जाने के लिए उपबंध करने के प्रयोजनार्थ है, जैसाकि प्रवर समिति द्वारा सूचित किया गया, पर

विचार किया जाए ।"

श्री अब्दुल कयूम (उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत : सामान्य सदस्य) – श्रीमान जी, मुझे उन उद्देश्यों के साथ सहानुभूति है जिसके लिए यह अत्यंत लाभदायक विधेयक प्रेरित है । मुस्लिम जन साधारण के मध्य जबरदस्त जागरुकता है और वे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक रूप से अपनी बदनसीब स्थिति की बाबत पूर्णतया सचेत हैं । परिशिष्ट ख के 107, 108 समुदायों की यह इच्छा है कि वे सभी क्षेत्रों में प्रगति करें । मुस्लिम समुदाय की भावनाएं जनसभाओं के माध्यम से संपूर्ण देश में अभिव्यक्त की गई हैं । मुझे यह कहने में अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है कि इस देश की ये भावनाएं न केवल पुरुषों तक सीमित हैं बल्कि इनका प्रसार महिलाओं में भी हो गया है और भारत में पहली बार मुस्लिम महिलाओं ने अपनी प्रबल भावनाओं को उस प्रथागत विधि के घोर विरोध में जिसने उनको जंगम संपत्ति की स्थिति में पहुंचा दिया था, अभिव्यक्त किया है । श्रीमान् जी, इन भावनाओं को मुस्लिम महिलाओं के विभिन्न संगठनों द्वारा संपूर्ण भारत में अभिव्यक्त किया गया है । मुस्लिम उलेमाओं के एक प्रतिनिधिक निकाय, जैसे कि जमातुल उलेमाय हिन्द ने भी इस विधेयक के उद्देश्यों के साथ अपनी सहानुभूति व्यक्त की है । श्रीमान् जी, शरीयत शब्द में कुछ बात है, हो सकता है यह शब्द अरबी का हो, – जो मेरे कुछ सम्मानित सदस्यों को आतंकित करता है, किन्तु मैं समझता हूं कि यदि वे इस विषय, विशेष रूप से उत्तराधिकार के विषय पर, मुस्लिम विधि को पढ़े, तो उन्हें यह महसूस होगा कि यह विधेयक काफी लंबी अवधि से लंबित था और यह सही दिशा में उठाया गया कदम है । लोगों को ज्ञात नहीं है कि मेरे अपने प्रांत में मुस्लिम महिलाएं कितनी भयानक परिस्थितियों का सामना कर रही – मैं यही कह सकता हूं कि उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत में शरीयत विधि के अधिनियमित होने के पहले जब भी किसी मुस्लिम की मृत्यु होती थी, उसकी बेटी, बहन और पत्नी, सभी को सड़क पर फेंक दिया जाता था और दसवीं श्रेणी का उत्तरभोगी परिदृश्य पर उपस्थित होता था और उसकी समस्त संपत्ति को हड़प लेता था । मैं समझता हूं कि उन सभी लोगों, जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रगति में विश्वास रखते हैं, का अंतःकरण ऐसी प्रथा के विरुद्ध विद्रोह करेगा और यदि एक बार लोग यह महसूस कर लेते हैं कि यह विधेयक

प्राथमिक रूप से महिलाओं की स्थिति उन्नत करने के लिए और उन्हें वे लाभ प्रदत्त करने के लिए आशयित हैं जो विधिक रूप से उन्हें मुस्लिम विधि के अंतर्गत अपेक्षित हैं, तो वे इस उपाय का सहर्ष समर्थन करेंगे । 'प्रथा' अत्यधिक अनिश्चित शब्द है । मैं एक वकील की हैसियत से इस बात को जानता हूं कि मेरे प्रांत में जब भी किसी प्रथा के संबंध में प्रश्न उत्पन्न होता है, तो इस संबंध में अत्यधिक अनुसंधान कार्य अंतर्वलित हो जाता है, वकील मामले को हल करने के लिए अनुसंधान कार्य में लग जाते हैं, वे प्रथागत विधि पर छोटी-छोटी पुस्तकों को देखते हैं और यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रथाएं जनजातियों से जनजातियों, गांवों से गांवों में परिवर्तित होती रहती हैं और हमारे प्रांत के उच्च न्यायालय द्वारा शरीयत अधिनियम के प्रभाव में आने के पूर्व यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रथाएं गांवों के एक भाग से दूसरे भाग तक भी परिवर्तित हो जाती हैं । स्थिति अत्यधिक अनिश्चित थीं कि लोगों का अत्यधिक धन मुकदमेबजी पर व्यय हो जाता था और जब तक मुकदमेबाजी का अंत होता था, वह संपत्ति जिसके लिए लोग मुकदमा लड़ रहे थे, विलुप्त हो जाती थी । इसी अनिश्चितता को समाप्त किए जाने के दृष्टिकोण से सीमांत प्रांत के लोगों ने अधिनियम पारित किया जो बाद में कानून बन गया ।

मैं केवल एक बात कहना चाहता हूं । व्यक्तिगत रूप से मैं चाहता हूं कि भारत के मुस्लिम उन्हें प्रभावित करने वाले मामलों में मुस्लिमों की 'स्वीय विधि' का यथासंभव पालन करें । मैं चाहता हूं कि वे इस दिशा में आगे बढ़े क्योंकि यही वह बात है जो मुस्लिमों की सहायता करने जा रही है और क्योंकि मुस्लिम इस देश में अत्यधिक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समुदाय गठित करते हैं – वे आठ करोड़ हैं – इस देश के सभी शुभचिंतक मुझसे सहमत होंगे कि यदि इससे मुस्लिमों की स्थिति में सुधार होता है, यदि इससे मुस्लिम महिलाओं को वह सुकून मिलता है जिसकी उन्हें अत्यधिक आवश्यकता है, तो यह भारत राष्ट्र के लिए अच्छी बात होगी । अतः हमारे प्रांत में एक अधिनियम पारित किया गया था जो इस विशिष्ट विधेयक से अत्यधिक आगे था और जिस पर अभी इस सदन के समक्ष चर्चा चल रही है । यह सुविख्यात तथ्य है कि नए भारत सरकार के अधिनियम कृषि भूमि वक्फ और धार्मिक न्यास प्रांत की विषय-सूची के अंतर्गत आते हैं और यह माननीय सदन उन मामलों के संबंध में विधान नहीं बना सकता जो अभी प्रांतीय विधायी सूची के

अंतर्गत हैं । सीमांत प्रांत में जो अधिनियम हमारे पास है, 1935 का अधिनियम सं. 6, वह इस विधेयक से अत्यधिक आगे है क्योंकि उसमें कृषि भूमि और धार्मिक न्यास सम्मिलित है । इसलिए मैंने एक संशोधन प्रस्तुत किया है कि यह विशिष्ट विधेयक - यद्यपि मैं विधेयक के परिशिष्ट ख मद सं. 109 के सिद्धांतों के साथ हृदय से सहमत हूं - जब इस पर विधि अधिनियमित की जाएगी तो वह विधि हमारे प्रांत पर लागू नहीं की जानी चाहिए । यदि वह लागू की जाती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि सीमांत प्रांत के लोग एक कदम पिछड़ जाएंगे न कि आगे बढ़ेगें । यह सुविख्यात तथ्य है और इसे भारत सरकार अधिनियम की धारा 107 में अधिकथित किया गया है, जब कोई संघीय विधि का किसी प्रांतीय विधि के साथ टकराव हो जाता है तो चाहे संघीय विधि प्रांतीय विधि के पश्चात् पारित की गई हो, तो भी वह सीमा, जहां तक वह प्रांतीय विधि पर अध्यारोही प्रभाव रखती है, प्रांतीय विधि अकृत और शून्य हो जाएगी । अतः मेरा निवेदन है कि वह आशय जिसके अंतर्गत मैंने अपने इस संशोधन को प्रस्तुत किया है, इस विधेयक के उद्देश्य का विरोध करने का नहीं है, बल्कि मेरे द्वारा इस संशोधन को प्रस्तुत करने के पीछे कारण यह है कि यह विधेयक कम से कम एक राज्य में लागू नहीं हो सकेगा अर्थात् उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत में । मैं निवेदन करता हूं कि यह मात्र एक ऐसा उपाय है जो काफी लंबे समय से लंबित है । मैं ऐसे मामलों के बारे में जानता हूं जहां किसी विधवा, जो जीवनपर्यन्त के लिए किसी संपत्ति का उपभोग करने की अधिकारी थी – और जिसके उत्तरभोगी उसकी मृत्यु का इंतजार कर रहे – की मृत्यु नहीं हुई बल्कि उसे बहुत लंबी आयु प्राप्त हुई । उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत में भी ऐसे अनेक मामले हुए हैं जहां लोगों ने कानून अपने हाथ में ले लिया और उन्होंने संपत्ति को प्राप्त करने के प्रयोजनार्थ विधवा की हत्या कर दी । मैं इस माननीय सदन के समक्ष कुछ अन्य मामले भी उद्धृत कर सकता हूं । ऐसे भी मामले हैं जहां मैंने अपने विधिक और वृत्तिक जीवन के दौरान देखा कि जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है और वह अपने पीछे अपनी पत्नी को छोड़ जाता है जिसको प्रथागत विधि के अंतर्गत उसकी मृत्यु या पुनर्विवाह तक संपत्ति का उपभोग करना है, तो कुछ उत्तरभोगी आगे आए और उन्होंने इस बाबत घोषणा प्राप्त करने के प्रयोजनार्थ वाद फाइल किया कि वह अब विधवा नहीं रह गई है और उसने पुनर्विवाह कर

> लिया है और उसके जीवनकाल के दौरान संपत्ति में उसके हित को समाप्त किए जाने की ईप्सा की । ऐसे अनेक मामले हैं जहां परिवारों को बर्बाद कर दिया गया और हत्याओं और छुरेबाजी की घटनाएं हुईं क्योंकि प्रथागत विधि के निर्जीव हाथ उन उत्तरभोगियों के, जो वह प्राप्त करना चाहते जो कि वे प्राप्त नहीं कर सकते थे, रास्ते में खड़े हो गए और बेचारी विधवा को वंचित करने के प्रयोजनार्थ झूठे मुकदमे तैयार किए गए कि उसने पुनर्विवाह कर लिया है । लोगों द्वारा संपत्ति का आधिपत्य प्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अनेक अन्य अवैध चालबाजियों का सहारा लिया गया । श्रीमान जी, मैं निवेदन करता हूं कि प्रथागत विधि के निर्जीव हाथों को निरावृत किया जाना चाहिए । हम एक ऐसी कालाविधि में रह रहे हैं जिसमें अत्यधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं । अंततः यह प्रथागत विधि गुजरे हुए जमाने की बात है । जब अनेक बातें छलावे की भांति गायब हो रही हैं, जब सरकार की प्रणाली परिवर्तित होने के कगार पर है, यहां तक कि जब शक्तिशाली साम्राज्य अदृश्य हो चुके हैं, जब हम भारत सरकार के हृदय में भी लचीलेपन के लक्षण देख रहे हैं, जब हमारे सात प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें हैं – एक ऐसी बात जिस पर किसी को छः माह पूर्व या एक वर्ष पूर्व विश्वास नहीं होता । मैं निवेदन करता हूं कि यही उचित समय है जब हम प्रथा के निर्जीव हाथों से छुटकारा पा लें । आखिरकार, सभी प्रथाएं, जहां तक इस विशिष्ट मामले का संबंध है, भयावह चीजें हैं और हम इस विधेयक के सिद्धांतों का समर्थन करके करोड़ों महिलाओं, जो मुस्लिम आस्था में विश्वास रखती हैं, के साथ न्याय करेंगे । श्रीमान् जी, मुझे आशा है कि अब वह दिन दूर नहीं है जब अन्य समुदायों में भी इसी प्रकार के उपाय अपनाएं जाएंगे और जब भारत में महिलाओं और पुरुषों के साथ, संपत्ति, राजनैतिक अधिकारों, सामाजिक अधिकारों और अन्य सभी मामलों में समान व्यवहार होगा । अतः मुझे इस विधेयक के सिद्धांतों का समर्थन करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उपर्युक्त चर्चाओं और विवरणों, जिनको ऊपर व्यक्त किया गया है, के आधार पर (विवरण के लिए मुस्लिम "स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत में विधायन – भाग 4 को निर्दिष्ट करें), यह दलील दी गई कि विधायन का मुख्य उद्देश्य मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" के विवरणों को अभिव्यक्त करना नहीं था । उद्देश्य मात्र यह था कि उन प्रथाओं और रूढ़ियों से

2017(8) eILR(PAT) SC 110

छुटकारा पाया जाए जो मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" के विपरीत थीं । अतः, यह निवेदन किया गया कि यह अभिनिर्धारित किया जाना उचित नहीं होगा कि शरीयत अधिनियम द्वारा विधान-मंडल ने मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" को कानूनी हैसियत प्रदान कर दी है । उपर्युक्त अधिनियमिति को समझना आवश्यक होगा चूंकि प्रथागत प्रथाओं और रूढ़ियों, जो विद्यमान मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" के विपरीत हैं, को कानूनी रूप से निरसित किया जाना है । यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त अधिनियमिति यह निर्णय नहीं करती कि मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" क्या है और क्या नहीं है । अतः यह समझना गलत होगा कि 1937 की मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम ने किसी भी प्रकार से उपरोक्त विषय पर विधायन किया । यह दलील दी गई कि कुरान या हदीसों, इजमां और कयास (विवरण के लिए भाग 2 मुस्लिमों के बीच "तलाक" की लागू पद्धतियां देखें) में अंतर्विष्ट घोषणाओं को मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" में समाविष्ट किया गया है । यह दलील दी गई कि आस्था की बातें, जो मुस्लिम "स्वीय विधि" – "शरीयत" के अनेक विषयों में अभिव्यक्त की गई हैं, तब से विद्यमान हैं जब से उनको पैगम्बर मुहम्मद द्वारा घोषित किया गया है । जहां तक "तलाक-ए-बिद्दत" का संबंध है, यह दलील दी गई कि इस प्रथा का पालन मुस्लिमों द्वारा विगत 1400 वर्षों से किया जा रहा है । यह निवेदन किया गया कि यह प्रथा मुस्लिमों के मध्य "तलाक" के प्रयोजनार्थ स्वीकार्य प्रथा है । अतः उन्होंने दलील दी कि इस न्यायालय को यह निर्णय नहीं करना है कि उपर्युक्त प्रथा उचित और साम्यापूर्ण है या नहीं । उन्होंने निवेदन किया कि इस न्यायालय द्वारा इस प्रथा में मध्यक्षेप न किया जाए, इसके पीछे कारण यह है कि यह इस देश में बहुसंख्यक मुस्लिमों की आस्था का विषय है और इस न्यायालय के लिए यही सर्वोत्तम सलाह होगी कि आस्था की प्रथा के इन मामलों को उस रीति में विनिर्धारित होने के लिए छोड़ दिया जाए जिस पर उन्हीं लोगों द्वारा विचार किया जाए जो इसके द्वारा शासित हैं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार एक ऐसा विश्वास जिसका पालन 1400 वर्षों से किया जा रहा है, पूर्णतः आस्था का विषय है और संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षित है । यह निवेदन किया गया कि विश्वास और आस्था के मामलों को किसी भी संबद्ध क्षेत्र के अनुयायियों द्वारा मूल अधिकार गठित किए जाने के प्रयोजनार्थ स्वीकार किया जाता है । मात्र आस्था की इस प्रथा को, जिसे अनुच्छेद 25(1) के अधीन मध्यक्षेप करने के लिए अनुज्ञा प्रदान की जानी है, और जो लोक व्यवस्था, नैतिकता के स्वास्थ्य के विरुद्ध है । यह दलील दी गई कि उपर्युक्त के अतिरिक्त कोई न्यायालय केवल तभी मध्यक्षेप कर

सकता है जब आस्था की बातें भाग 3 संविधान के अंतर्गत मूल अधिकारों के उपबंधों का अतिक्रमण करने वाली हों । जहां तक याचियों द्वारा अनुच्छेद 14, 15 और 21 का अवलंब लिए जाने का संबंध है, यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 14, 15 और 21 राज्य पर अधिरोपित बाध्यताएं हैं और इसलिए "स्वीय विधि", जो राज्य कार्रवाई को विशेषित नहीं करती, के मामलों पर स्पष्टतः लागू नहीं होती ।

97. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी दलीलों को समाप्त करते हुए इस बात की भी पुष्टि की कि वे ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से शपथपत्र करेंगे । उपर्युक्त शपथपत्र सम्यक् रूप से फाइल किया गया, जो इस प्रकार है :–

> "1. मैं ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड, जिसे उपर्युक्त शीर्षक वाली रिट याचिकाओं में प्रत्यर्थी सं. 3 और प्रत्यर्थी सं. 8 के रूप में अलग-अलग संख्यांकित किया गया है, का सचिव हूं । मैं वर्तमान मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से पूर्णतः अवगत हूं और इस शपथपत्र को शपथपूर्वक फाइल करने के लिए पूर्णतः सक्षम हूं ।
>
> 2. मैं कहता हूं और निवेदन करता हूं कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड अपनी वेबसाइट, प्रकाशनों और सोशल मीडिया प्लेटफार्म के माध्यम से सलाह जारी करेगा जिसके द्वारा लोगों को, जो 'निकाह' (विवाह) कराते हैं, को निम्नलिखित कार्य करने की सलाह देगा –
>
> > (क) कोई भी व्यक्ति 'निकाह' (विवाह) कराते समय वर/पुरुष को सलाह देगा कि ऐसे मतभेदों, जो 'तलाक' का मार्ग प्रशस्त करते हों, के मामलों में वर/पुरुष एक ही बार में तीन बार 'तलाक' उद्घोषित नहीं करेगा चूंकि यह शरीयत के अनुसार अवांछनीय प्रथा है ;
> >
> > (ख) कोई भी व्यक्ति 'निकाह' (विवाह) कराते समय वर/पुरुष और वधू/महिला, दोनों को 'निकाहनामा' में यह शर्त सम्मिलित किए जाने की सलाह देगा कि पति एक ही बार में तीन तलाक की उद्घोषणा नहीं कर सकेगा ।
>
> 3. मैं कहता हूं और निवेदन करता हूं कि इसके अतिरिक्त बोर्ड अभिलेख पर यह भी अभिलिखित करेगा कि बोर्ड की कार्यकारिणी समिति ने पहले भी तारीख 15 और 16 अप्रैल, 2017 को संपन्न हुई

बैठक में मुस्लिम समुदाय में 'तलाक' के संबंध में कतिपय प्रस्ताव पारित किए हैं । तद्द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया है 'तलाक', विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हुए कि एक ही बार में तीन तलाक की उद्घोषणा से बचने के लिए अनुसरण की जाने वाली संहिता/मार्गदर्शक सिद्धांतों को संसूचित किया जाए । तारीख 16 अप्रैल, 2017 के प्रस्ताव की एक प्रति और साथ में 'तलाक' से संबंधित प्रस्ताव सं. 2, 3, 4 और 5 के सुसंगत अनुवाद की प्रति माननीय न्यायालय के परिशीलन के प्रयोजनार्थ संलग्न है जिसे संलग्नक ए-1 (सामूहिक रूप से) के रूप में चिह्नांकित किया गया है । [वर्तमान शपथपत्र का पृष्ठ सं. 4 से 12] ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उपर्युक्त शपथपत्र के आधार पर यह दलील दी गई कि "स्वीय विधि" के संदर्भ में सामाजिक सुधार संबद्ध समुदाय से ही उत्पन्न होने चाहिए । उन्होंने इस दलील को दोहराया कि किसी भी न्यायालय को "स्वीय विधि" में सुधार के मामले में दखल नहीं देना चाहिए । उन्होंने निवेदन किया कि यह न्यायिक विवेकाधिकार के अधिक्षेत्र के अंतर्गत नहीं है कि संविधान के अनुच्छेद 25(1) में दर्शित आधारों के सिवाय "स्वीय विधि" के मामलों में मध्यक्षेप किया जाए । उन्होंने दलील दी कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को इनमें से किन्हीं भी आधारों पर अपास्त नहीं किया जाना चाहिए ।

(शेष भाग आगामी अंक में प्रकाशित)

गतांक से आगे..........

98. पूर्ववर्ती पैराग्राफ में उल्लिखित दलीलों को आगे बढ़ाते हुए यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 25(2)(ख) ने सामाजिक कल्याण और सुधार के आधार पर "स्वीय विधि" में मध्यक्षेप की शक्ति को विधान-मंडल में निहित कर दिया है । अतः, उन्होंने दलील दी कि याची द्वारा और उन लोगों द्वारा जो याची के मामले का समर्थन कर रहे हैं, इस न्यायालय के समक्ष की गई प्रार्थना को समुदाय के उन सदस्यों के समक्ष संबोधित किया जाना चाहिए जो विद्यमान परंपराओं में संशोधन करने के लिए सक्षम हैं और अनुकल्पिक रूप से सामाजिक कल्याण और सुधार के उपाय के रूप में उस विधान-मंडल के समक्ष संबोधित करना चाहिए जो इसको निरसित करने के लिए विधायी रूप से सशक्त है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के साथ याचियों द्वारा की गई प्रार्थना को अस्वीकृत किए जाने की प्रार्थना की ।

99. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री राजू रामचंद्रन् जमात उलेमाय हिन्द अर्थात् 2015 की स्वप्रेरणा रिट याचिका (सिविल) सं. 2 में प्रत्यर्थी सं. 1 और 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 118 में प्रत्यर्थी सं. 9 की ओर से उपस्थित हुए । अपनी दलीलों के आरंभ में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह कथन किया कि वह ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री कपिल सिब्बल द्वारा इस न्यायालय के समक्ष किए गए प्रत्येक निवेदन से सहमत हैं । अतः हमने विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की इस दलील को अभिलिखित कर लिया है ।

100. उपर्युक्त के अतिरिक्त यह निवेदन किया गया कि याची (और अन्य) द्वारा इस न्यायालय के समक्ष उठाया गया वाद स्पष्ट रूप से परेशान किए जाने के प्रयोजनार्थ उठाया गया है । उन्होंने निवेदन किया कि मुस्लिम "स्वीय विधि'– "शरीयत" के अधीन "निकाहनामा" (विवाह विलेख) निष्पादित किए जाने के समय दोनों पक्ष उन नियमों और शर्तों, जिन्हें उनके द्वारा उपयुक्त समझा जाए, सम्मिलित कराने के लिए स्वतंत्र होते हैं । यह निवेदन किया गया कि "निकाहनामा" निष्पादित किए जाते समय पत्नी को यह अधिकार होता है कि वह उसमें यह उपबंधित करा ले कि उसके पति को उसे "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रकृति की घोषणा द्वारा "तलाक" देने का अधिकार नहीं होगा । अतः, उन्होंने निवेदन किया कि याची द्वारा इस न्यायालय की शरण में आना और "तलाक-ए-बिद्दत" के विरुद्ध घोषणा की ईप्सा करना स्पष्टतः भ्रांत धारणा पर आधारित है । अनुकल्पिक रूप से यह दलील दी गई कि विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधिनियमित

किए जाने के पश्चात् भारत के समस्त नागरिकों को, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, उस आस्था के होने के बावजूद जिसका वे पालन करते हैं, अपनी "स्वीय विधि" का पालन करने के बजाय उक्त अधिनियम के उपबंधों द्वारा, शासित होने का विकल्प मौजूद है । अतः, यह दलील दी गई कि किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय से संबंधित पति-पत्नी को पंथनिरपेक्ष और गैर-धार्मिक विधि, अर्थात् विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का विकल्प चुनने का अधिकार है और ऐसे पक्षों को, जो इस विकल्प को स्वीकार करते हैं (चाहे वे मुस्लिम धर्म का ही पालन करने वाले क्यों न हों), "तलाक-ए-बिद्दत" को सम्मिलित करते हुए सभी धार्मिक प्रथाओं से स्वतः बच जाएंगे । अतः, यह दलील दी गई कि ऐसे युगल जो "स्वीय विधि" के निबंधनों के अनुसार विवाह करते है, के बारे में यह धारणा की जानी चाहिए कि उन्होंने उस "स्वीय विधि" द्वारा विनियमित होने का विकल्प जानबूझकर चुना है जिसके अधीन उनका विवाह हुआ है । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त विकल्प का प्रयोग करने के पश्चात् किसी भी मुस्लिम युगल को "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के विरुद्ध कोई अभिवाक् करने का अधिकार नहीं है । यह निवेदन किया गया कि जब दोनों पक्ष विवाह के लिए सहमत होते हैं, तो उनकी सहमति केवल उस व्यक्ति, जिसे सहमति प्रदान की गई है, की पसंद तक सीमित नहीं रह जाती, बल्कि यह सहमति विवक्षित रूप से उस कानून तक भी विस्तारित हो जाती है जिसके द्वारा वैवाहिक संबंधों को विनियमित होना है । यदि विवाह की सहमति "स्वीय विधि" के सामंजस्य में प्रदान की गई है, तो "स्वीय विधि" की कठोरताएं विवाह के विघटन की प्रक्रिया को विनियमित करेंगी । इसी प्रकार, से यदि विवाह की सहमति विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधीन प्रदान की गई है, तो ऐसी सहमति उक्त विधान के उपबंधों के अनुसार शासित होगी । यह निवेदन किया गया कि यदि ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति ने जानबूझकर "स्वीय विधि" के अंतर्गत वैवाहिक गठबंधन का विकल्प चुना है, तो वह यह शिकायत नहीं कर सकता कि "स्वीय विधि" प्रतिकूल विभेदकारी थी । यह निवेदन किया गया कि मामले को उपर्युक्त दृष्टि से देखते हुए इस न्यायालय के समक्ष वर्तमान याचिका का फाइल किया जाना और उन लोगों द्वारा याची के वाद हेतुक का समर्थन किया जाना जिन्हें पक्षकार बनाया गया है या जो याची के वाद हेतुक का समर्थन करने के लिए उपस्थित हुए हैं, के बारे में यह धारणा की जानी चाहिए कि वे विधि की दृष्टि में पूरी तरह से भ्रांत धारणा से ग्रसित है ।

101. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा किया गया अगला निवेदन यह है

कि याची द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत"– तीन तलाक की विधिमान्यता के संदर्भ में उठाए गए विवाद्यक विधायी नीति के अंतर्गत आने वाले मामले हैं और इनमें न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से मध्यक्षेप नहीं किया जा सकता है (यद्यपि विद्वान् काउंसेल का वास्तविक आशय ऐसा नहीं था) । इस संबंध में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने न्यायालय का ध्यान **महर्षि अवधेश** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले की ओर आकर्षित किया जिसमें याची ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका फाइल करके इस न्यायालय की शरण ली थी और निम्नलिखित प्रार्थना की थी :–

"(i) प्रत्यर्थियों को भारत के सभी नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता अधिनियमित किए जाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए परमादेश की रिट जारी की जाए ।

(ii) मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 को मनमाना और पक्षपातपूर्ण होने और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 और अनुच्छेदों 44, 38, 39 और 39क के अतिक्रमण में होने के कारण शून्य घोषित किया जाए ।

(iii) प्रत्यर्थियों को उन लोगों के संबंध में, जो मुस्लिम महिलाओं की गरिमा और उनके अधिकारों और उनके संरक्षण को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रहे हैं, शरीयत अधिनियम अधिनियमित न किए जाने के लिए निदेशित किया जाए ।"

आगे यह दलील दी गई कि इस न्यायालय ने उक्त रिट याचिका को यह मताभिव्यक्ति करते हुए खारिज कर दिया था "ये सभी विधान-मंडल के मामले हैं । न्यायालय इन मामलों पर विधान नहीं बना सकता ।"

102. उन्होंने **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप** (उपर्युक्त) वाले मामले का भी अवलंब लिया । यह निवेदन किया गया कि (उस मामले में) इस न्यायालय ने उपर्युक्त मामले के न्यायनिर्णयन के दौरान निम्नलिखित विवाद्यकों पर विचार किया था :–

"(i) क्या मुस्लिम 'स्वीय विधि', जो बहुविवाह की अनुज्ञा प्रदान करती है, संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य है ।

(ii) क्या मुस्लिम 'स्वीय विधि', जो किसी मुस्लिम पुरुष को

---

[1] (1994) (सप्ली.) 1 एस. सी. सी. 713.

अपनी पत्नी को उसकी सहमति के बिना और न्यायालय की न्यायिक प्रक्रिया का आश्रय लिए बिना एकपक्षीय रूप से 'तलाक' देने के लिए समर्थ बनती है, संविधान के अनुच्छेद 13, 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य है ।

(iii) क्या मात्र यह तथ्य कि किसी मुस्लिम पति की एक से अधिक पत्नियां हो सकती हैं, क्रूरता का कार्य है ।"

103. यह दलील दी गई कि (इस न्यायालय ने) उपर्युक्त मामले को सुनने के पश्चात् निर्णय के पैराग्राफ 4 में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां अभिलिखित करते हुए उसे खारिज कर दिया :–

"आरंभिकतः, हम कहना चाहेंगे कि ये रिट याचिकाएं गुणागुण के आधार पर निस्तारित किए जाने योग्य नहीं हैं चूंकि विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष दी गई दलीलों में राज्य की नीतियों के विवाद्यक अंतर्वलित हैं जिनके साथ साधारणतया इस न्यायालय का कोई संबंध नहीं होगा । इसके अतिरिक्त, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब इसी प्रकार के प्रयास पूर्ववर्ती अवसरों पर अन्य लोगों द्वारा किए गए तो इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि इस संबंध में उपचार कहीं और मिल सकता है, न कि न्यायालयों के दरवाजों पर दस्तक देने के द्वारा ।

104. विद्वान् काउंसेल ने याची द्वारा की गई प्रार्थना पर विचार किए जाने के संबंध में दोनों आरंभिक आक्षेप उठाने के पश्चात् न्यायालय का ध्यान अन्य देशों में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के उन्मूलन की ओर आकर्षित किया । यह निवेदन किया गया कि (विवरण के लिए भाग 5 सम्पूर्ण विश्व में, इस्लामिक और गैर इस्लामिक देशों में विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निरसन देखें) उपर्युक्त दलील को याची और साथ ही उन लोगों द्वारा जो याची के वाद हेतुक का समर्थन करते हैं और भारत संघ द्वारा भी यह दलील देने के प्रयोजनार्थ अंगीकृत किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का परित्याग अन्य इस्लामिक देशों में सामाजिक सुधार के रूप में, इस प्रथा के घृणित होने और साथ ही एकपक्षी और मनमानीपूर्ण होने के कारण किया जा चुका है । आगे निवेदन किया गया कि भारत में "स्वीय विधि" की संवैधानिक विधिमान्यता का परीक्षण अन्य देशों में अधिनियमित विधानों के आधार पर नहीं किया जा सकता है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस प्रक्रम पर हमारे द्वारा यह अवेक्षित किए जाने की ईप्सा की कि उनके द्वारा वर्तमान में किए गए निवेदन उनके द्वारा दी

2017(8) eILR(PAT) SC 110

गई इस दलील से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए बिना किए गए हैं कि "स्वीय विधि' की विधिमान्यता का परीक्षण संविधान के भाग 3 के अंतर्गत व्यक्तियों में निहित मूल अधिकारों के संबंध में इस कारणवश बिल्कुल भी नहीं किया जा सकता कि "स्वीय विधि" को संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि माना जा सकता है ।

105. तत्पश्चात्, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल राजू रामचंद्रन ने "तलाक-ए-बिद्दत" – तीन तलाक की विधिमान्यता को स्थापित करने का प्रयास किया । यह निवेदन किया गया कि सुन्नी मुस्लिमों की पांच विचारधाराओं में से चार ने "तलाक-ए-बिद्दत" को विवाह-विच्छेद का विधिमान्य स्वरूप माना है । यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त स्थिति को दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में स्वीकार किया गया है जिसमें पैरा 26 में उच्च न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि "....इस बात को विधि की सभी विचारधाराओं द्वारा स्वीकार किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" पापमय कार्य है, फिर भी कुछ विचारधाराएं इसे विधिमान्य मानती हैं ...." । उच्च न्यायालयों द्वारा विभिन्न निर्णयों में इस बात को स्वीकार भी किया गया है (विवरण के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर भाग 6 न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) । तद्नुसार, यह निष्कर्ष निकाले जाने की ईप्सा की गई कि यदि एक बार इस बात को तथ्य के रूप में साबित कर दिया जाता है कि शिया मुस्लिमों की कुछ विचारधाराओं का विश्वास है कि "तलाक-ए-बिद्दत" विवाह-विच्छेद का विधिमान्य स्वरूप है, तो इसका यह परिणाम होगा कि कुरान की सूरा 2 अल बकरा आयात 230 में समाविष्ट व्यादेश के अनुसार "तलाक-ए-बिद्दत" की उद्घोषणा के पश्चात् पति-पत्नी के मध्य सहवास पापमय हो जाएगा । उक्त "आयत" को नीचे उद्धृत किया गया है ।

> "फिर यदि उसने (दो बार 'तलाक' देने के बाद पति ने पत्नी को तीसरी बार) 'तलाक' दे दी, तो वह औरत फिर उसके लिए हलाल न होगी, सिवाय इसके कि उसका निकाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो और वह उसे 'तलाक' दे दे । तब अगर पहला पति और यह औरत दोनों यह समझें कि ईश्वरीय सीमाओं पर कायम रहेंगे, तो उनके लिए एक दूसरे की ओर पलटने में कोई हर्ज नहीं । ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं, जिन्हें वह उन लोगों के मार्गदर्शन के लिए स्पष्ट कर रहा है, जो (उसकी सीमाओं को तोड़ने का परिणाम) जानते हैं ।"

यह दलील दी गई कि यह विश्वास कि इसके पश्चात् कि पति ने अपनी पत्नी को तीन बार "तलाक" उद्‌घोषित करने के द्वारा "तलाक" दे दिया है, यह निष्कर्ष निकाला गया कि तीनों उद्‌घोषणाएं एक ही उद्‌घोषणा मानी जानी चाहिए । आगे यह दलील दी गई कि उच्च न्यायालयों को ऐसी कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है जिसका कि प्रयोग उनके द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय में किया जा रहा है । तद्‌नुसार, यह प्राख्यान किया गया कि उपर्युक्त कार्रवाई के कारण मुस्लिमों की "स्वीय विधि" जो संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षित है, में अतिक्रमण हुए । इस संबंध में यह निवेदन भी किया गया कि इस न्यायालय ने इस विवाद्यक का निर्णय करते हुए कि क्या ऐसी कोई आस्था या प्रथा धर्म का अभिन्न अंग है, अभिनिर्धारित किया है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल उस धर्म के अनुयायियों के विचारों के आधार पर दिया जा सकता है और किसी अन्य आधार पर नहीं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपने इस निवेदन के समर्थन में **सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहिब** (उपर्युक्त) वाले मामले का अवलंब लिया जिसमें इस न्यायालय ने निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की है :–

> "संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 की अंतर्वस्तु पर इस न्यायालय द्वारा आयुक्त, हिन्दू धार्मिक विन्यास, मद्रास बनाम श्री श्रीपुर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वमियार ; महंत जगन्नाथ रामानुज दास बनाम उड़ीसा राज्य, श्री वेंकटरमन्ना देवरू बनाम मैसूर राज्य ; दरगाह कमेटी, अजमेर बनाम सय्यद हुसैन अली और अन्य वाले मामलों और अनेक अन्य मामलों में विचार किया गया और इन विनिश्चयों द्वारा इन उपबंधों पर विचार करने वाले मुख्य सिद्धांतों को विवादों से परे रखा गया । प्रथम (सिद्धांत) यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण उन सिद्धांतों या विश्वास के मामलों तक सीमित नहीं है और उन कार्यों तक भी विस्तृत होते हैं जिन्हें धर्म के मतावलंबन में किया जाता है और इसलिए उनमें कर्मकांडों और रिवाजों और पूजा पद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग होते हैं, की प्रत्याभूति समाविष्ट होती है । द्वितीय (सिद्धांत) यह है कि इस बात का निर्णय कि वह कौन सी चीज है जो धर्म या धार्मिक प्रथा का आवश्यक भाग गठित करती है, न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के संदर्भ में किया जाना होता है और उनमें वे प्रथाएं भी सम्मिलित होती हैं जिन्हें किसी समुदाय द्वारा धर्म का भाग माना जाता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

यह दलील दी गई कि इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए उक्त विचारों की पुष्टि इस न्यायालय द्वारा **एन. आदित्यन** बनाम **त्रावणकोर देवसोम बोर्ड**[1] वाले मामले में की गई जिसमें पैराग्राफ 9 और 16 में जो मताभिव्यक्ति की गई, वह इस प्रकार है :–

"9. इस न्यायालय ने सेशम्मल **बनाम** तमिलनाडु राज्य [(1972) 2 एस. सी. सी. 11] वाले मामले में उन सिद्धांतों का पुनः पुनर्विलोकन किया जो अर्चक के अनुवांशिक अधिकार के उन्मूलन को चुनौती दिए जाने के संदर्भ में अनुच्छेद 25 और 26 में प्रदान किए गए संरक्षण पर आधारित हैं और विधिक स्थिति को निम्नानुसार दोहराया : (एस. सी. सी. पृष्ठ 21 पैरा 13-14) –

'13. इस न्यायालय ने सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहिब **बनाम** मुम्बई राज्य, [ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853] वाले मामले में जिस विधिक स्थिति का संक्षेपण किया वह निम्नलिखित है (पृष्ठ 531 और 532) –

संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 की अंतर्वस्तु पर इस न्यायालय द्वारा आयुक्त, हिन्दू धार्मिक विन्यास, मद्रास बनाम श्री श्रीपुर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वमियार ; महंत जगन्नाथ रामानुज दास बनाम उड़ीसा राज्य, श्री वेंकटरमन्ना देवरू बनाम मैसूर राज्य ; दरगाह कमेटी, अजमेर बनाम सय्यद हुसैन अली और अन्य वाले मामलों और अनेक अन्य मामलों में विचार किया गया और इन विनिश्चयों द्वारा इन उपबंधों पर विचार करने वाले मुख्य सिद्धांतों को विवादों से परे रखा गया । प्रथम (सिद्धांत) यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण उन सिद्धांतों या विश्वास के मामलों तक सीमित नहीं है और उन कार्यों तक भी विस्तृत होते हैं जिन्हें धर्म के मतावलंबन में किया जाता है और इसलिए उनमें कर्मकांडों और रिवाजों और पूजा पद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग होते हैं, की प्रत्याभूति समाविष्ट होती है । द्वितीय (सिद्धांत) यह है कि इस बात का निर्णय कि वह कौन सी चीज है जो धर्म या धार्मिक प्रथा का आवश्यक भाग गठित करती है, न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के संदर्भ में किया जाना होता है और उनमें वे प्रथाएं भी सम्मिलित होती हैं जिनको किसी समुदाय द्वारा धर्म का भाग माना जाता है ।'

[1] (2002) 8 एस. सी. सी. 106.

14. हम इन सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए वर्तमान मामले पर विचार करते हैं ।

16. अब यह सुस्थापित हो चुका है कि अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य और अनुच्छेद 17 को सम्मिलित करते हुए भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए अन्य लोगों की आत्मिक उन्नति के लिए अपने निर्णय और अंतःकरण के अनुसार अपने धार्मिक विश्वास को मानने और दृश्य कार्यों द्वारा उसका प्रदर्शन और साथ ही उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है । ऐसे निर्बंधनों को अधिरोपित करने का राज्य का अधिकार, जो कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के आधार पर अपेक्षित होता है या आवश्यक पाया जाता है, स्वयमेव अनुच्छेद 25 और 26 में ही अन्तर्निहित है । अनुच्छेद 25(2)(ख) सार्वजनिक प्रकृति की हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लोगों के लिए उपलब्ध कराए जाने के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए उपबंधित करने वाली विधि बनाने के राज्य के अधिकार को सुनिश्चित करता है और विभिन्न अधिकारों में सामंजस्य स्थापित किए जाने की प्रक्रिया में राज्य या समाज के विभिन्न समुदायों या वर्गों के ऐसे किसी भी अधिकार को विनियमित किए जाने की प्रक्रिया में राज्य या समाज के विभिन्न समुदायों या वर्गों के ऐसे किसी भी अधिकार को विनियमित किए जाने की आवश्यकता पर भी (संविधान के निर्माताओं द्वारा) विचार किया गया था । समाज को मात्र परंपरागत और अंधविश्वासी धाराओं के प्रयोजनार्थ की जाने वाली विवेकशून्य और अनुष्ठानिक अनुषक्ति से स्वतंत्र कराना संविधान के निर्माताओं का स्वप्न था जो तर्कसंगत और युक्तिसंगत आधार प्रतीत होता है और जिसे अनुच्छेद 17 के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है । विधिक स्थिति अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन प्रदान किया गया संरक्षण उन अनुष्ठानों और रिवाजों, रस्मों और पूजापद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग हैं, के लिए प्रत्याभूति हैं और वे कौन सी बातें हैं जो धर्म या धार्मिक प्रथाओं का आवश्यक भाग गठित करती हैं, का निर्णय न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म या प्रथाओं, जिनको धर्म का भाग माना जाता है, के संदर्भ में किया जाना है, को समान रूप से और दृढ़तापूर्वक अधिकथित किया गया है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

2017(8) eILR(PAT) SC 110

विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त निवेदनों को जारी रखते हुए **श्री आदि विश्वेश्वरा ऑफ काशी विश्वनाथ टेम्पल, वाराणसी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले का अवलंब लिया ।

> "28.... समस्त पंथनिरपेक्ष क्रियाकलाप, जो धर्म के साथ सहबद्ध तो होते हैं, किन्तु जो इसके आवश्यक भाग से संबद्ध नहीं हैं या इसका आवश्यक भाग गठित नहीं करते, राज्य विनियमों के अधीन हो सकते हैं किन्तु धर्म का आवश्यक भाग किन बातों से गठित होता है, प्राथमिक रूप से स्वयमेव उसी धर्म के सिद्धांतों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और इसके विकास की प्रक्रिया इत्यादि में परिवर्तन से अभिनिश्चित किया जा सकता है । तात्विकता की संकल्पना अपने आप में ही निश्चायक तथ्य नहीं होती । ये उन परिस्थितियों में से कोई एक परिस्थिति होती है जिस पर इस बात का न्यायनिर्णयन किए जाते समय विचार किया जाना चाहिए कि क्या धर्म या धार्मिक प्रक्रिया या आस्था के विशिष्ट मामले धर्म के अभिन्न भाग होते हैं । इस बात को निर्णीत किया जाना चाहिए कि क्या प्रथाओं या मामलों को स्वयमेव समुदाय द्वारा ही (धर्म का) अभिन्न भाग माना जा सकता है । यद्यपि यह निश्चायक नहीं है, फिर भी यह एक ऐसा पहलू है जिस पर विचार किया जाना चाहिए । प्रश्नगत प्रथा धार्मिक प्रकृति की है और क्या इसे धर्म का अभिन्न और आवश्यक भाग माना जा सकता है और यदि न्यायालय उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि यह धर्म का अभिन्न या आवश्यक भाग है, तो अनुच्छेद 25 इसे संरक्षण प्रदान करता है.... ।
>
> (बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की महत्वपूर्ण दलील यह थी कि उच्च न्यायालय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" (विवरण के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर भाग 6 न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) के विषय पर दिए गए निर्णय विधि की दृष्टि में मान्य ठहराए जाने योग्य नहीं है क्योंकि उच्च न्यायालयों ने "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर अपनी समझ के सन्दर्भ में अपने विचारों को प्रतिस्थापित कर दिया है । यह भी दलील दी गई कि "तलाक-ए-बिद्दत" संदर्भ में सुन्नी मुस्लिमों के अन्य चार संप्रदायों के विश्वास के आधार पर किसी एक संप्रदाय के विचारों को चालाकी से निकाल दिया जाना मुस्लिमों के विश्वास को स्पष्ट रूप से भंग किया जाना था ।

---

[1] (1997) 4 एस. सी. सी. 606.

106. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उन सभी के द्वारा जिन्होंने याची की ओर से इस न्यायालय को सहायता प्रदान की, अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं का अवलंब लिए जाने को भी विवादित किया । इस संबंध में, यह दलील दी गई कि अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं, विशेष रूप से कन्वेंशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन (महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद के विलोपन पर प्रसंविदा) का अवलंब लिया जाना पूर्णतया गलत है चूंकि भारत ने इस प्रसंविदा के संबंध में किसी समुदाय के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न किए जाने की अपनी संवैधानिक नीति के समर्थन में स्पष्ट रूप से अधिकार सुरक्षित कर लिया था । इस संबंध में कन्वेशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन को विशिष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हुए यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त घोषणाएं/संरक्षण सर्वप्रथम उपर्युक्त प्रसंविदाओं को हस्ताक्षरित किए जाते समय और तत्पश्चात् उनकी पुष्टि किए जाते समय भी किए गए थे । इस संबंध में यह दलील दी गई कि भारत द्वारा प्रथम घोषणा निम्नलिखित प्रारूप में की गई थी :–

> "कन्वेंशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन के अनुच्छेद 5(क) और 16(1) के संबंध में भारत गणराज्य की सरकार यह घोषणा करती है कि वह किसी समुदाय द्वारा पहल और उसकी सहमति के बिना उसके अंदरूनी मामलों में गैर मध्यक्षेप की अपनी नीति के सामंजस्य में इन उपबंधों का पालन सुनिश्चित करेगी ।"

प्रसंविदा को हस्ताक्षरित और उसका अनुसमर्थन किए जाते समय स्पष्ट अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए यह निवेदन किया गया कि इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि भारत ने वचन दिया है कि वह किसी समुदाय के अंदरूनी मामलों में संबद्ध समुदाय की पहल और उसकी सहमति के बिना मध्यक्षेप नहीं करेगा । यह निवेदन किया गया कि भारत संघ द्वारा इस वचन को अनदेखा नहीं किया जा सकता । संदर्भाधीन विवाद्यक पर इस न्यायालय को संबोधित करते हुए यह निवेदन किया गया कि भारत संघ द्वारा जिस पक्षकथन का अवलंब लिया गया है, वह उस अवस्थिति का स्पष्ट अनादर है जिसे भारत द्वारा अंगीकृत किया गया है और जिसे ऊपर वर्णित किया गया है ।

107. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने याची द्वारा ऐसे विभिन्न पंथनिरपेक्ष देशों, जहां बहुसंख्यक हैं और साथ ही धर्मतंत्रात्मक देशों में "तलाक-ए-

बिद्दत" की प्रथा को विधायन द्वारा अभिव्यक्त रूप से निराकृत कर दिए जाने के आधार पर किए गए निवेदनों का भी गंभीरतापूर्वक विरोध किया (विवरण के लिए निर्दिष्ट करें भाग 5 संपूर्ण विश्व में, इस्लामिक देशों के साथ ही साथ गैर इस्लामिक देशों में विधायन द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निराकरण) । इस संबंध में यह निवेदन किया गया कि संविधान द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों और/या धार्मिक वर्गों की "स्वीय विधियों" का संरक्षण उन्हें मूल अधिकारों की उच्च स्थिति प्रदान किए जाने के द्वारा किया जाना अपेक्षित है । तद्नुसार, यह दलील दी गई कि समाज के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों और साथ ही धार्मिक वर्गों को संविधान के अधीन मूल अधिकार के रूप में जो कुछ प्रदत्त हैं, उसे प्रदान किए जाने से इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्य देशों ने भी ऐसे बतिलिकरण के लिए विधान अधिनियमित किए हैं । इसके अलावा, यह निवेदन किया गया कि विधान किसी विशिष्ट देश के निवासियों की सामूहिक इच्छा पर आधारित होता है और इसलिए किसी अन्य देश के निवासियों की इच्छा को भारत के निवासियों की इच्छा पर थोपा नहीं जा सकता । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपने से पहले वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों का अवलंब लेते हुए दलील दी कि भारत के विधान मंडल को स्वतंत्रता है कि वह इस प्रकार के विधान अधिनियमित करे क्योंकि सातवीं अनुसूची में समाविष्ट समवर्ती सूची विधान-मंडल को "स्वीय विधि" द्वारा शासित मामलों के संबंध में भी विधायन करने की अनुज्ञा प्रदान करती है । इसके अतिरिक्त, यह भी निवेदन किया गया कि इस संबंध में उपबंध अनुच्छेद 23(2)(ख) में उपलब्ध है, जो यह उपबंधित करता है कि सामाजिक कल्याण और सुधार के उद्देश्य को अपनाए जाने के लिए विधान-मंडल को स्वतंत्रता है कि वह "स्वीय विधि" द्वारा शासित मामलों के संबंध में भी विधान अधिनियमित करें । अतः, यह दलील दी गई कि याचियों द्वारा दी गई इस प्रकार की सभी दलीलों को अनदेखा कर दिया जाना चाहिए ।

108. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री वी. गिरी 2015 की स्वप्रेरणा से रिट याचिका (सिविल) सं. 2 में प्रत्यर्थी सं. 7 - जमाते-उल-उलेमा-ए-हिंद (जिसका प्रतिनिधित्व महासचिव, 1- बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली द्वारा किया गया) और 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 118 में प्रत्यर्थी सं. 6 की ओर से उपस्थित हुए । आरंभ में, यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने श्री कपिल सिब्बल और श्री राजू रामचंद्रन, ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा किए गए निवेदनों का पृष्ठांकन किया

जिन्होंने उनके समक्ष इस न्यायालय की सहायता की थी । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस आधार पर प्रथमतः जहां तक इसका संबंध "तलाक-ए-बिद्दत" से है, मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी, उनकी दलीलों पर केंद्रित किया कि यह असंवैधानिक होने के कारण अप्रवर्तनीय है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी चुनौती देने के लिए सर्वप्रथम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (विवरण के लिए, भाग 4 मुस्लिम "स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत में विधान को निर्दिष्ट करें) की धारा 2 और 3 की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त धारा 2 सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है । यह इंगित किया गया कि पूर्वोक्त सर्वोपरि खंड ऐसी प्रथाओं और रूढ़ियों के अपवर्जन के लिए ही निर्देश्य थी जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के प्रतिकूल थी । यह निवेदन किया गया कि सुस्पष्टतः ऐसी प्रथाओं और रूढ़ियों के प्रतिनिर्देश दिया गया था जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के अनुरूप नहीं थी । यह प्राख्यान किया गया कि धारा 2 के अधिदेश का उद्देश्य मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को "विनिश्चय नियम" बनाना था जब प्रथाएं और रूढ़ियां प्रतिकूल हों । यह स्पष्ट करने की ईप्सा की गई कि शरीयत अधिनियम में उन विषयों के संदर्भ में जिन्हें धारा 2 और 3 लागू की गई थी, इसके पैरामीटर को न तो परिभाषित किया गया है न ही स्पष्ट किया गया है । अतः यह निवेदन किया गया कि निर्देशाधीन अधिनियमिति द्वारा मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को पुनःस्थापित नहीं किया गया है क्योंकि उक्त विधान की अधिनियमिति के पूर्व भी मुस्लिमों को यही विधि लागू थी । इस बाबत यह इंगित किया गया कि देश के विभिन्न भागों में प्रथाएं और रूढ़ियां मुस्लिमों के संबंध में भी उनकी "स्वीय विधि" को अभिभावी करते हुए लागू की जा रही थी । उपर्युक्त दलील को पुष्ट करने के लिए विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त अधिनियमिति के उद्देश्यों और कारणों के कथन का सुस्पष्ट निर्देश किया जो यह प्रकट करता है कि ब्रिटिश भारत के मुसलमानों ने लगातार यह आग्रह किया था कि रूढ़िगत विधि और परंपराएं मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत का स्थान न ग्रहण कर ले । यह भी इंगित किया गया कि उद्देश्यों और कारणों का कथन यह भी उजागर करता है कि उसके मुवक्किल अर्थात् जमाते-उलेमा-ए-हिंद ने मुस्लिमों के बीच विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को लागू किए जाने की मांग की थी और यह आग्रह किया था कि रूढ़ि और प्रथा के प्रतिकूल

विधि को अध्यारोही प्रभाव नहीं होना चाहिए । यह इंगित किया गया कि यह तभी किया जा सकता है जब मुस्लिम "स्वीय विधि"- शरीयत अस्तित्व में था और 1937 में उपर्युक्त अधिनियमिति के पूर्व भी मुसलमानों के बीच विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए अनुप्रयोज्य था । पूर्वोक्त रीति का आवाहन करते हुए यह निवेदन किया गया कि विधि के निकाय के रूप में मुस्लिम "स्वीय विधि" को शरीयत अधिनियम द्वारा ही शाश्वत बनाया गया था । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" को कानून द्वारा सम्मिलित नहीं किया गया था न ही 1937 अधिनियम ने मुस्लिम "स्वीय विधि" को संहिताबद्ध किया था । यह निवेदन किया गया कि 1937 वाले विधान को केवल कानूनी रूप से घोषित किया गया था कि नियमों के संग्रह के रूप में मुस्लिम "स्वीय विधि" भारत के मुस्लिमों को लागू होगी और यह मुस्लिम "स्वीय विधि" होगी जिसका किसी प्रतिकूल रूढ़ि या प्रथा पर अध्यारोही प्रभाव होगा । अतः यह दोहराया गया कि ऐसी विधायिका द्वारा जिसने मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 का अधिनियमन किया भारत के मुस्लिमों को लागू मुस्लिम "स्वीय विधि" में तनिक भी परिवर्तन या संशोधन नहीं किया और न ही उपर्युक्त अधिनियमिति का अधिनियमन करते समय विधायिका ने मुस्लिम "स्वीय विधि" को सम्मिलित किया अतः मुस्लिम "स्वीय विधि" के लक्षण में मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति के कारण कोई परिवर्तन नहीं हुआ । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार मुस्लिम "स्वीय विधि" का कायाकल्प कानून के रूप में नहीं हुआ और इस प्रकार भारत में मुस्लिमों के अधिकार और कर्तव्य शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् भी यथापूर्व शासित होते रहे । यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम न तो प्रतिस्थापित किया गया और न ही यह उन से भिन्न अधिकारों और बाध्यताओं के सेट से भिन्न स्थिति का उपबंध करता है जो मुस्लिम "स्वीय विधि"- शरीयत के रूप में मान्यता प्राप्त और लागू थी । इस प्रकार यह दलील दी गई कि यह स्वीकार करना पूर्णतः अन्यायोचित है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को शरीयत अधिनियम के माध्यम से कानूनी प्रभाव दिया गया । अतः यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त अधिनियमिति की धारा 2 की विधिमान्यता को चुनौती देना निरर्थक प्रयास होगा जिससे कि संविधान के भाग 3 में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के रूप में "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता को चुनौती दी जा सके । जहां तक वर्तमान प्राख्यान का संबंध है, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने दो निवेदन किए -

पहला, यह कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 स्वयं मात्र इस कारण समुदाय के रूप में मुस्लिमों द्वारा अपनाए जाने और निर्वहन किए जाने के अधिकारों और बाध्यताओं का उपबंध करने की किसी विधि का उपबंध नहीं करता कि यह केवल मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत के सातत्व की केवल पुनः पुष्टि करता है और इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों के अधिकार और बाध्यताएं जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के अधीन थे, उसी प्रकार जारी रह गए जैसे वे शरीयत अधिनियम की अधिनियमिति के पूर्व विद्यमान थे । और, दूसरा मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को न तो स्पष्ट नियमों और विनियमों की प्रकृति में शरीयत अधिनियम द्वारा रूपांतरित या कायाकल्पित किया गया और इस प्रकार यदि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 को अभिखंडित किया जाए तो भी यह संविधान के अनुच्छेद 25 के अधिदेश को ध्यान में रखते हुए स्वतः मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत को पुनर्जीवित करता है । तदनुसार, यह इंगित किया गया कि चुनौती के पैरामीटर जो कानूनी अधिनियमिति को चुनौती देने के लिए लागू थे, मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को चुनौती देने के विषय में लागू नहीं होंगे। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की यह भी दलील थी कि संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अधीन अबाद्ध रूप से धर्म के मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता अपनी निजी आस्था को मानने के कार्य में प्रत्येक व्यक्ति को गारंटीकृत एक सार्वभौमिक अधिकार है । यह निवदेन किया गया कि पूर्वोक्त परिधि भारतीय संविधान के पंथनिरपेक्ष प्रकृति का मर्म है । तद्नुसार, यह इंगित किया गया कि अनुच्छेद 25(1) के अधीन संरक्षित अधिकारों की सीमाओं को चुनौती लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के सीमित आधरों पर और उस समय भी यदि संविधान के भाग 3 मूल अधिकारों के उपबंधों का भंग हुआ हो, दी जा सकती है ।

109. यह निवेदन किया गया कि संविधान के अधीन भाग 3 मूल अधिकार में अंतर्विष्ट उपबंधों के भंग का अवलंब राज्य कार्रवाई के प्रतिनिर्देश से ही लिया जा सकता है क्योंकि केवल राज्य कार्रवाई को ही अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अनुरूप होना चाहिए । अतः यह निवेदन किया गया कि संविधान के अन्य उपबंधों को अनुच्छेद 25(1) के अधीन अधिकार का दिखावटी आधिपत्य "स्वीय विधि" के मामले में लागू नहीं जिसका किसी कानून या राज्य कार्रवाई में कोई स्रोत नहीं है । यह निवेदन किया गया कि शरीयत अधिनियम मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत की

उपयोज्यता की पुष्टि करता है और उसकी धारा 2 के द्वारा इसे निरंतरता प्रदान करता है । अतः, यह मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत को कानूनी जामा नहीं प्रदान करेगा ।

110. यह भी निवेदन किया गया कि सुन्नी संविधान के अनुच्छेद 25 के अर्थांतर्गत एक धार्मिक संप्रदाय है और अतः, वे लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन है । अतः सुन्नी मुस्लिमों को, अन्य बातों के साथ-साथ धर्म से संबंधित विषयों में अपनी निजी क्रियाकलापों का प्रबंध करने का अधिकार था । यह इंगित किया गया कि इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता कि विवाह और विवाह-विच्छेद धर्म के विषय हैं । अतः धार्मिक संप्रदाय के रूप में सुन्नी विवाह और विवाह-विच्छेद के अपने निजी क्रियाकलापों का प्रबंध करने के हकदार थे जो मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत के अनुकूल हैं । अतः, यह निवेदन किया गया कि विवाह और विवाह-विच्छेद से संबंधित ऐसे उपबंध जो मुस्लिम "स्वीय विधि" में हैं, संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन सांप्रदायिक अधिकार के रूप में संरक्षित किए जाने के हकदार हैं ।

111. श्री वी. शेखर, श्री सोम्या चक्रवर्ती, ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री अजीत वाघ, अजमल खान, ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री वी. के. बिजू, श्री बनर्जी, श्री अश्वनी उपाध्याय, श्री विवेक सी. सोल्शा, सुश्री रूख्साना, सुश्री फराह फैज, अधिवक्ता ने भी न्यायालय की सहायता की । न्यायालय को उनकी सहायता अन्य विद्वान् काउंसेलों द्वारा, जो उनके समक्ष उपस्थित हुए थे, पक्षपोषित मुद्दों पर थे । उनके द्वारा दिए गए निवदेनों को पहले ही ऊपर अभिलिखित किया गया है । संक्षिप्तता के कारण, उपर्युक्त निर्दिष्ट विद्वान् काउंसेलों के नाम से पुनः उन्हीं निवेदनों को अभिलिखित करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है । कुल मिलाकर यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि हमने इंगित सभी बारीकियों और संविवाद के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर उनके प्रभाव पर सम्यक् ध्यान दिया ।

भाग 9

परस्पर विरोधी दलीलों पर विचार-विमर्श और हमारा निष्कर्ष

112. अपने विचार-विमर्श के दौरान हमने अनेक जटिल मुद्दों की परीक्षा करने का प्रयास किया । हमें "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की विधिक शुचिता का अवधारण करने की आवश्यकता है । यह हमें यह सुनिश्चित करने में समर्थ बनाएगी कि क्या "तलाक" की प्रथा की विधायी मान्यता है क्योंकि याची का यह पक्षकथन है कि यह व्यक्त विधान

2017(8) eILR(PAT) SC 110

[मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937] के माध्यम से है । किंतु याची के दावे के संबंध में दलील देने वाले लोगों की ओर से अपनाया गया दृष्टांत यह है कि इसकी उच्चता "स्वीय विधि" की है और उस कारण "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है ।

113. किसी भी पक्ष में निष्कर्ष निकालते हुए, हमें यह अवधारित करने की आवश्यकता है कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक के माध्यम से विवाह-विच्छेद, संविधान के मूल अधिकार के भाग 3 के नियम विरुद्ध है (यह अवधारण याची की दलील की स्वीकृति के अधीन होगा कि इस प्रथा को कानूनी मान्यता प्राप्त है) । तथापि, यदि हम प्रतिकूल निष्कर्ष निकालते हैं, अर्थात्, यह कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की "स्वीय विधि" की प्रास्थिति है तो हमें प्रथा के बाध्यकारी प्रभाव का अवधारण करना होगा और यह कि क्या इस न्यायालय के न्यायिक पक्ष द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है । संविधान के अनुच्छेद 25 के अधिदेश को ध्यान में रखते हुए वर्तमान अनुक्रम आवश्यक होगा जिसका अवलंब उन लोगों द्वारा लिया गया है जो याची के हेतुक का विरोध कर रहे हैं ।

114. यदि हम इस प्रतिपादना से सहमत भी हो जाएं कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक मुस्लिमों को लागू "स्वीय विधि" गठित करता है तो भी विवाह-विच्छेद के मुद्दे पर इस न्यायालय को यह परीक्षा करने की आवश्यकता होगी कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की प्रथा संविधान के भाग 3 के "......लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा अन्य उपबंधों के...." स्वीकृत मानकों का अतिक्रमण करती है (याची द्वारा प्रस्तुत यह पक्षकथन है) । यद्यपि पूर्वगामी पैरा में वर्णित विचार-विमर्श के पश्चात् निकाले गए निष्कर्ष से याची के हेतु के लिए कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकलता, उनका यह पक्षकथन है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा सामाजिक रूप से घृणात्मक होने के कारण उसे संवैधानिक नैतिकता का अतिक्रमण करने वाली घोषित किया जाए क्योंकि याची के अनुसार इस आधार पर इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने के लिए इस धारणा का अवलंब लिया जाए कि यह व्यापक लोकहित में उद्देश्य को पूरा करेगा । याचियों के हेतुक की पुष्टि धार्मिक इस्लामिक राज्यों सहित अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या वाले देशों में संपूर्ण विश्व में वर्तमान संदर्भ में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के उत्सादन द्वारा होती है । निम्नलिखित परीक्षा में इसमें इसके ऊपर अभिलिखित मार्ग पर विचार किया जाएगा ।

I. क्या राशिद अहमद वाले मामले में 'तलाक-ए-बिद्दत' कायम

रखते हुए, प्रिवी कौंसिल के निर्णय पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा है ?

115. मुस्लिम "स्वीय विधि"– "शरीयत" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के बारे में इस बहस को लंबा या जटिल बनाने की आवश्यकता नहीं होगी यदि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए विनिश्चय को इसकी विधिमान्यता और "तलाक-ए-बिद्दत" के द्वारा विवाह-विच्छेद की अप्रतिसंहरणीय प्रकृति पर अंतिम माना जाए । बहस तत्काल समाप्त हो जाएगी । पूर्वोक्त निर्णय मुस्लिम "स्वीय विधि" को लागू करते हुए दिया गया था । उपर्युक्त निर्णय में "तलाक-ए-बिद्दत" को विधिमान्य और आबद्धकर अभिनिर्धारित किया गया था । **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय का बहुत महत्व है क्योंकि अनीशा खातून - पूर्व पत्नी और उसके पूर्व पति गयासुद्दीन "तलाक-ए-बिद्दत" की उद्घोषणा के पश्चात् 15 वर्ष की अवधि तक अपने पति के साथ सहवास करती रही और रहती रही । इस विवाह-विच्छेद के पश्चात् सहवास के दौरान गयासुद्दीन से अनीशा खातून को पांच बच्चे पैदा हुए । और फिर भी, प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया कि पक्षकारों के बीच वैवाहिक संबंध "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की उद्घोषणा पर तत्काल समाप्त हो गया । प्रिवी कौंसिल ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि अनीशा खातून से पैदा हुए पांच बच्चों को गयासुद्दीन और उनकी पूर्व पत्नी के धर्मज बच्चों के रूप में नहीं माना जा सकता । अतः पक्षकारों के बीच विवाह-विच्छेद हो जाने के पश्चात् अनीशा खातून के जन्में बच्चों को गयासुद्दीन की संपत्ति का वारिस नहीं ठहराया गया । **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय 1932 में दिया गया था । मुस्लिम "स्वीय विधि" (जैसाकि याचियों द्वारा पक्षपोषित किया गया है) की प्राख्यापित कानूनी प्रास्थिति मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति से उद्भूत हुई । "शरीयत" अधिनियम में व्यक्ततः यह उपबंध है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" - "शरीयत" ऐसे मामलों में "विनिश्चय नियम" गठित करती है जहां पक्षकार मुस्लिम हों । यह विवादित नहीं है कि अन्य बातों के अलावा शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के परिणामस्वरूप "तलाक" द्वारा मुस्लिमों में विवाह का विघटन मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के अनुरूप ही होगा । जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" मुसलमानों में "तलाक" द्वारा विवाह के विघटन का एक प्रकार है । याचियों के पक्षकथन के अनुसार मुस्लिम "स्वीय विधि" -"शरीयत" को कानूनी प्रास्थिति प्रदान करने के मुद्दे पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है । यह निवेदन

किया गया कि कानूनी प्रास्थिति अर्जित करने के पश्चात् ("तलाक-ए-बिद्दत" सहित) प्रश्न और विषय संविधान के भाग 3 मूल अधिकार के उपबंधों के अनुरूप होने चाहिए (न कि इसके प्रतिकूल) । यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि ये सभी महत्वपूर्ण विधिक प्रश्न हैं जिनकी परीक्षा करने की अपेक्षा है ।

116. हमारे विचारित मत के अनुसार इस विषय पर निश्चिततः नए सिरे से विचार करने की अपेक्षा है क्योंकि विभिन्न उच्च न्यायालय ने "तलाक-ए-बिद्दत" द्वारा मुस्लिमों के बीच विवाह-विच्छेद की प्रथा की परीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" की गलत व्याख्या पर दिया गया था ।

117. यदि याचियों के अनुसार, मुस्लिम "स्वीय विधि" के अनुसार मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 में ऐसी रीति सम्मिलित की गई होती जिसमें निर्वसीयत उत्तराधिकार संविदा या दान के अधीन अभिप्राप्त या विरासत में प्राप्त स्वीय संपत्ति सहित महिलाओं की विशेष संपत्ति या "तलाक", इला, जिहर, लियन, खुला और मुबारक सहित विवाह, विवाह-विघटन, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता, दान, न्यास और न्यास संपत्ति जैसे विषय और वक्फ (जैसा उसकी धारा 2 में है) से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया गया होता तो बिल्कुल अलग बात होती । कुल मिलाकर शरीयत अधिनियम में यह उल्लेख नहीं है कि कैसे उपर्युक्त प्रश्नों और विषयों पर विचार किया जाए । अतः, मुस्लिमों के विवादों के समाधान के लिए सर्वप्रथम यह अवधारित करने की आवश्यकता होगी कि विवाद के प्रतिनिर्देश से मुस्लिम "स्वीय विधि" का अर्थ क्या था । यह जो कुछ भी था, वह 1937 अधिनियम की धारा 2 के निबंधनानुसार "विनिश्चय नियम" गठित करता है । प्रिवी कौंसिल द्वारा **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए निर्णय के पश्चात् और मुस्लिम "स्वीय विधि" - "शरीयत" को प्रख्यापित कानूनी प्रास्थिति प्रदान किए जाने के पश्चात् **ए. युसूफ राथर** बनाम **सोरम्मा**[1] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के समक्ष मुद्दा विचारार्थ उद्भूत हुआ जिसमें उच्च न्यायालय ने **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए प्रिवी कौंसिल के पूर्वोक्त विनिश्चय की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" पर ब्रिटिश न्यायालयों के मत "शरीयत" की गलत व्याख्या पर आधारित है । उपर्युक्त निर्णय में

[1] ए. आई. आर. 1971 केरल 261.

केरल उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :–

"7. अधिवक्ताओं की ओर से पर्याप्त तर्क दिए गए और 'उसके भरणपोषण के लिए व्यवस्था करने की असफलता' पद का अर्थ निकालने के संबंध में और मुस्लिम विधि के अधीन विघटन के लिए यथा विधिमान्य मान्यता प्राप्त आधारों के बारे में दोनों पक्षों द्वारा बहुत नजीरें दी गईं । चूंकि भ्रमातीतत्व न्यायपालिका का सहज गुण नहीं है इसलिए मुस्लिम न्यायविदों द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि विवाह-विच्छेद की इस्लामिक विधि की भारतीय एंग्लियन न्यायिक प्रतिपादना पवित्र पैगम्बर या पवित्र पुस्तक के अनुरूप हू-ब-हू ठीक नहीं है, सीमांतक विरूपण अनिवार्य हैं जब ड्राउनिंग स्ट्रीट की न्यायिक समिति को भारत और अरबिया के मनु और मुहम्मद का निर्वचन करना है । संस्कृति की आत्मा-विधि काफी औपचारिक है और समुदाय के सांस्कृतिक मानकों की प्रवर्तनीय अभिव्यक्ति को विदेशी मस्तिष्कों द्वारा पूर्णतः नहीं समझा जा सकता । यह मत कि मुस्लिम पति तत्काल 'तलाक' करने की मनमाना और एकपक्षीय शक्ति का उपभोग करते हैं, की सम्मति इस्लामिक व्यादेशों द्वारा नहीं होती है...... । यह जनप्रतिय प्रमुख है कि मुस्लिम पुरुष कुरान विधि के अधीन विवाह को समाप्त करने की बेलगाम शक्ति का उपभोग करता है । "पूरा कुरान व्यक्ततः पुरुष को तब तक अपनी पत्नी को 'तलाक' देने के लिए बहाने करने की मनाही करता है जब तक वह उसकी वफादार और आज्ञाकारी बनी रहती है । 'यदि वे (अर्थात् महिला) तुम्हारी आज्ञा मानती है तब तुम उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सकते' (कुरान IV: 34) । इस्लामिक विधि प्राथमिकतः पुरुष को विवाह के विघटन की सुविधा प्रदान करती है यदि पत्नी अपने सरकशी या अपने बुरे चरित्र के द्वारा विवाहित जीवन को दुखद बनाती है ; किंतु गंभीर कारणों के अभाव में कोई भी पुरुष धर्म या विधि की नजर में 'तलाक' को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता । यदि वह अपनी पत्नी का त्याग करता है या थोड़े सनकपन में उसे अलग करता है तो वह ईश्वर अर्थात् पैगम्बर के अभिशाप के लिए स्वयं दैवीय क्रोध को बुलावा देता है जो अपनी पत्नी को मनमौजीपन से इनकार करता है ।" विद्वान् लेखक अहमद ए. गलवास के अनुसार, पैगम्बर के समय के पहले पगन अरब पूर्णतः अपनी पत्नी का परित्याग करने के लिए स्वतंत्र था जब कभी वह उनकी सनक के अनुकूल हो

किंतु जब पैगम्बर आए तो उन्होंने 'तलाक' को ईश्वर की नजर में सर्वाधिक नापसंद विधिसम्मत विषय के रूप में घोषित किया । वस्तुतः वे 'तलाक' के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त करने से कभी परेशान नहीं हुए । एक बार उन्होंने कहा : ईश्वर ने भूतल पर ऐसी कोई चीज नहीं बनाई जिसे वह (दासों के) दासत्व मुक्ति के कार्य से अधिक चाहते हों न ही उन्होंने भूतल पर ऐसी कोई चीज बनाई है जिसे वह 'तलाक' के कार्य से अधिक नापसंद करते हों । कुरान के समीक्षकों ने यह ठीक ही मत व्यक्त किया - और यह इराक जैसे कुछ मुस्लिम देशों में अब लागू विधि से मेल खाता है, कि पति को 'तलाक' के लिए कारणों के बारे में न्यायालय को संतुष्ट करना चाहिए । तथापि, भारत में लागू मुस्लिम विधि ने ऐसी भावना के प्रतिकूल मार्ग अपनाया है जो पैगम्बर या पवित्र कुरान ने अधिकथित की है और वही गलत धारणा पत्नी के 'तलाक' के अधिकार से निपटने वाली विधि को दूषित करती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

118. मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के मुद्दे पर स्पष्ट परीक्षा किए बिना इस न्यायालय ने **फजलुन्नवी** बनाम **के. खादरवली**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :–

"20. फजलुन्नवी को विदा कहने के पूर्व हमारे लिए इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि मुख्य न्यायाधीश बहरूल इस्लाम ने एक विस्तृत निर्णय में जिसमें कुरान शरीफ से उद्धरण लिए गए हैं, कई पूर्ववर्ती अंग्रेजी लेखकों तथा न्यायाधीशों की गलती को अभिव्यक्त किया है जिन्होंने इस्लामी विधि में 'तलाक' को अच्छा बताया है चाहे वह मनमाने तौर पर या आवेश में आकर दी गई हो और न्यायाधीश बेचलर (आई. एल. आर. 30 बाम्बे 539) के इस कड़े मत के विरुद्ध तर्क किया कि यह मत 'विधि के अनुसार ठीक है चाहे सैद्धांतिक रूप से गलत हो ।' जब यह बात प्रत्यक्ष रूप से उठे तो हो सकता है कि इस प्रश्न पर इस न्यायालय द्वारा विचार किया जाए किंतु आज तक के लिए इतना विरोध पर्याप्त है और हम इस प्रश्न पर अपना मत अभिव्यक्त नहीं करते हैं क्योंकि प्रस्तुत मामले में

---

[1] [1981] 2 उम. नि. प. 839 = (1980) 4 एस. सी. सी. 125.

विनिश्चय करने के लिए इसकी जरूरत है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा निर्णीत विधि की प्रतिपादना पर नए सिरे से विचार किए जाने की आवश्यकता है ।

119. यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि इस अंतराल में, "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता पर गुवाहाटी उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम) ने **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में विचार किया जिसमें उच्च न्यायालय ने (रशीद अहमद वाले मामले में) प्रिवी कौंसिल द्वारा अभिलिखित निर्णय से भिन्न मत व्यक्त किया । ऐसा करते समय, उसने "हदीस", "इजमा" और "क्यास" का अवलंब लिया । विवाद्यक पर पुनः मुसम्मात **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा परीक्षा की गई है । आगे पुनः उच्च न्यायालय (तत्कालीन मुख्य न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम की ओर से बोलते हुए) प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमत नहीं हुआ । मामले पर **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति बदर दुरेज अहमद) द्वारा ही परीक्षा की गई । इसमें पुनः सुसंगत हदीस का अवलंब लेते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि "तलाक-ए-बिद्दत" पर प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त विधिक प्रतिपादना मुस्लिम "स्वीय विधि" के अनुरूप नहीं है । केरल उच्च न्यायालय ने **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में (न्यायमूर्ति ए. मुहम्मद मुस्ताक द्वारा लिखित) "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के कारण मुस्लिम पत्नियों की दर्दनाक स्थिति को उजागर किया और विषय पर अपना मत व्यक्त किया ।

120. इसमें उपर्युक्त व्यक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमारा यह विचारित मत है कि यह अभिनिर्धारित करते हुए **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में "तलाक-ए-बिद्दत" के प्रतिनिर्देश से प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त की गई यह राय कि "तलाक-ए-बिद्दत" का परिणाम पति-पत्नी के बीच वैवाहिक गठबंधन को अंतिम और असुधार्य रूप से अलग करना होता है, जिस क्षण यह उद्घोषित किया जाता है, नए सिरे से परीक्षा किए जाने की आवश्यकता है । विशेषकर, क्योंकि उस सन्निधि पर शरीयत अधिनियम की पृष्ठभूमि में और भारत के संविधान के उपबंधों के आलोक में भी (वस्तुतः यह ऐसा नहीं होता क्योंकि उस समय विधान उपलब्ध नहीं था

जब प्रिवी कौंसिल द्वारा अपना निर्णय दिया गया) मुस्लिम "स्वीय विधि"-"शरीयत" की अनुमोदित अवधारणा के रूप में इसकी विधिमान्यता का मूल्यांकन नहीं किया गया था ।

<u>II. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" को विधि की मंजूरी है जिसे पाप समझा जाता है ?</u>

121. याचियों और अन्य जिन्होंने याची के हेतु का समर्थन किया है, ने दृढ़तापूर्वक यह दलील दी कि "तलाक-ए-बिद्दत" का उद्भव कुरान से नहीं है । दलील पर गंभीर रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" जिसे याची क्रमशः विवाह-विच्छेद का "सर्वोचित" और "उचित" प्ररूप मानते हैं, का भी उल्लेख कुरान में नहीं है । कुरान में "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" के किसी प्रतिनिर्देश के अभाव के बावजूद किसी भी याची ने इस आधार पर इसे कोई चुनौती नहीं दी । सुस्पष्टतः इस आधार पर "तलाक-ए-बिद्दत" को चुनौती नहीं दी जा सकती । हमारा यह समाधान हो गया है कि मुस्लिमों के बीच "तलाक" की भिन्न-भिन्न अनुमोदित प्रथाओं का उद्भव हदीसों और मुस्लिम विधिशास्त्र के अन्य स्रोतों में उपलब्ध है । अतः, मात्र इस कारण कि यह कुरान में व्यक्ततः उपबंधित नहीं है या अनुमोदित नहीं है, प्रथा को अपास्त करने का विधिमान्य औचित्य नहीं हो सकता ।

122. याची हमसे यह अभिनिर्धारित करने की अपेक्षा करते हुए वस्तुतः संविवाद के सरल और संक्षिप्त निपटान की मांग कर रहे हैं कि जो कुछ भी अनियमित और पापमय है, उसे विधि की मंजूरी नहीं प्राप्त हो सकती है । पूर्वोक्त अनुरोध का समर्थन इस दलील द्वारा किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" को धर्मशास्त्र में दोषपूर्ण घोषित किया गया है । यह निवेदन किया गया कि यह प्रथा स्पष्टतः पितृसत्तात्मक है अतः लिंग समता की आज की दुनिया में इसे कायम नहीं रखा जा सकता है । इस न्यायालय को याचियों के इस अनुरोध को कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाए, स्वीकार करने के लिए न्यायालय का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया गया कि वर्तमान संविवाद पर उसी तरह से हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है जैसा हिंदुओं में समान पितृसत्तात्मक, अनियमित और पापमय प्रथा को दूर करने के लिए अपनाया गया था । इस बाबत, "सती", "देवदासी" और "बहु-विवाह" की प्रथा के प्रतिनिर्देश किया गया ।

123 (i) हम केवल यह उजागर करते हैं कि "सती" को सामान्यतः विधवा दाह के रूप में वर्णित किया जाता है । इस प्रथा में विधवा से अपने पति की चिता पर स्वयं का आत्मदाह करने (या अनुकल्पतः अपने पति की मृत्यु के ठीक पश्चात् आत्महत्या करने) की अपेक्षा की जाती है । "तलाक-ए-बिद्दत" की तरह सती चिरकाल से व्याप्त रहा है । यह विश्वास किया जाता है कि सती की प्रथा एक शताब्दी बी.सी. से पहले से है । भारतीय उप-महाद्वीप में 10वीं शताब्दी ए.डी. से इसका लोकप्रिय होना बताया जाता है । यह निवेदन किया गया कि ठीक जैसे सती को अस्वीकार्य घोषित किया गया उसी प्रकार "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाए ।

(ii) "देवदासी" का शाब्दिक अर्थ एक ऐसी लड़की से है जो किसी देवता (मूर्ति) या मंदिर की पूजा और सेवा में समर्पित है । प्रथा को दृष्टि से "देवदासी' का समर्पण और सेवा उसके जीवनपर्यंत चलता रहता है । यह प्रथा आदि काल से चली आ रही है, यद्यपि पूर्व में "देवदासी" को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी क्योंकि उस समय शासक/नरेश मंदिरों के संरक्षक होते थे । भारत में ब्रिटिश राज के दौरान मंदिरों को नरेशों का प्रोत्साहन और समर्थन कम होता गया । यह विश्वास किया जाता है कि नरेशों द्वारा निधियों की आपूर्ति रोक दिए जाने के पश्चात् देवदासियों ने अपने जीवनयापन के लिए नाचना और गाना आरंभ कर दिया । उन्होंने वेश्यावृत्ति में आलिप्त होना भी आरंभ कर दिया । तत्पश्चात्, "देवदासी" का जीवन अपकीर्ति (बदनामी) का जीवन हो गया और गरीबी के जीवन में परिवर्तित हो गया । इस प्रथा का एक अन्य पहलू यह है कि परम्पराओं ने "देवदासी" को विवाह करने से प्रतिषिद्ध कर रखा था ।

(iii) जहां तक "बहुविवाह" का संबंध है, हमारा विचार है कि बहुविवाह को भलीभांति समझा जा चुका है और उसकी व्याख्या किए जाने की आवश्यकता नहीं है ।

124. हमारा मत है कि उन प्रथाओं, जिनको याचियों द्वारा अपने दावे के समर्थन में निर्दिष्ट किया गया है, को यह समझे जाने के प्रयोजनार्थ कि वे कैसे समाप्त हो गई, पुनः परीक्षण किए जाने की आवश्यकता है । अब हम उन विवरणों को अभिलिखित करेंगे कि ये प्रथाएं कैसे समाप्त हो गईं ।

(i) जहां तक "सती" प्रथा का संबंध है, यह प्रथा 1815 से 1818 के मध्य चिंताजनक स्थिति में पहुंच गई थी, यह अनुमान लगाया जाता है कि इस अवधि के दौरान "सती" की घटनाएं दोगुनी हो गई थी । "सती" के

उन्मूलन के लिए क्रिस्चियन मिशनरियों (जैसे कि विलियम कैरे) और हिन्दू ब्राह्मणों (जैसे कि राम मोहन राय) द्वारा एक अभियान चलाया गया था। बंगाल की प्रांतीय सरकार ने "सती" पर विधायन द्वारा वर्ष 1929 में प्रतिबंध लगा दिया था। तत्पश्चात्, इसका अनुसरण करते हुए भारत की अन्य रियासतों द्वारा भी समरूप विधियां अधिनियमित की गईं। इस प्रथा को विधि द्वारा प्रतिबंधित किए जाने के पश्चात् 1988 का भारतीय सती निवारण अधिनियम अधिनियमित किया गया जिसके द्वारा "सती" की प्रथा को किसी भी प्रकार से सहायता प्रदान किए जाने, दुष्प्रेरण किए जाने या महिमामंडित किए जाने को दंडनीय कर दिया गया।

(ii) जहां तक "देवदासी" की प्रथा का संबंध है, ब्रिटिश राज की समाप्ति के तुरंत पश्चात् स्वतंत्र भारत ने तारीख 9 अक्तूबर, 1947 को मद्रास देवदासी (समर्पण का निवारण) अधिनियम (जिसे तमिलनाडु देवदासी (समर्पण का निवारण) अधिनियम भी कहा जाता है) पारित कर दिया। इस अधिनियमिति द्वारा वेश्यावृत्ति को अवैध घोषित कर दिया गया था। इसी विषय पर अधिनियमित अन्य विधानों में 1934 का बाम्बे देवदासी संरक्षण अधिनियम, 1957, बॉम्बे संरक्षण (विस्तारण) अधिनियम और 1988 का आंध्र प्रदेश देवदासी (समर्पण का प्रतिषेध) अधिनियम सम्मिलित हैं। अतः यह सुस्पष्ट है कि इस प्रथा को विधायन द्वारा समाप्त कर दिया गया था।

(iii) अंतिम पापात्मक प्रथा, जिसे हमारे संज्ञान में लाया गया, "बहुविवाह" थी। बहुविवाह हिन्दुओं के मध्य अनुज्ञप्त थी। 1860 में भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत "बहुविवाह" को दांडिक अपराध बना दिया गया। हिन्दू विवाह अधिनियम वर्ष 1955 में पारित किया गया था। इस अधिनियम की धारा 5 विधिमान्य हिन्दू विवाह के लिए दशाएं उपबंधित करती हैं। इस अधिनियम में एक यह शर्त अनुध्यात थी कि वैवाहिक गठबंधन के किसी भी पक्ष का विवाह के समय पति या पत्नी जीवित नहीं होना चाहिए। अतः, यह सुस्पष्ट है कि हिन्दुओं के मध्य बहुविवाह की प्रथा को न केवल समाप्त कर दिया गया था बल्कि उसे दांडिक अपराध के रूप में दंडनीय भी बना दिया गया था। यह भी विधायन द्वारा ही संभव हुआ।

125. उसे तथ्यात्मक और विधिक स्थिति से जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती पैराग्राफ में किया गया है, यह स्पष्ट होता है कि "सती", "देवदासी" और "बहुविवाह' की प्रथाएं घिनौनी थीं और उन्हें पापमय के रूप में वर्णित किया जा सकता है। वे पूर्णतः अवांछनीय थीं और धर्मशास्त्र की दृष्टि में निश्चित रूप से अमान्य थी। तथापि, यह उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण है कि

इनमें से किसी भी प्रथा को विधि के किसी भी न्यायालय के समक्ष चुनौती नहीं दी गई थी । इनमें से प्रत्येक प्रथा, जिनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया, को विधायी अधिनियमितियों के माध्यम से समाप्त कर दिया गया और अविधिमान्य कर दिया गया । अतः, वे दृष्टांत, जिन्हें याचियों द्वारा उद्धृत किया गया है, हमारे समक्ष उपस्थित मामले, जिसमें न्यायिक मध्यक्षेप के लिए प्रार्थना की गई है, के संदर्भ में अधिक लाभप्रद नहीं हो सकते ।

126. अब हम याचियों की व्यथा अर्थात् "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि में अस्वीकार्य घोषित किए जाने के प्रयोजनार्थ संक्षिप्त निस्तारण के लिए उनके द्वारा की गई साधारण प्रार्थना का उत्तर देने का प्रयास करेंगे । हमारे समक्ष की गई प्रार्थना के समर्थन में यह निवेदन किया गया है कि यह कल्पना नहीं की जा सकती कि किसी भी धार्मिक प्रथा को, जिसे उसी आस्था के अनुयायियों द्वारा पाप माना गया हो, विधि की दृष्टि में प्रवर्तनीय माना जा सकता है । यह प्राख्यान किया गया कि जो पापमय है, वह धार्मिक नहीं हो सकता । यह दलील भी दी गई कि मात्र इस कारणवश कि एक पापमय प्रथा लंबी अवधि से प्रचलन में रही है, इसे अधिक से अधिक एक प्रथा या रूढ़ि के रूप में समझा जा सकता है न कि किसी बाध्यकारी आस्था के रूप में (इस निवेदन पर इसमें इसके पश्चात् भाग 4 में विचार किया जा रहा है) यह निवेदन किया गया है कि किसी न्यायालय को किसी ऐसी प्रथा या रूढ़ि को, जो पापमय है, विधि की दृष्टि में अस्वीकार्य घोषित करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए । याचियों द्वारा दृढ़तापूर्वक यह दलील भी दी गई कि जो धर्मविरोधी है, वह मुस्लिम "स्वीय विधि" -"शरीयत" का भाग कभी नहीं हो सकता । एक विद्वान् काउंसेल ने सुनवाई के अनुक्रम के दौरान जिस रीति में इस प्रतिपादना को अभिव्यक्त किया है वह रुचिकर थी । इसलिए, हम उस निवेदन को ठीक उसी रीति में अभिलिखित कर सकते हैं जिसमें वह किया गया था । विद्वान् काउंसेल ने न्यायपीठ के अंतःकरण को उद्वेलित करने के लिए निवेदन किया कि "यदि कोई बात ईश्वर की दृष्टि में पापमय या घृणित है तो क्या मनुष्य द्वारा बनाई गई कोई भी विधि उसे विधिमान्य ठहरा सकती है ।" हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सुझाव यह था कि "तलाक-ए-बिद्दत" का कोई धार्मिक आधार नहीं है और इसलिए इस प्रथा पर धार्मिक प्रथा के रूप में विचार किए जाने की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है । याचियों की ओर से इस न्यायालय की सहायता करने वाला एक गैर पेशेवर व्यक्ति यह अभिकथित करते हुए इस सीमा तक चला गया कि इस तथ्य का भय कि पत्नी को उसकी ससुराल से किसी भी समय निकाला जा सकता है, विवाह की

संपूर्ण अवधि के दौरान वैवाहिक गठबंधन के ऊपर लटकने वाली एक तलवार के समान है । यह निवेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" का भय पत्नी के लिए निरंतर मानसिक उत्पीड़न का मामला है । हमें यह बताया गया कि इस प्रथा के घृणित होने की सीमा क्या है, इसे पूर्वोक्त स्थिति से देखा जा सकता है । यह निवेदन किया गया कि यह प्रथा निश्चित रूप से मिटा दिए जाने योग्य है और वैवाहिक जीवन की सम्पूर्ण अवधि के दौरान असुरक्षा का कारण बनी हुई है । यह बताया गया कि इस प्रथा ने कुरान के पवित्र और आदर्श आदेशों का अतिक्रमण किया है । इस बात पर विशेष बल दिया गया कि वे लोग भी, जो प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित हुए हैं, इस बात को स्वीकार करते हैं कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को मुस्लिमों के मध्य भी नियमित और पापमय माना गया है । तद्नुसार यह प्राख्यान किया गया कि इस बात को सभी लोगों द्वारा स्वीकार किया गया है कि यह प्रथा धर्मशास्त्र की दृष्टि में दूषित मानी थी । इस बात को भी स्वीकार किया गया कि इस प्रथा का आधुनिक समाज में कोई स्थान नहीं है । अतः, विद्वान् काउंसेल ने यह सुझाव दिया कि तीन तलाक को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाना चाहिए और उसे अंतिम रूप से समाप्त कर दिया जाना चाहिए ।

127. किसी सामान्य विवाद्यक का निश्चित रूप से समान्य उत्तर ही होता है । परस्पर विरोधी पक्षों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा चाहे जो कुछ कथित किया गया है, दो विवाद्यकों के संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता । प्रथम यह कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा उमर के जमाने से, जो लगभग 1400 वर्ष पूर्व है, प्रचलन में रही है । द्वितीय, यह कि प्रत्येक विद्वान् काउंसेल ने इस बात को ध्यान में रखे बिना कि उन्होंने किस पक्ष (याचियों का या प्रत्यर्थियों का) का प्रतिनिधित्व किया है, एक स्वर में स्वीकार किया है कि यद्यपि "तलाक-ए-बिद्दत" धर्मशास्त्र की दृष्टि में दूषित है, फिर भी इसे विधि की दृष्टि में उपयुक्त माना गया है । याचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी विद्वान् काउंसेल भी इस बाबत एकमत थे कि "तलाक-ए-बिद्दत" को विधि की दृष्टि में विधिमान्य प्रथा के रूप में स्वीकार किया गया था । इस कारणवश हमारे लिए इस प्रथा को मात्र याचियों के कहने पर केवल इस कारण विधि की दृष्टि से अविधिमान्य अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है क्योंकि इसे धर्मशास्त्र में दूषित समझा जाता है ।

III. क्या 'तलाक-ए-बिद्दत' की प्रथा 'हदीसों' द्वारा अनुमोदित/ अननुमोदित ?

128. हमने इस मामले पर विचार-विमर्श आरंभ करते समय यह

निष्कर्ष निकाला था कि **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी काउंसिल द्वारा दिए गए निर्णय पर **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, गुवाहाटी उच्च न्यायालय की एकल न्यायाधीश द्वारा, **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इसी उच्च न्यायालय अर्थात् गुवाहाटी उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा, **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, दिल्ली उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा और अंततः **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में, केरल उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय को सम्मिलित करते हुए विभिन्न उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों को ध्यान में रखते हुए, पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है ।

129. यद्यपि, यह अत्यधिक महत्व की बात नहीं है और इसे सुसंगत विचारण कभी भी नहीं माना जा सकता, फिर भी इस बात पर विचार किए जाने की आवश्यकता है कि प्रत्येक न्यायाधीश ; जिसने ऊपरनिर्दिष्ट उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों को लिखा, मुस्लिम धर्म का पालन करने वाले थे । वे हनाफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिम थे । अपने धर्म की बाबत उनकी समझ को इस्लाम धर्म से बाहर के किसी व्यक्ति का मत नहीं माना जा सकता । ऊपर निर्दिष्ट चारों निर्णयों में उच्च न्यायालय ने उनके द्वारा निकाले गए अंतिम निष्कर्षों के समर्थन में और उनकी अनुपूर्ति में हदीसों का अवलंब लिया । निश्चित तौर पर इस बाबत किसी प्रकार के संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि वे हदीसें, जिनका अवलंब उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय पारित किए जाने के प्रयोजनार्थ लिया गया, विधिमान्य रूप से उस स्थिति की पुष्टि करती है जिन्हें "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में निर्दिष्ट किया गया है, तो हमारे द्वारा उसके विपरीत कोई मत अभिलिखित किए जाने का कोई कारण नहीं है । यह ऊपर कथित पृष्ठभूमि के कारणवश है कि हम उन हदीसों का परीक्षण करने के लिए अग्रसर हुए जिनका अवलंब परस्पर विरोधी पक्षों की ओर से उपस्थित विद्वान् काउंसेलों द्वारा उनके अपने-अपने दावों के समर्थन में लिया गया ।

130. अनेक विद्वान् काउंसेलों ने, जो याचियों के इस दावे के समर्थन में उपस्थित हुए कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा गैर इस्लामिक है और इस न्यायालय को उसे उसी प्रकार घोषित कर देना चाहिए, स्थिति को सिद्ध करने के प्रयोजनार्थ हमारा ध्यान "हदीसों" के एक समुच्य की ओर आकर्षित किया । याचियों की ओर से किए गए प्राख्यानों का विरोध "हदीसों" के एक अन्य समुच्चय का अवलंब लेकर किया गया । हम उनका

आधार लेते हुए एक ठोस निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करेंगे कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" हदीसों द्वारा मान्यता प्राप्त और समर्थित था या नहीं ।

131. सर्वप्रथम, हम ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री अमित सिंह चड्ढा द्वारा किए गए निवेदनों को निर्दिष्ट करेंगे जिन्होंने उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए चार निर्णयों में "हदीसों" को श्रमसाध्यतापूर्वक निर्दिष्ट किया । (विवरण के लिए भाग 6 "तलाक-ए-बिद्दत" विषय पर न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) । जहां तक **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का संबंध है, संपूर्ण विचारणाओं को ऊपर पैरा 31 में वर्णित किया गया है । इसी प्रकार से **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले के संदर्भ में विचारण को पैरा 32 में अभिलिखित किया गया है । **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए निर्णय पर पैरा 33 में विचार किया गया है और अंततः, **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले का अर्थ, चुनौती, विचारणा और निष्कर्ष को सम्मिलित करते हुए ऊपर पैरा 34 में निकाला गया है । संक्षिप्तता के कारण उपर्युक्त सभी हदीसों को दूसरी कार अभिलिखित करना आवश्यक नहीं है । अतः, ऊपर निर्दिष्ट पैराग्राफों को याचियों की ओर से अभिव्यक्त प्रथम आधार के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है जो उनके इस दावे का आधार है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को हनाफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिमों को सम्मिलित करते हुए मुस्लिमों के मध्य "स्वीय विधि" के मामले के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वास्तव में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह प्राख्यान किया कि उच्च न्यायालयों द्वारा अभिव्यक्त स्थिति को इस न्यायालय द्वारा **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अनुमोदित कर दिया गया था ।

132. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री आनंद ग्रोवर ने चारों निर्णयों (गुवाहाटी उच्च न्यायालय के दो, दिल्ली उच्च न्यायालय का एक और केरल उच्च न्यायालय का एक) में अभिव्यक्त स्थिति को दोहराया और उनकी पुनः पुष्टि याचियों के दावों को स्वीकार किए जाने और उन्हें पूर्णतया न्यायोचित ठहराने के लिए अपने निवेदनों पर जोर देने के प्रयोजनार्थ की । यह अत्यधिक दिलचस्प है कि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उन हदीसों पर दृढ़तापूर्वक आक्रमण किया जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया है । उन्होंने उन हदीसों की, जिनका अवलंब प्रत्यर्थियों द्वारा लिया गया है, सत्यता को अस्वीकार किए जाने के प्रयोजनार्थ दलील दी कि अब यह स्थिरीकृत हो चुका है कि विभिन्न "हदीसों" की विश्वसनीयता और/या प्रमाणिकता की विभिन्न श्रेणियां हैं ।

सर दिन्शाव फर्दुंजी मुल्ला (लेक्सिस नेक्सिस, बटरवर्थस वाधवा, नागपुर, 20वां संस्करण) द्वारा लिखित प्रिंसिपल्स ऑफ मोहम्मडन लॉ को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी गई कि वे "हदीसें", जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया (जिन्हें पृथक् रूप से निर्दिष्ट किया जाएगा) को बहुत पहले पैगम्बर मुहम्मद के जमाने में ही अमान्य कर दिया गया था । यह स्पष्ट किया गया कि बाद में अभिलिखित की गई "हदीसें" अधिक विश्वसनीय नहीं थीं, उनमें तोड़-मरोड़ की संभावना थी जिसके कारण वे अविश्वसनीय हो गई थीं । यह दलील दी गई कि उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए चार निर्णयों में जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया है, वे वास्तव में विश्वसनीय "हदीसें" थीं चूंकि वे ऊपर अभिव्यक्त किसी भी शैथिल्य से ग्रसित नहीं थीं । उपर्युक्त के अतिरिक्त, विद्वान् ज्येष्ठ कांउसेल ने हमारा ध्यान सुनान बयहाकी 7/547 की ओर आकर्षित किया जिसे ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से निर्दिष्ट किया गया था जिससे की वे यह दलील दे सकें कि उन्हें पैगम्बर मुहम्मद के जमाने में ही अमान्य कर दिया गया था । उपर्युक्त के विपरीत, यह निवेदन किया गया कि बुखारी की "हदीसें" (जिन्हें दारुस्सलाम, सऊदी अरब द्वारा प्रकाशित किया गया) और जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया, स्पष्ट रूप से तोड़-मरोड़ के प्रकट उदाहरण हैं । इसके अतिरिक्त, यह निवेदन किया गया कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड द्वारा जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया, वे अल बुखारी हदीसों में नहीं पाई गईं । अतः, यह निवेदन किया गया कि ऊपर निर्दिष्ट अलग-अलग निर्णयों में जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया, उनके अलावा "हदीसों" का अवलंब लिया जाना असुरक्षित होगा । (विवरण के लिए पैराग्राफ 42 को निर्दिष्ट करें)

133. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह प्राख्यान भी किया कि शिया मुस्लिमों का ऐतिहासिक रूप से यह विश्वास है कि पैगम्बर, प्रथम खलीफा अबू बकर और द्वितीय खलीफा उमर के समय के दौरान तीन बार लगातार उद्बोधनों द्वारा "तलाक" की उद्घोषणा को एक उद्घोषणा माना जाता था (इस संबंध में "साहिह मुस्लिम" को निर्दिष्ट किया गया जिसका संकल्ना अल हाफिज जकीउद्दीन अब्दुल अजीम अल मुन्धिरी द्वारा किया गया और प्रकाशन दारुस्सलाम द्वारा किया गया) विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अल हलाल वल हरम फिल इस्लाम (संस्करण अगस्त, 2009) द्वारा लिखित "द लॉफुल एंड द प्रोहिबिटेड इन इस्लाम" का भी अवलंब लिया । यह दलील दी गई कि हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रतिलिपि की उत्पत्ति मिश्र में हुई थी और

आगे इस बात पर जोर दिया कि उसे असली माने जाते और विवाद के संबंध में इसका लागू होना स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि मिश्र में मुख्यतः हनफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिमों का शासन था । यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त प्रकाशन में तुरंत तीन तलाक की प्रथा को पापमय माना गया है । तत्पश्चात्, मौलाना वहीदुद्दीन खान द्वारा लिखित "वूमेन इन इस्लामिक शरिया" (जिसे गुडवर्ड बुक्स द्वारा प्रकाशित किया गया और 2014 में पुनः मुद्रित किया गया) को निर्दिष्ट किया गया जिसमें इस बात को ध्यान में न रखते हुए की "तलाक" शब्द की उद्घोषणा कितनी बार की गई (यदि एक ही समय और एक ही अवसर पर की गई), इसे फतह अल बारी 9/27 में इमाम अबू दाउद की "हदीस" के अनुसार "तलाक" की एकल उद्घोषणा माना गया । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त हदीस पर दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायतः विचार किया गया । इसके अलावा, प्रो. (डा.) ए. रहमान द्वारा "मैरिज एंड फॅमिली लाइफ इन इस्लाम" (एडम पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2013 संस्करण) को निर्दिष्ट किया गया जिसमें एक हनाफी मुस्लिम विद्वान् का अवलंब लेते हुए यह मत व्यक्त किया गया कि तीन तलाक कुरान की आयातों के अनुकूल नहीं है । आजमगढ़ के अल्लामाह शिब्लिनु मणि, जिन्होंने 19वीं शताब्दी में शिबली महाविद्यालय की स्थापना की थी, द्वारा लिखित "इमाम अबू हनीफा – लाइफ एंड वर्क" का भी अवलंब लिया गया । एक विख्यात हनाफी मुस्लिम विद्वान् का अवलंब लेते हुए इस बात की पुष्टि की गई कि अबू हनीफा ने स्वयं घोषित किया था कि एक ही समय में तीन तलाक दिया जाना मना है और जो कोई भी ऐसा करेगा, वह पापी होगा (विवरण के लिए पैराग्राफ 42 को निर्दिष्ट करें) "हदीसें" के रूप में उपलब्ध पूर्वोक्त लेख के आधार पर यह निवेदन किया गया कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा अपने अभिवचनों में अंगीकृत की गई स्थिति बिल्कुल ही अस्वीकार्य है और इसे अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए । साथ ही इस न्यायालय द्वारा ऊपर निर्दिष्ट चारों उच्च न्यायालयों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को संविधान के अनुच्छेद 141 के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर विधिमान्य विनिर्धारण घोषित किया जाना चाहिए ।

134. ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से उपस्थित होते हुए श्री कपिल सिब्बल ने याचियों की ओर से किए गए निवेदनों का विरोध किया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने सर्वप्रथम कुरान की आयातों का अवलंब लिया । कुरान, अल-हश्र 59:71; कुरान अल-अनफाल 8:20;

कुरान, अल-निसा 4:64; कुरान अल-अनफाल 8:13; कुरान अल-एहजाब 33:36; और कुरान, अल-निसा 4:115 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैरा 86 को निर्दिष्ट करें) को निर्दिष्ट किया गया । तीन तलाक के विषय में विशेष रूप से और यह प्रदर्शित किए जाने के प्रयोजनार्थ कि वह कुरान की आयातों के अनुकूल नहीं है, न्यायालय का ध्यान कुरान, अल-बकरा 2:229; कुरान, अल बकरा 2:229 और 230; कुरान, अल-बकरा 2:232; और कुरान अल-तलाक 65:1 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैराग्राफ 86 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया गया । पूर्वोक्त के अतिरिक्त, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस न्यायालय का ध्यान "तलाक" के संदर्भ में पैगम्बर मुहम्मद के कथनों की ओर भी आकर्षित किया । इस संबंध में, न्यायालय का ध्यान दराकुतनी, किताब अल-तलाक व अल-खुला व अल-एयला, 5/23, हदीस संख्या ; 3992; दराकुतनी, 5/81; किताब अल-तलाक व अल ख्लाव व अल-एयला, 5/23, हदीस संख्या : 4020; सुनान बयहाकी, 7/547, हदीस संख्या : 14955 ; अल-सुनान अल-कुबरालिल बयहाकी, हदीस संख्या : 14492; और साही अल-बुखारी किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 5259 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैरा 86 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया गया । विद्वान् ज्येष्ठ कउंसेल ने ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड का प्रतिनिधित्व करते हुए "तलाक" के विषय पर "हदीसों" का भी अवलंब लिया और हमारा ध्यान सुनान अबू दाउद, बद कराहिया अल-तलाक, हदीस संख्या 2178; मुसंनाफ इब्न अबी शायबह, बब मन कारा अन यातलिक अल रजल इमराताहू थलाथा फीमकद वहादी व अजाजा धालिका अलायही, हदीस संख्या 18089; (मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, बब फी अल रजल इमराताहू मिआता अव अलफा, हदीस संख्या: 18098; मुसांनाफ अब्द अल-रज्जाक, किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 11340; मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 18091; मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, हदीस संख्या 18087; अल-मुहाध्धब, 4/305; और बुखारी, 3/402 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैराग्राफ 87 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया ।

135. जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने कुरान और हदीसों में स्पष्ट की गई स्थिति पर विचारोपरांत हदीसों, जिनका अवलंब उच्च न्यायालयों द्वारा सभी चार निर्णयों में लिया गया है, की यथातथ्यता को नकारने का प्रयास किया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस संबंध में इस न्यायालय के विचारणार्थ निम्नलिखित संकलन को प्रस्तुत किया :–

1. **जियाउद्दीन अहमद वाला मामला** (उपर्युक्त)

क्रम संख्या	**संदर्भ**	**टिप्पणी**
(i)	मौलाना मोहम्मद अली (जिन्हें निर्णय में पैरा संख्या 7, 11, 12 और 13 में निर्दिष्ट किया गया है	वह कादिआनी हैं । मिर्जा गुलाम अहमद (कादिआनी मत के संस्थापक) ने पैगम्बर मोहम्मद के पश्चात् स्वयं को पैगम्बर घोषित कर दिया था और इसी कारणवश सभी मुस्लिम कादिआनी सम्प्रदाय को इस्लामिक समुदाय का भाग नहीं मानते है ।

2. **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	**संदर्भ**	**टिप्पणी**
(i)		इस निर्णय की नजीरें जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवरा बेगम वाले ऊपर उल्लिखित निर्णय की नजीरों के समरूप हैं ।

3. **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	**संदर्भ**	**टिप्पणी**
(i)	मुल्ला (जिन्हें निर्णय के पृष्ठ 153 पर पाद-टिप्पण में निर्दिष्ट किया गया है)	इस प्रतिपादना का अनुमोदन किया गया है कि तीन तलाक पापमय है, फिर भी अप्रतिसंहरणीय तलाक के रूप में प्रभावी है ।

4. **नजीर** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	**संदर्भ**	**टिप्पणी**
(i)	बशीर अहमद मोहियदीन	उन्होंने कुरान पर एक टीका

	(जिन्हें निर्णय के पैरा 1 और 6 में निर्दिष्ट किया गया है)	(कमेंटरी) लिखी जिसका शीर्षक, कुरान : द लिविंग ट्रुथ है, तथापि, इस विनिश्चय में जिस उद्धरण का अवलंब लिया गया है, उसमें तीन तलाक की चर्चा नहीं की गई है ।
(ii)	इब्न कथीर (जिन्हें निर्णय के पैरा 1 और 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने कुरान पर एक टीका (कमेंटरी) लिखी जिसका शीर्षक है, तफसीर इब्न कथीर । उनका यह मत है कि एक ही बार में तीन बार ("तलाक" की) उद्घोषणा विधिविरुद्ध है । यह निवेदन किया गया कि वे अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय से संबंधित थे जो तीन तलाक को मान्यता प्रदान नहीं करता ।
(iii)	डा. ताहिर महमूद (जिन्हें निर्णय के पैरा 6 में निर्दिष्ट किया गया है)	वे दिल्ली विश्वविद्यालय में विधि के प्रवक्ता थे । उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक "भारत और विदेश में मुस्लिम विधि" है और साथ ही उन्होंने अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं । अन्य मुस्लिम विद्वानों को निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि यह एक भ्रांत धारणा है कि तीन बार "तलाक" को तीन क्रमागत माहों में उद्घोषित किया जाना है, यह कोई सामान्य नियम नहीं है चूंकि तीनों उद्घोषणाएं तब की जानी हैं जब पत्नी की माहवारी न चल रही हो, जिस कारणवश स्पष्टतः लगभग तीन माह अपेक्षित होंगे । यह निवेदन किया गया है कि

2017(8) eILR(PAT) SC 110

		उक्त उद्धरण असुसंगत है, संदर्भ से बाहर का है चूंकि इसके विनिर्दिष्ट रूप से तीन तलाक की विधिमान्यता पर विचार नहीं किया गया है ।
(iv)	शेख युसूफ अल-करदावी (जिन्हें निर्णय के पैरा 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने तीन तलाक को ईश्वर द्वारा बनाई गई विधि के विरुद्ध माना है । यह निवेदन किया गया कि वह अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी थे ।
(v)	महमूद रिदा मुराद (जिन्हें निर्णय के पैरा 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक है, इस्लामिक डाइजेस्ट आफ अकीदह एंड फिकह । उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि तीन तलाक पैगम्बर द्वारा दी गई शिक्षा के अनुरूप में नहीं है । वह अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी हैं ।
(vi)	सईद अब्दुल आला मौदूदी (जिन्हें निर्णय के पैरा 11 में निर्दिष्ट किया गया है)	वह हनाफी संप्रदाय के विद्वान् हैं । यद्यपि निर्णय में उद्धृत लेखांश यह उपदर्शित करते हैं कि उनका मत यह था कि तीनों उद्‌घोषणाओं को आशय के आधार पर एक उद्‌घोषणा माना जा सकता है । तथापि, उन्होंने बाद में अपने मत में परिवर्तन किया और यह मत व्यक्त किया कि तीन तलाक अंतिम और अप्रतिसंहरणीय है ।
(vii)	डा. अबू अमीनाह बिलाल फिलिप्स (जिन्हें निर्णय के पैरा में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने "एवोल्यूशन ऑफ फिकह" नामक किताब लिखी है । उन्होंने कथित किया है कि खलीफा

2017(8) eILR(PAT) SC 110

		उमर ने "तलाक" के दुरुपयोग को हतोत्साहित करने के लिए तीन तलाक को मान्यता प्रदान की थी । वे अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी हैं ।
(viii)	मुहम्मद हाशिम कमाली (जिन्हें निर्णय के पैरा 23 में निर्दिष्ट किया गया है)	उनका मत यह था कि खलीफा उमर ने "तलाक" के दुरुपयोग को हतोत्साहित करने के लिए तीन तलाक को मान्यता प्रदान की थी । वे विधि के प्रवक्ता थे ।

आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से यह निवेदन किया गया कि उन लोगों के मत, जो सुन्नी नहीं हैं, और उन लोगों के मत, जो हनाफी संप्रदाय से संबंधित नहीं हैं, का अवलंब विधिमान्यतः नहीं लिया जा सकता । यह निवेदन किया गया कि मौलाना मोहम्मद अली का अवलंब लेना अनुचित है चूंकि वे कादिआनी है और मुस्लिम कादिआनी संप्रदाय को इस्लामिक समुदाय का भाग नहीं मानते हैं । इसी प्रकार, यह निवेदन किया गया कि बशीर अहमद मोहियदीन के प्रति निर्देश करना अनुचित है चूंकि उनके द्वारा लिखी गई टीका (कमेंटरी) "तलाक-ए-बिद्दत" की संकल्पना पर विचार नहीं करती । तफसीर इब्न कथीर के प्रति किया गया निर्देश अनुचित माना गया चूंकि उनके संबंध अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय से था, जो तीन तलाक को स्वीकार नहीं करता । यह निवेदन किया गया कि डा. ताहिर महमूद दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि के प्रवक्ता थे और उनके विचारों को उनके व्यक्तिगत विचार माना जाना चाहिए और उनका उन्नयन हदीसों की श्रेणी तक नहीं किया जाना चाहिए । यह दलील दी गई कि शेख युसूफ अल-कारादावी अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी थे और इसलिए उनके मतों पर विचार नहीं किया जा सकता था । इसी प्रकार, यह निवेदन किया गया कि महमुद रिदा मुराद अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय के अनुयायी थे । यह दलील दी गई कि सय्यद अब्दुल अल मौदूदी के संदर्भ का अवलंब अनुचित रूप से लिया गया है क्योंकि उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचार यह थे कि तलाक की तीन उद्घोषणाओं को पति के "आशय" पर निर्भर करते हुए माना जा सकता है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार यह स्थिति उस प्रतिपादना का समर्थन नहीं करती जिसे याचियों की ओर से प्रस्तुत किया गया है क्योंकि यदि "आशय" "तीन"

2017(8) eILR(PAT) SC 110

उद्‌घोषणाएं करने का था, तो इससे विधिमान्य "तलाक" गठित हो जाएगा । अबू अमीनाह बिलाल फिलिप्स के संदर्भ में यह निवेदन किया गया कि वे भी अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय के अनुयायी थे । अंततः, मोहम्मद हाशिम कमाली के संदर्भ में यह दलील दी गई कि वह विधि के मात्र प्रवक्ता थे और उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके व्यक्तिगत विचार माने जाने चाहिए । तद्नुसार, यह प्राख्यान किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के संदर्भ में हनाफी संप्रदाय के प्रस्तावकों द्वारा अन्य सुन्नी मुस्लिम संप्रदायों के मतों को चालाकी से और वह भी शिया मुस्लिमों के विश्वास सहित स्थान देना उस संप्रदाय की न्यायसंगत समझ और प्रश्नगत प्रथा का स्पष्ट रूप से अतिक्रमण था ।

136. यहां उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से दी गई दलीलों के आधार पर इस बात पर बल देने की ईप्सा की गई कि धार्मिक पंथ को लागू मानकों से संबंधित ऐसे जटिल मुद्दों का अवधारण स्वयं समुदाय द्वारा ही किया जाए । विद्वान् काउंसेल ने इस न्यायालय को वर्तमान अवधारण के जंजाल में पड़ने के प्रति सचेत किया क्योंकि इस न्यायालय के पास इस मुद्दे पर विचार करने की विशेषज्ञता नहीं है ।

137. गंभीर विचार करने और पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा अवलंबित परस्पर प्रतिकूल "हदीथ" की परीक्षा करने पर हमारे पास ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से उपस्थित विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की दलील को स्वीकार करने और उनके काउंसेल की (अवलंबित "हदीथ" के आधार पर) यह अवधारण करने कि मुस्लिम स्वीय विधि – शरीयत के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" से तीन-तलाक गठित होता है या नहीं, के जंजाल में न फंसने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं है । वस्तुतः, याचियों की ओर से उपस्थित श्री सलमान खुर्शीद ने भी ("तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को खंडित करने की ईप्सा करते हुए) इंगित किया था कि मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" की बारीकियों का निर्वचन करने की न्यायालय की कोई भूमिका नहीं है । यह इंगित किया गया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन पक्षकारों के बीच परस्पर विरोध के समाधान के लिए धार्मिक प्रधान - इमाम को कुरान और "हदीथ" में व्यक्त उपदेशों को स्पष्ट करने के लिए बुलाया जाता है । यह निवेदन किया गया कि अकेले इमाम को ही मुस्लिमों के बीच धार्मिक विरोध का समाधान करने का प्राधिकार है । यह निवेदन किया गया कि इमाम ऐसा न केवल अपने निजी विचारों के आधार पर

बल्कि कुरान और हदीथ की आयतों का अवलंब लेकर और उपलब्ध अन्य विधिशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर करेगा और तत्पश्चात् सही निर्वचन करेगा । श्री सलमान खुर्शीद, विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता ने इस न्यायालय को भी सतर्क किया कि आस्था की सही जटिलताओं का अवधारण करने की उसकी भूमिका नहीं है ।

138. ए. आई. एम. पी. एल. बी. का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् काउंसेल की ओर से दिए गए उपर्युक्त सभी निवेदन महत्वहीन हो जाएंगे यदि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को "तलाक-ए-बिद्दत" की बाबत विधिक स्थिति घोषित करते हुए स्वीकार किया जाए । उपर्युक्त निर्णय की अंतर्वस्तु पर गंभीर रूप से विचार करते हुए, यह अभिलिखित किए जाने की आवश्यकता है कि इस न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के मुद्दे पर चर्चा नहीं की । प्रतिपादना के अनुकूल या विरुद्ध किसी निवेदन पर ध्यान नहीं दिया गया । अतः, विषय पर अभिलिखित मताभिव्यक्तियों को मामले में विनिश्चयाधार नहीं माना जा सकता । वस्तुतः, "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के प्रश्न पर इस न्यायालय के समक्ष कभी चर्चा नहीं की गई । यह पहला अवसर है कि परस्पर प्रतिकूल निवेदनों के पश्चात् विषय पर विचार किया जा रहा है । फिर भी उपर्युक्त निर्णय में न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अधीन भरणपोषण से संबंधित विवाद का न्याय-निर्णयन करना था । पति ने भरणपोषण के दायित्व से बचने के लिए यह अभिवचन किया कि उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया । इस न्यायालय ने उपर्युक्त निर्णय में तथ्यात्मक मुद्दे का विनिश्चय इस प्रकार किया :—

> "15. प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा अपने लिखित कथन में लिए गए अभिवाक् पर फिर से ध्यान दिया जाए । प्रत्यर्थी सं. 2 ने अस्पष्टतः अपीलार्थी पत्नी के विरुद्ध कतिपय सामान्य अभियोग लगाए और यह कहा कि विवाह होने के बाद से ही वह अपनी पत्नी को बहुत तेज, चालाक और शरारतपूर्ण पाया । कुटुम्ब के प्रति अपमान करने का पत्नी पर अभियोग लगाते हुए प्रत्यर्थी सं. 2 ने पैरा 12 द्वारा आगे यह कहा (अंग्रेजी में अनुवाद) - 'उत्तर देने वाले प्रत्यर्थी ने याची पत्नी की अशोभनीय ऐसी सभी क्रियाकलापों से परेशान होकर अपनी पत्नी को 11 जुलाई, 1987 को तलाक दे दिया ।' अभिकथित तलाक की विशिष्टियों का न तो अभिकथन किया गया है न ही ऐसी

परिस्थितियां जिनके अधीन और ऐसे व्यक्ति यदि कोई हों जिनकी उपस्थिति में तलाक की घोषणा की गई, का उल्लेख किया गया । ऐसी खामी विचारण के दौरान भी बनी रही और प्रत्यर्थी सं. 2 ने स्वयं की परीक्षा के सिवाय तारीख 11 जुलाई, 1987 को उसके द्वारा दिए गए उक्त तलाक के सबूत में कोई साक्ष्य पेश नहीं किया । तलाक के औचित्य में कोई कारण नहीं बताया गया है और तलाक के पहले सुलह करने के प्रयास का कोई अभिवाक् या सबूत नहीं दिया गया ।

16. हमारी यह भी राय है कि प्रभावी होने वाले तलाक को ही घोषित किया जाए । "घोषणा" पद का अभिप्राय घोषित करना, औपचारिक रूप से उपचारित करना, अलंकारिक रूप से कहना, प्रकट करना, उच्चारण करना, व्यक्त करना है (चैम्बर 20वीं शताब्दी डिक्शनरी, नया संस्करण, पृष्ठ 1030 देखें) । तारीख 11 जुलाई, 1987 को तलाक किए जाने का कोई सबूत नहीं है । उच्च न्यायालय ने किसे तलाक अभिनिर्धारित किया है, यह लिखित कथन में किया गया अभिवाक् और तारीख 5 दिसंबर, 1999 को लिखित कथन की प्रति परिदत्त करते हुए पत्नी को इसकी संसूचना है । हमारा यह स्पष्ट विचार है कि पहले किसी समय उद्घोषित किए गए तलाक का लिखित कथन में किए गए मात्र अभिवाक् को पत्नी को लिखित कथन की प्रति के परिदान की तारीख को तलाक के प्रभावी होने के रूप में स्वयं नहीं माना जा सकता । प्रत्यर्थी सं. 2 को साक्ष्य पेश करना चाहिए और तारीख 11 जुलाई, 1987 को तलाक की उद्घोषणा साबित करना चाहिए और यदि वह लिखित कथन में किए गए अभिवाक् को साबित करने में असफल रहता है तो अभिवाक् को असफल समझा जाना चाहिए । हम, मुल्ला और डा. ताहिर महमूद द्वारा क्रमशः अपने समीक्षात्मक पुस्तकों में निर्दिष्ट किए गए विनिश्चित मामलों में उद्घोषित मत से सहमत नहीं हैं जिसमें लिखित कथन में यद्यपि असंपोषित किए गए पूर्व तलाक के मात्र अभिवाक् को लिखित कथन के फाइल करने की तारीख से वैवाहिक संबंध समाप्त करने के लिए तलाक के सबूत के रूप में स्वीकार किया गया है । लिखित कथन में किए गए पूर्व तलाक के अभिवाक् को न्यायालय में लिखित कथन फाइल करने की तारीख के पश्चात् पत्नी को उसकी प्रति के परिदान से पति द्वारा तलाक की घोषणा के रूप में कतई नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार, प्रत्यर्थी सं. 2 के स्वतः कथन वाले शपथपत्र तारीख 21 अगस्त, 1988 जो परस्पर पक्षकार न

2017(8) eILR(PAT) SC 110

होते हुए किसी पूर्व न्यायिक कार्यवाही में फाइल की गई थी, को साक्ष्य में सुसंगत और किसी मूल्य का होने के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता ।

17. पूर्वगामी कारणों से, अपील मंजूर की जाती है । न तो पक्षकारों के बीच हुआ विवाह तारीख 5 दिसंबर, 1990 को विघटित होता है और न ही उस तारीख को प्रत्यर्थी सं. 2 का भरणपोषण अदा करने का दायित्व समाप्त होता है । प्रत्यर्थी सं. 2 विधि के अनुसार दायित्व समाप्त होने तक भरणपोषण के संदाय का दायी बना रहेगा । इस अपील की लागत का खर्च प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा उठाया जाएगा ।"

"तलाक-ए-बिद्दत"- तीन तलाक विधि की दृष्टि से विधिमान्य नहीं था, इस कारण नहीं बल्कि इस कारण कि पति तलाक के तथ्य को साबित करने में समर्थ नहीं था, भरणपोषण के भुगतान का दायित्व स्वीकार किया गया । अतः **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के बल पर विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए निवेदन को स्वीकार किया जाना संभव नहीं है ।

139. मुद्दे की समग्रता पर गंभीर विचार करते हुए, हम श्री कपिल सिब्बल और श्री सलमान खुर्शीद, ज्येष्ठ अधिवक्ता की सलाह स्वीकार करते हैं । याचियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंबित चार निर्णयों में व्यक्त राय और परस्पर विरोधी पक्षकारों द्वारा अवलंबित कुरान की आयतों और हदीथ के बावजूद प्रस्तुत मुद्दे पर अवधारण करने से विरत रहना उचित होगा । हम वस्तुतः स्वयं इस कार्य के लिए समर्थ नहीं पाते है । हमने यह अनुक्रम, इसलिए चुना क्योंकि हमारा यह समाधान है कि संविवाद का अंतिम रूप से न्यायनिर्णयन, विचार के इस भाग में की गई प्रतिपादना के उत्तर के अभाव में भी किया जा सकता है ।

IV. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा मुस्लिमों के लिए आस्था का विषय है ? यदि हां, तो क्या यह उनकी "स्वीय विधि" का घटक है ?

140. हमारे विचार के दो पूर्ववर्ती भागों में, हमने "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को अननुमोदित और अमान्य नहीं ठहराया है । तथापि, हमारे लिए याचियों के अनुमोदन को स्वीकार करना संभव हो सकेगा यदि यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों की "स्वीय विधि" का घटक है । और हो सकता है, यह मात्र रूढ़ि या प्रथा हो । अब हम उपर्युक्त उल्लिखित वाद बिंदु का उत्तर निकालने का प्रयास करते हैं ।

141. ऐतिहासिक तथ्य के रूप में, "तलाक-ए-बिद्दत" को उमायद शासकों के निर्देश पर 1400 वर्ष से अधिक पूर्व मुस्लिम परंपरा में प्रचलित माना जाता है । निश्चित रूप से इसका पता खलिफा उमर - पैगंबर मुहम्मद के वरिष्ठ साथी की अवधि लगाया जा सकता है । खलिफा उमर 23 अगस्त, 634 को दूसरे खलिफा के रूप में अबू बकर (632-634) के उत्तरवर्ती थे । यदि यह स्थिति सही है तो "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को कुछ 1400 वर्ष पूर्व का उद्‌भव होना निश्चित रूप से कहा जा सकता है । तथ्यतः, श्री कपिल सिब्बल ने बार-बार उपर्युक्त तथ्यात्मक पहलू पर बल दिया और याची के वाद का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी विद्वान् काउंसेल (और प्राइवेट व्यक्ति) द्वारा इसका खंडन नहीं किया गया ।

142. यह तथ्य कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा काफी व्याप्त है, को विवादित नहीं किया जा सकता । वर्तमान निर्णय के भाग 5 में - विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का उत्सादन संपूर्ण विश्व के इस्लामिक और गैर-इस्लामिक राज्यों में किया गया, हमने अरब राज्यों - अलगारिया, मिश्र, इराक, जार्डन, कुवैत, लेबनान, लिबिया, मोरक्को, सूडान, सीरिया, ट्यूनिशिया, यूनाइटेड अरब अमीरात, यमन के विधानों पर विचार किया ; हमने दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्यों - इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलिपिन्स के विधानों पर भी विचार किया ; हमने उप-महाद्वीपीय राज्यों - पाकिस्तान और बंग्लादेश के विधानों पर अतिरिक्त रूप से विचार किया । इन सभी देशों ने एक या अन्य प्ररूप में "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में विधान बनाए हैं । इन सभी विधानों से निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" इन राज्यों में मुस्लिमों के बीच व्याप्त प्रथा है । यदि यह ऐसा नहीं होता तो विषय पर विधान की अपेक्षा न होती । अतः, यह स्पष्ट है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा कतिपय क्षेत्रों तक सीमित नहीं है बल्कि काफी व्यापक है ।

143. हमने अपने परस्पर दलीलों को सिद्ध करने के लिए परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा दिए गए निवेदनों पर उनके द्वारा अवलंबित हदीथों को भी उद्धृत किया । सुसंगत हदीथों में इस्लामिक न्यायविदों के बीच चर्चा और विचार-विमर्श से यह प्रकट होता है कि तीन-तलाक की प्रथा निश्चित ही मुस्लिमों में प्रसिद्ध है चाहे यह अनियमित या पापपूर्ण माना जाता हो, यह बिल्कुल अन्य विषय है । सभी सहमत हैं कि चाहे अनुचित या अपवित्र माना जाता हो, फिर भी यह विधिसम्मत स्वीकार किया जाता है । मुस्लिम समुदाय में यह चर्चा और

विचार-विमर्श - सुनवाई के दौरान विवाद करने वालों द्वारा जैसा प्रस्तुत किया गया है और जैसा अनुमानतः विद्वान् व्यक्तियों के लेखों द्वारा उजागर किया गया है जो मीडिया में आया (कम से कम सुनवाई के दौरान), से इसके अस्तित्व के बारे में विचार प्रकट होता है । इन लेखों में केवल चर्चा इस्लामिक मूल्यों के साथ "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा से सुसंगति या अन्यथा के बारे में थी । यह नहीं कि प्रथा व्याप्त नहीं है । चालू चर्चा और वार्तालाप से और कुछ नहीं बल्कि यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि प्रथा अब भी व्यापकतः अभिभावी और प्रचलित है ।

144. यह तथ्य कि भारत में लगभग 90 प्रतिशत सुन्नी हनफी विचारधारा के हैं और वे तलाक के विधिमान्य रूप में "तलाक-ए-बिद्दत" को स्वीकार कर रहे हैं, भी विवाद का विषय नहीं है । यह तथ्य कि मुद्दे को उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक न्यायपीठ के समक्ष जोरदार रूप से पक्षपोषित किया जा रहा है । यह तथ्य कि काफी पहले वर्ष 1992 में **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल के निर्णय ने इस तथ्य के आधार पर वैवाहिक बंधन के पृथक्करण को अभिनिर्धारित किया कि पति द्वारा तीन बार कहा गया तलाक न केवल इसकी वास्तविकता को प्रदर्शित करता है बल्कि पक्षकारों के सिविल अधिकारों के अवधारण के लिए इसका प्रवर्तन भी करती है । अतः, यह स्पष्ट है कि हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों के बीच "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा अनंतकाल से काफी अधिक व्याप्त है । यह मुस्लिम जनसंख्या वाले देशों के मुस्लिमों के बीच काफी व्याप्त है । यद्यपि, यह ऐसे धार्मिक समुदाय के भीतर जिसमें प्रथा व्याप्त है, अधार्मिक माना जाता है फिर भी समुदाय इसे विधि की दृष्टि से विधिमान्य मानता है । इस प्रथा का अनुसरण करने वाले लोग अपने सिविल अधिकारों को उस पर सुलझाने की अनुज्ञा को स्वीकार करते हैं । "तलाक-ए-बिद्दत" भारत में मुस्लिमों के (जो हनफी विचार धारा के हैं) 90 प्रतिशत द्वारा अपनाई जाती है । भारत में मुस्लिम जनसंख्या 13 प्रतिशत से अधिक (लगभग 16 करोड़) है जिसमें से 4-5 करोड़ शिया हैं और शेष सुन्नी (लगभग 10 लाख अहमदियों के अलावा) - अधिकांशतः हनफी विचारधारा के हैं । अतः, यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि भारत में मुस्लिमों की काफी जनसंख्या अपने धार्मिक विश्वास - अपनी आस्था के रूप में - "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से अपने विवाह बंधन के पृथक्करण का अनुक्रम अपनाते हैं ।

145. हमारा यह समाधान हो गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा

हनफी विचारधारा के सुन्नी लोगों में - प्रश्नगत धार्मिक समुदाय का अभिन्न भाग मानी जाती है । हमारे समक्ष अन्यथा अभिलिखित करने का तनिक भी कारण नहीं है । हमारा यह मत है कि 'तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा ऐसे धार्मिक समुदाय जो इसका आचरण करती है, का अनुमोदन और मंजूरी प्राप्त है और इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि यह प्रथा उनकी स्वीय विधि का भाग है ।

V. क्या मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 उक्त विधान द्वारा विनियमित विषयों को कानूनी प्रास्थिति प्रदान करती है ?

146. "स्वीय विधि" को संवैधानिक संरक्षण है । यह संरक्षण संविधान के अनुच्छेद 25 के माध्यम से "स्वीय विधि" तक विस्तारित है । यह याद रखने की आवश्यकता है कि "स्वीय विधि" की महत्ता मूल अधिकार जैसी है । "स्वीय विधि" की इस महत्ता तक उत्थापन तब प्राप्त हुआ जब संविधान प्रवृत्त हुआ । यह संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 25 के शामिल किए जाने के कारण था । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक धार्मिक समुदाय की "स्वीय विधि" अनुच्छेद 25 द्वारा और इसके अधीन उपबंधित के सिवाय, आक्रमण और भंग से संरक्षित है ।

147. आगे, यह प्रदर्शित करते हुए, इस दलील पर विचार किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधिनियमन के पश्चात् शरीयत अधिनियम के अधीन आने वाले प्रश्न और विषय "स्वीय विधि" नहीं रह गए और "कानूनी विधि" में परिवर्तित हो गए । इस संदर्भ में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री इंदिरा जय सिंह और कुछ अन्य लोगों द्वारा अनुरोध किया गया कि शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् कम से कम ऐसे प्रश्न/विषय जिसके संदर्भ में विधान अधिनियमित किए गए थे, मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत से "स्वीय विधि" का टैग हट गया । जहां तक वर्तमान संविवाद का संबंध है, इतना ही ध्यान देना पर्याप्त है कि अधिनियमिति में शरीयत अधिनियम के अधीन आने वाले प्रश्नों/विषयों के साथ-साथ "..... तलाक सहित विवाह का विघटन...." सम्मिलित किया गया है और सुस्पष्टतः, जब पक्षकार मुस्लिम हैं तो तलाक के अंतर्गत "तलाक-ए-बिद्दत" सम्मिलित हैं । इंगित दलील का यह अर्थ निकाला जाना चाहिए कि शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् मुस्लिमों के बीच तलाक (और "तलाक-ए-बिद्दत") सहित विवाह का विघटन राज्य विधान के माध्यम से यथा विनियमित माना जाए ।

148. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल का यह निवेदन था कि भारत के

संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् राज्य की अधिनियमिति का भाग होने के कारण संविधान के प्रारंभ के ठीक पहले प्रवृत्त सभी विधियां इसके पश्चात् भी प्रवृत्त बनी रहेंगी । वर्तमान प्राख्यान के लिए संविधान के अनुच्छेद 372 का अवलंब लिया गया है । इस अवसर पर हम केवल यह कहेंगे कि यदि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा उठाई गई पहली प्रतिपादना सही है (कि तलाक सहित मुस्लिमों के बीच विवाह के विघटन का कानूनी रूप से विनियमन 1937 अधिनियम के पश्चात् किया गया), तो किए गए निवेदन के बाद वाले भाग को निःसंदेह परिशुद्धतः स्वीकार किया जाना चाहिए ।

149. हमने पहले ही शरीयत अधिनियम के सुसंगत उपबंधों (विस्तार के लिए मुस्लिम स्वीय विधि पर भाग 4 भारत का विधान निर्दिष्ट करें) का उल्लेख किया है । इसकी धारा 2 (उपर्युक्त पैरा 23 में उद्धृत) के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि निर्वसीयती उत्तराधिकार, संविदा या दान या "स्वीय विधि" के किसी अन्य उपबंध के अधीन विरासत से प्राप्त या अभिप्राप्त व्यक्तिगत संपत्ति सहित स्त्रियों की विशेष संपत्ति, विवाह, तलाक, ईला, जिहर, खुला और मुबारक सहित विवाह-विघटन, भरणपोषण, दहेज, संरक्षकता, दान, न्यास और न्यास संपत्ति और वक्फ के प्रश्न/विषय पर जहां पक्षकार मुस्लिम है, विनिश्चय का निर्धारण मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के आधार पर किया जाएगा । वर्तमान दलील के समर्थन में, याचियों का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् काउंसेल का यह निवेदन था कि तलाक ("तलाक-ए-बिद्दत") के प्रतिनिर्देश के साथ-साथ "विनिश्चय के न्यायादेश" का विनियमन, शरीयत अधिनियम के अनुसार किया जाना है तो (उपर्युक्त अधिनियमिति के पूर्व) कैसे "स्वीय विधि" कानूनी विधि में परिवर्तित हो गई । याचियों के विद्वान् काउंसेल के अनुसार यह काफी महत्वपूर्ण है कि शरीयत अधिनियम के पूर्व जिसे "स्वीय विधि" माना जाता था वह राज्य का अधिनियम हो गया । यह निवेदन किया गया कि राज्य अधिनियम होने के कारण इसे संविधान के भाग 3 मूल अधिकार की अपेक्षाओं का पालन करना चाहिए । यह इंगित किया गया कि यह अनुच्छेद 13(1) का अभिव्यक्त अधिदेश है जिसमें यह उपबंध है कि संविधान के प्रारंभ से ठीक पूर्व प्रवृत्त विधियां जहां तक वे संविधान के भाग 3 के उपबंधों से असंगत हैं ऐसी असंगतता तक शून्य मानी जाएंगी ।

150. पक्षपोषित किए जा रहे मुद्दे के समर्थन में यह निवेदन किया गया कि कोई "विनिश्चय का नियम" संविधान के भाग 3 का अतिक्रमणकारी नहीं हो सकता और शरीयत अधिनियम के अधीन आने

वाले प्रश्नों/विषयों पर "विनिश्चय का नियम" राज्य अवधारण के विषय समझे जाएंगे । तथापि, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि "स्वीय विधि" जो कुटुम्ब और प्राइवेट व्यक्ति (जहां राज्य की कोई भूमिका नहीं थी) के बीच विवादों के बारे में है, इस आधार पर चुनौती का विषय नहीं हो सकता कि वे संविधान के भाग 3 के मूल अधिकार का अतिक्रमण करते हैं । विद्वान् काउंसेल द्वारा दिया गया सामान्य तर्क यह था कि "विनिश्चय का नियम" में संपरिवर्तित हो गए मुस्लिमों के बीच भिन्न-भिन्न स्वीय विधियों से संबंधित सभी प्रश्नों को पक्षकारों के बीच प्राइवेट मामलों के रूप में अब नहीं समझा जा सकता और न ही वे "स्वीय विधि" के विषय माने जाएंगे । इसके अलावा उपर्युक्त स्थिति को पक्षपोषित करने के लिए अपनाया गया तर्क यह था कि यदि यह पूर्व स्थिति को परिवर्तित नहीं करता तो विधान (शरीयत अधिनियम) को लाने का क्या प्रयोजन था ।

151. इस उपधारणा पर कि "स्वीय विधि" का परिवर्तन "कानूनी विधि" में हो गया, याचियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने संविधान के अनुच्छेद 14, 15/21 के निष्कर्ष पर "तलाक-ए-बिद्दत" की संवैधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी थी ।

152. ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से उपस्थित विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री कपिल सिब्बल ने हमारा ध्यान विधान सभा की चर्चा, तदुपरि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 अधिनियमित किया गया (विस्तार के लिए पैरा 94 देखें) की ओर आकृष्ट किया । पूर्वोक्त चर्चा विशेषकर अब्दुल क्यूम (उत्तरी-पश्चिमी फ्रंटिय प्रांत का प्रतिनिधित्व कर रहे) के कथनों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, यह दलील दी गई कि निर्देशाधीन विधान का अधिनियमन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानूनी हैसियत देने के उद्देश्य से नहीं किया गया था । यह प्राख्यान किया गया कि उद्देश्य मात्र प्रथा और रूढ़ि के प्रभाव को नकारना था । यह इंगित किया गया कि यद्यपि मुस्लिमों को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के अधीन विनियमित किया जाना था फिर भी प्रतिकूलतः प्रथाओं और रूढ़ियों को अभिभावी प्रभाव प्रदान किए गए । इस विस्तार तक कि स्थानीय जनजातियों (स्थानीय ग्रामों के भी) की भी प्रथाओं और रूढ़ियों को न्यायिक अवधारण के अनुक्रम में जहां पक्षकार मुस्लिम थे, मुस्लिम स्वीय विधि पर अभिभावी स्थिति प्रदान की जा रही थी । अतः, यह प्राख्यान किया गया कि यह मानना गलत होगा कि शरीयत अधिनियम का अधिनियमन

करते समय विधायकों का लक्ष्य और उद्देश्य मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानूनी हैसियत प्रदान करना था । दूसरे शब्दों में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की यह दलील थी कि शरीयत अधिनियम को प्रथागत व्यवहारों और रूढ़ियों को नकारने के लिए ही समझा जाए जो विद्यमान मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के प्रतिकूल थे ।

153. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री वी. गिरि ने ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 का अवलंब लेते हुए उक्त दलील का समर्थन किया । यह प्राख्यान किया गया कि धारा 2 एक सर्वोपरि खंड है । यह इंगित किया गया कि उपर्युक्त सर्वोपरि खंड मात्र प्रथा और रूढ़ियों से संबंधित था । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार, धारा 2 के परिशीलन से किसी तरह का कोई संदेह नहीं रह जाता कि शरीयत अधिनियम की धारा 2 में निर्दिष्ट प्रथा और रूढ़ि केवल ऐसी प्रथाएं और रूढ़ियां थीं जो मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के प्रतिकूल थी । तद्नुसार, यह निवेदन किया गया कि शरीयत अधिनियम की धारा 2 का उद्देश्य ऐसी स्थितियों में जहां प्रथाएं और रूढ़ियां प्रतिकूल थीं, मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को "विनिश्चय का नियम" घोषित करना था ।

154. प्रत्यर्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमसे दूसरे अन्य कारण से उनके दृष्टिकोण को स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 यह विनिश्चित नहीं करता कि क्या मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत, है और क्या नहीं ? अतः यह इंगित किया गया कि यह विचार करना मिथ्या होगा कि शरीयत अधिनियम का अधिनियमन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर किसी रीति से मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के क्षेत्र में किया गया था । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत वैसे ही बना रहा जैसे वह था । यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम द्वारा विनियमित प्रश्न/विषय पर व्यक्त आस्था की वस्तुओं को अधिनियम में विचार नहीं किया गया और वे वैसे ही बनी रही जैसा उनके आस्था के मानने वालों द्वारा समझी जाती थी । तद्नुसार, यह दलील दी गई कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को शरीयत अधिनियम के माध्यम से पुरःस्थापित/अधिनियमित नहीं किया गया था । यह भी इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम विभिन्न प्रश्नों या विषयों पर मानकों को स्पष्ट या प्रतिपादित नहीं करता जो सुन्नी और शिया और उनकी भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को लागू थे ।" तद्नुसार, यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम के उपबंधों का

निर्वचन करना भ्रामक होगा जैसा कि मुस्लिमों की स्वीय विधि की बाबत भिन्न-भिन्न प्रश्नों/विषयों के लिए कानूनी प्रास्थिति की गई है । अतः यह दलील दी गई कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानून में कभी रूपांतरित नहीं किया गया था । अतः, यह दलील दी गई कि यह मानना पूर्णतः अनुचित होगा कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के माध्यम से कानूनी प्रभाव दिया गया था ।

155. पूर्वोक्त दलीलों के आधार पर यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर कानूनी हैसियत प्रदान करने वाला नहीं माना जा सकता और इस प्रकार, इसे कानूनी अधिनियमिति नहीं माना जा सकता जिससे कि संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अधीन अनुध्यात रीति में इसकी विधिमान्यता का परीक्षण किया जा सके ।

156. हमने, परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों के द्वारा दिए गए निवेदनों पर गंभीर रूप से विचार किया । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 की गहन परीक्षा के पश्चात्, हमारा यह मत है कि पूर्वोक्त उपबंध का सीमित प्रयोजन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर प्रथा और रूढ़ि के अभिभावी प्रभाव को नकाराना था । हमारा यह अवधारण मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति के पूर्व विधान सभा में बहस से भी प्रकट होता है । वस्तुतः, **एच. एम. अब्दुला** (पश्चिम केंद्रीय पंजाब के प्रतिनिधि) और **अब्दुल क्यूम** (उत्तरी-पश्चिमी फ्रंटियर प्रांत के प्रतिनिधि) के कथनों से किसी तरह का कोई संदेह नहीं रह जाता कि शरीयत द्वारा प्राप्त किए जाने वाला ईप्सित उद्देश्य अन्य बातों के साथ-साथ मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर प्रथा और रूढ़ि पर अभिभावी प्रभाव को नकाराना था । बहस से यह प्रकट होता है कि जनजातियों द्वारा रूढ़ियों और प्रथाओं को मुस्लिमों के बीच मुद्दों का अवधारण करते समय न्यायालयों द्वारा अभिभावी प्रभाव दिए जाते थे । यहां तक कि विशिष्ट ग्राम की प्रथा और रूढ़ि को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर अभिभावी प्रभाव दिए गए थे । हमारा विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की दलील को स्वीकार करने का समाधान हो गया है कि धारा 2 की परिशीलन और उसमें प्रयुक्त सर्वोपरि खंड का वही आशय है । हमारे विचारित मत के अनुसार, शरीयत अधिनियम न तो मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत और न ही विधान के अधीन आने वाले प्रश्नों/विषयों का अधिकथन करता है न ही

घोषित करता है । किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि शिया और सुन्नी को लागू होने वाले मानकों में पर्याप्त अंतर है । आगे इनके संबद्ध विचारधाराओं के मानकों में भी अंतर है । शरीयत अधिनियम ऐसे मानकों को सुस्पष्ट नहीं करता जो शिया और सुन्नी या उनके संबद्ध विचारधाराओं को लागू होते हैं । हमारे विचारित मतानुसार, शरीयत अधिनियम के माध्यम से जो किया जाना ईप्सित था, वह मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को संरक्षित करना था जैसा कि यह अनंतकाल से विद्यमान था । हमारा यह मत है कि शरीयत अधिनियम मुस्लिम स्वीय विधि को उसी तरह से विनिश्चय के नियम के रूप में मान्यता प्रदान करता है जैसा अनुच्छेद 25 सभी धर्मों की स्वीय विधि की सर्वोपरिता और प्रवर्तनीयता को मान्यता प्रदान करता है । तद्नुसार, हमारा यह समाधान हो गया है कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत विधि के निकाय के रूप में शरीयत अधिनियम द्वारा स्थिर कर दिया गया है और जो (प्रथा और रूढ़ि के माध्यम से सैलाब के कारण) असंदिग्ध हो गया था, को स्पष्ट किया गया और प्रदीप्त किया गया । प्रतिकूलतः, यदि ऐसा अभिवाक् मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 जो मुस्लिम महिलाओं के लिए तलाक के आधार, विधायी रूप से अभिधारित करता है, के संदर्भ में उठाया गया होता तो यह निवेदन स्वीकार्य होता । 1939 अधिनियम, कानूनी विधि का भाग गठित करता है न कि स्वीय विधि का । अतः, हम प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा दी गई दलीलों को स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं कि याचियों की ओर से पक्षपोषित प्रतिपादना, अर्थात् यह कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937, शरीयत अधिनियम द्वारा लागू प्रश्नों/विषयों पर कानूनी प्रास्थिति प्रदान करता है, स्वीकार नहीं की जा सकती है । ऐसी स्थिति में मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को राज्य अधिनियमिति नहीं माना जा सकता ।

157. पूर्वगामी पैरा में अभिलिखित निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए, हमारे लिए याचियों की ओर से दी गई इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधीन आने वाले प्रश्न/विषय "स्वीय विधि" नहीं रह गए और "कानूनी विधि" में परिवर्तित हो गए । उपर्युक्त निष्कर्ष निकालते हुए हमें यह भी अभिनिर्धारित करना चाहिए (जिसे हमने किया है) कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत की प्रथाओं को संविधान के अनुच्छेद 13 के अनुसार राज्य कार्रवाइयों को लागू संविधान के भाग 3 मूल अधिकार में अंतर्विष्ट उपबंधों को संतुष्ट करने की अपेक्षा नहीं हो सकती ।

VI. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" संविधान के अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण करता है ?

158. उपर्युक्त अभिलिखित हमारी चर्चा में, हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937, मुस्लिम स्वीय विधि - शरीयत की स्वीय विधि प्रास्थिति को परिवर्तित नहीं करता । अब हम अगले बिंदु पर विचार करते हैं । चूंकि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों को लागू स्वीय विधि का विषय बना रहता है, क्या इसे विधि में अप्रवर्तनीय के रूप में घोषित किया जा सकता है क्योंकि यह अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण करता है (यह भी याचियों के मामले का समर्थन कर रहे लोगों की एक सूचक दलील है) ?

159. उपर्युक्त प्रतिपादना का सभी विद्वान् काउंसेलों ने जोरदार विरोध किया जो प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित हुए, विशेषकर ए. आई. एम. पी. एल. वी. का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने । इस विरोध के अनुक्रम में, हमारा ध्यान **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में, बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को आकृष्ट किया गया । हम संक्षेप में, इसका उल्लेख करते हैं । उक्त निर्णय के पैरा 13 में मुख्य न्यायमूर्ति एम. सी. छागला और पैरा 23 में न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर (तत्कालीन) द्वारा दिए गए निर्णय में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां अभिलिखित की गईं :–

> "13. यह कि यह अंतर विधायिका द्वारा मान्यता प्राप्त है जो स्पष्ट है यदि कोई भारत सरकार अधिनियम, 1915 की धारा 112 की भाषा का परिशीलन करे । वह धारा उच्च न्यायालय द्वारा प्रशासित की जाने वाली विधि के बारे में है और यह उपबंध करती है कि उच्च न्यायालय भूमि, किराया और माल के विरासत और उत्तराधिकार के मामलों में और दो पक्षकारों के बीच संविदा और व्यवहार के मामलों में जब दोनों पक्षकार प्रवृत्त विधि की उसी स्वीय विधि या रूढ़ि के अधीन हैं, उसी स्वीय विधि या रूढ़ि के अनुसार विनिश्चय करेगा और जब पक्षकार प्रवृत्त विधि के भिन्न स्वीय विधि या रूढ़ि के अधीन हैं तो उस विधि या रूढ़ि के अनुसार विनिश्चय करेगा जिसके अधीन प्रतिवादी आता है । अतः स्वीय विधि और विधि का बल रखने वाली रूढ़ि के बीच स्पष्ट अंतर किया गया है । यह संविधान अधिनियम में एक उपबंध है और अनुच्छेद 13 में 'विधि' को परिभाषित करते हुए स्वयं संविधायी सभा के समक्ष इस मॉडल को स्वीकार करते हुए

केवल 'प्रथा या रूढ़ि' पद का प्रयोग किया गया और स्वीय विधि का लोप किया गया । हमारी राय में, अनुच्छेद 13 की परिधि से स्वीय विधि को अपवर्जित करने के संविधान बनाने वाली निकाय का आशय का यह बहुत स्पष्ट संकेत है । यहां कई अन्य संकेत भी हैं । अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का अंत करता है और किसी भी रूप में उसके आचरण का निषिद्ध करता है । अनुच्छेद 25(2)(ख) राज्य को सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की सभी धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करता है । अब यदि हिंदू स्वीय विधि अनुच्छेद 13 के कारण शून्य हो जाती है और इसके किन्हीं उपबंधों के कारण किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करती है तो हिंदू स्वीय विधि के कतिपय पहलुओं के लिए अनुच्छेद 17 और अनुच्छेद 25(2)(ख) में विनिर्दिष्ट रूप से उपबंध करना अनावश्यक था जो अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन करती है । यह स्पष्टतः दर्शित करता है कि केवल कतिपय पहलुओं में ही संविधान ने स्वीय विधि पर विचार किया है । संविधान में अनुच्छेद 44 की उपस्थिति पृथक् स्वीय विधि के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती है और समवर्ती सूची की प्रविष्टि सं. 5 विधायिका को स्वीय विधि को प्रभावित करने वाली विधि पारित करने की शक्ति प्रदान करती है । अतः, यह प्रतीत होता है कि संविधान की स्कीम में स्वीय विधि को उसके सिवाय अप्रभावित छोड़ दिया जहां इसके बारे में विनिर्दिष्ट उपबंध किया गया है और भविष्य में विधायिका पर एक समान और समरूप संहिता को कानूनी पुस्तक में अंततः लाने के लिए और इसे रूपांतरित और सुधार करने के लिए छोड़ दिया है । हमारा ध्यान भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 292 की ओर आकृष्ट किया गया जिसमें यह उपबंध है कि ब्रिटिश भारत में प्रवृत्त सभी विधि सक्षम विधायिका या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित किए जाने तक प्रवृत्त रहेंगी और धारा 293 विद्यमान दंड विधियों के अनुकूलन के बारे में है । हमारे संविधान के अनुच्छेद 372(1) और 372(2) में इसी प्रकार का उपबंध है । यह दलील दी गई कि ऐसी विधियां जो धारा 372(1) के अधीन प्रवृत्त बनी हुई हैं, में स्वीय विधियां सम्मिलित हैं क्योंकि ये विधियां संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए प्रवृत्त बनी हुई हैं, यह आग्रह किया गया कि अनुच्छेद 13(1) के आधार पर किसी स्वीय विधि का ऐसा कोई उपबंध जो मूल अधिकारों से संगत है, शून्य होगी । किंतु अनुच्छेद

372(1) और (2) की भाषा से यह स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधि' पद स्वीय विधि को सम्मिलित नहीं करता क्योंकि अनुच्छेद 372(2) राष्ट्रपति को निरसन या संशोधन द्वारा प्रवृत्त विधि में अनुकूलन और उपांतरण करने की शक्ति प्रदान करता है और बिल्कुल यह दलील नहीं दी जा सकती कि यह किसी समुदाय की स्वीय विधि को परिवर्तित करने या अनुकूलित करने के लिए राष्ट्रपति को प्राधिकृत करने के आशय से यह उपबंध बनाया गया था । यद्यपि हमारे समक्ष आग्रह किया गया मुद्दा किसी भी रूप से कठिनाई से मुक्त नहीं है और संविधान के विभिन्न उपबंधों का सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वीय विधि को अनुच्छेद 13(1) में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधि' पद में सम्मिलित नहीं किया गया ।

23. .... स्वयं भारत का संविधान शब्दों में इन स्वीय विधियों के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करता है जब वह समवर्ती सूची-सूची III के मद 5 में स्वीय विधि के अधीन आने वाले विषयों के बारे में विचार करता है । यह मद विवाह और विवाह-विच्छेद; शिशु और अवयस्क, दत्तक ग्रहण; विल, निर्वसीयता और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुंब और विभाजन; वे सभी विषय जिनके संबंध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे, प्रसंग के बारे में है । इस प्रकार, या तो राज्य या संघ विधायिका स्वीय विधि की परिधि के भीतर आने वाले विषयों पर विधान बनाने के लिए सक्षम है और फिर भी 'स्वीय विधि' पद का प्रयोग अनुच्छेद 13 में नहीं किया गया था । क्योंकि मेरी राय में, संविधान निर्माता संविधान के भाग-III की परिधि के बारह स्वीय विधि को रखना चाहते थे । उन्हें यह ज्ञात रहा होगा कि इन स्वीय विधियों में कई तात्विक विशिष्टियों में सुधार किए जाने की आवश्यकता है और वस्तुतः वे इन भिन्न स्वीय विधियों को समाप्त करना और एक समान संहिता विकसित करना चाहते थे । फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि स्वीय विधि के उपबंधों की चुनौती संविधान के भाग-III में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के आधार पर दी जाए और इसलिए उन लोगों ने 'प्रवृत्त विधि' पद की परिभाषा के भीतर इन स्वीय विधियों को सम्मिलित नहीं किया । अतः मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के इस धारणा से सहमत हूं कि स्वीय विधियां कतई अनुच्छेद 13(1) के भीतर नहीं आती ।"

160. हमें यह प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उद्धृत बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त स्थिति विधि की वर्तमान घोषित स्थिति पर विचार किया जा सकता है विशेषकर क्योंकि भारत के विद्वान् महान्यायवादी की ओर से यह स्वीकार किया गया कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को **श्री कृष्ण सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले और **महर्षि अवधेश** (उपर्युक्त) वाले मामलों में न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया जिसमें इस न्यायालय ने **मोहम्मद अहमद खान** बनाम **शाहबानो बेगम**[1] (पांच न्यायाधीशों की संविधान न्यायपीठ द्वारा), **डैनियल लतीफी** बनाम **भारत संघ**[2] (पांच न्यायाधीशों की संविधान न्यायपीठ द्वारा) और **जॉन बेल्लामेटम** (उपर्युक्त) (तीन न्यायाधीशों की खंड न्यायपीठ द्वारा) वाले मामलों में मूल अधिकारों की कसौटी पर "स्वीय विधि" का परीक्षण किया था । भारत संघ की ओर से मामले के अभिलेख पर प्रस्तुत लिखित निवेदन के उद्धरण को उपर्युक्त पैरा 71 में शब्दसः प्रस्तुत किया गया है ।

161. विद्वान् महान्यायवादी की ओर से दिया गया निष्पक्ष अनुमोदन हमारे लिए इस प्रतिपादना और बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त विधिक स्थिति जिसके सुसंगत भाग को ऊपर उद्धृत किया गया है, को स्वीकार करने का उचित आधार है । हमारे वर्तमान अवधारण के बावजूद, हमारे लिए विवाद्यक के कुछ निर्णयों पर ध्यान देना आवश्यक है जो विषय के काफी नजदीक है ।

(i) सर्वप्रथम **श्री कृष्ण सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट किया जा सकता है । उपर्युक्त मामले की तथ्यात्मक स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

"एस." नामक एक हिंदू तपस्वी ने वर्ष 1985 में वाराणसी में गरवाघाट मठ स्थापित किया । मठ (विहार) के भीतर बंगला कुटि और अन्य भवन तथा उसके भक्तों द्वारा दान में दी गई भूमि थी । "एस." संत मठ संप्रदाय का था जो शंकराचार्य (मठ के प्रधान) द्वारा स्थापित दसनामी पंथ का एक धार्मिक संप्रदाय है । अपने जीवनकाल के दौरान, "एस." ने "ए." को अपना चेला (शिष्य) बनाया और उसे दीक्षा और भेष (आध्यात्मिक प्राधिकार) का पूर्ण अधिकार दिया । "एस." की मृत्यु के पश्चात्, "एस."

---

[1] (1985) 2 एस. सी. सी. 556.

[2] (2001) 7 एस. सी. सी. 740.

की इच्छाओं के अनुसार, उनके भेष और संप्रदाय (प्रधान या शिष्यों का उत्तराधिकार) ने "ए." को मठ का चादर महंती (मुख्य पुजारी का भेष) दिया और उसे महंत (मुख्य पुजारी) बनाया । इसके पश्चात् "ए." ने वादी एक शूद्र (चार हिंदू जातियों की निम्नतम जाति) को पंथ की प्रथा और रूढ़ि के अनुसार अपना चेला बनाया और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छाओं के अनुसार, भेष और संप्रदाय के महंत और सन्यासी (सन्यासी का जीवन जी रहे व्याक्ति) ने वादी को "चादर महंती" बनाया और इस आशय का दस्तावेज निष्पादित करते हुए "ए." के स्थान पर मठ के महंत के रूप में उसे बैठाया । "ए." अपने जीवनकाल के दौरान मठ की आय से वाराणसी शहर में दो मकान खरीदे । जब वादी महंत हो गया तो उसने इस आधार पर उन मकानों में से एक से प्रत्यर्थी सं. 2 से 5 तक की बेदखली के लिए वाद दायर किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 ने "ए." से किराए पर मकान लेने के पश्चात् विधि विरुद्ध रूप से प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 को परिसर को उप-किराए पर दिया था । प्रतिवादी प्रत्यर्थियों ने अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिवचन किया कि "ए." द्वारा उन्हें दी गई अनुज्ञप्ति के आधार पर वे "ए." के चेला के रूप में अपने निजी अधिकारों के आधार पर मकान का अधिभोग कर रहे हैं, अतः, उनकी मृत्यु पर उनके नैसर्गिक पुत्र और शिष्य होने के कारण अपीलार्थी उसके स्वामी हो गए । उपर्युक्त संविवाद में अवधारणीय विरचित आवश्यक प्रश्नों में से एक इस प्रकार था :

(1) क्या शूद्र होने के कारण वादी को धार्मिक व्यवस्था से अभिषिक्त कर "सन्यासी" या "यती" नहीं बनाया जा सकता और संत मठ संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुसार महंत बनाया जा सकता है ?

उपर्युक्त विवादित मुद्दे में अनुच्छेद 25 को निर्दिष्ट करते हुए, अपना निष्कर्ष इस न्यायालय ने अभिलिखित करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

> "17. आरंभ में उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त मत पर विचार करना सुविधाजनक होगा कि स्मृति लेखकों द्वारा व्यादिष्ट कठोर नियम जिसके परिणामस्वरूप शूद्रों को यती या सन्यासी बनने के अयोग्य माने जाते थे, संविधान के भाग 3 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों के कारण विधिमान्य नहीं रह गया है । हमारी राय में, विद्वान् न्यायाधीश यह मूल्यांकन करने में असफल रहे कि संविधान का भाग 3 पक्षकारों के स्वीय विधियों को स्पष्ट नहीं करता । पक्षकारों के स्वीय विधियों को लागू होने के लिए वह आधुनिक अपनी निजी अवधारणा को लागू नहीं कर सकता बल्कि हिंदू विधि के मान्यता प्राप्त और

प्रमाणिक स्त्रोतों अर्थात् स्मृतियों और निर्दिष्ट समीक्षाओं से यथा व्युत्पन्न विधि प्रवृत्त करना चाहिए जैसा कि विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयों में निर्वचित है, इसके सिवाए जहां ऐसी विधि का परिवर्तन किसी प्रथा या रूढ़ि द्वारा किया गया है या कानून द्वारा उपांतरित या उत्सादित है ।"

(ii) **मधु किश्वर** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले को निर्दिष्ट करना भी आवश्यक है जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

"विषय से संबंधित कुछ विधानों का वर्णन करना उपयुक्त रहेगा । हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम भारत के बहुसंख्यक समाज अर्थात् हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन आदि को शासित करता है और उन्हें लागू होने वाले उत्तराधिकार के नियम विहित करता है जिनमें कम से कम 1956 से स्त्री उत्तराधिकारी को पुरुष उत्तराधिकारी के समकक्ष रखा गया है । दूसरा मुसलमानों को लागू होने वाली शरीयत विधि है जिसमें स्त्री उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार का असमान अंश जो पुरुष उत्तराधिकारी के देखने में सामान्यतः आधा होता है, प्राप्त है । तत्पश्चात् भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम है जो ईसाइयों और सामान्यतः उन लोगों को जो पूर्वोक्त दोनों विधियों के अधीन नहीं आते हैं को लागू होता है और पुरुषों की भांति स्त्रियों को कतिपय उत्तराधिकार प्रदान करता है । इसके कतिपय अध्याय कतिपय समुदायों को लागू नहीं किए गए हैं । हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 2 की उपधारा (2) में विशेष रूप से यह उपबंधित है कि इस अधिनियम में दी गई कोई भी बात उस समय तक जब तक कि केंद्रीय सरकार द्वारा राजपत्र में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निदेश न किया जाए, संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (25) के अर्थान्तर्गत किसी अनुसूचित जनजाति को लागू नहीं होगी । धारा 3(2) में आगे यह भी उपबंधित है कि इस अधिनियम, जब तक कि प्रसंग की अन्यथा अपेक्षा न हो, में के शब्दों जिन्हें पुरुषवाचक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, के अंतर्गत स्त्रियां नहीं आएंगी । विधायी व्यवहार का साधारण नियम यह है कि जब तक कि कोई बात विषय या प्रसंग के विरुद्ध न हो कानूनों में प्रयुक्त पुरुषवाचक शब्दों में स्त्रियों को सम्मिलित माना जाता है । इस संबंध में साधारण खंड अधिनियम की धारा 13 की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है । किंतु

---

[1] [1997] 1 उम. नि. प. 98 = (1996) 5 एस. सी. सी. 125.

उत्तराधिकार के मामलों में बहुवचन का साधारण नियम सावधानीपूर्वक लागू किया जाना चाहिए । अतः उक्त उपबंध अत्यधिक सावधानी बरतते हुए अंतःस्थापित किया गया प्रतीत होता है । भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 3 के अधीन भी राज्य सरकार किसी मूलवंश, पंथ या जनजाति को जो हमारे समक्ष चर्चा का विषय हैं, इस प्रकार छूट प्रदान की गई हैं । इस प्रकार न तो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, न भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम और न ही शरीयत विधि रूढ़ि शासित जनजातियों को लागू होती है । यह बात सुमान्य है रूढ़ि पृथक् लोगों और क्षेत्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं ।

संवेदनशीलता जनजाति-समाज द्वारा, जो अपनी प्रथाओं परंपराओं और रूढ़ियों को अत्यंत मूल्यवान समझते हैं, स्थापित इन विखंडित धारणाओं (जो क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं) और सहजदृश्य विभाजनकारी दीवारों (सीमाओं) के सामने न्यायिक सक्रियता द्वारा अभिजातीय दृष्टिकोण या समता के सिद्धांत के आधार पर अन्य व्यक्तियों को लागू होने वाली स्वीय विधि के सिद्धांतों को ऐसी जनजातियों के संबंध में न्यायिक रूप से लागू करना कठिन और मस्तिष्क को झंझट में डालने वाला प्रयास होगा । बंधु न्यायमूर्ति के. रामस्वामी ने यह मत अपनाया है कि भारतीय विधान-मंडल (और सरकारें भी) इस दिशा में राजनीतिक कारणोंवश इतनी सक्रिय प्रतीत नहीं होती और इस स्थिति में सक्रिय न्यायालय जो प्रकटतः राजनीतिक नहीं हैं कार्रवाई करके याचियों द्वारा अपने लिखित निवेदनों में सुझाई गई रूपरेखा के अनुसार व्यापक रूप में विधान बनाने का कार्य कर सकती हैं । भले ही परिणाम सराहनीय, वांछनीय और उपयोगी क्यों न सही हमारे विद्वान् बंधु द्वारा यह उचित ही कहा गया है कि सक्रिय न्यायालय के पास विधायी विषय के पूर्ण ब्यौरे नहीं हो सकते, न ही न्यायालय को विषय की जटिलताओं का ज्ञान होता है । वह तो मात्र समस्या से संबंधित राज्य की नीति को स्पष्ट करके उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर सकता है और राज्य को सचेत बना सकता है और उसे (राज्य को) लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रेरित कर सकता है । चाहे न्यायालय कितनी भी चिंता व्यक्त क्यों न करे, वह अपनी पहल पर कहीं न कहीं और कभी-कभी नियंत्रण लगाने के लिए विवश है और इस नियंत्रण को न्यायिक भाषा में आत्म नियंत्रण कहा जाता है । अतः हम बंधु न्यायमूर्ति के. रामस्वामी द्वारा अपने निर्णय के पृष्ठ 36 पर अंतिम पैरा में व्यक्त किए गए इस मत से

सहमत हैं कि इन परिस्थितियों में जनजातीय निवासियों को रूढ़ियों को संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का अतिक्रमणकारी मानना उचित नहीं होगा और प्रत्येक मामले की परीक्षा तभी की जानी चाहिए जब न्यायालय के समक्ष पूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए गए हों ।

अधिनियम के कानूनी उपबंधों से संबंधित उन्होंने उनकी सांविधानिकता को परिरक्षित रखने के लिए धारा 7 और 8 को व्यापक रूप में न लेने की बात कही है । यह बात उनके निर्णय के पृष्ठ 36 से आगे स्पष्टतया देखने में आती है । जहां भी "पुरुष वंशज" शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें "स्त्री वंशज" भी सम्मिलित होंगी । यह भी कहा गया है कि यद्यपि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंध और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के निबंधन अनुसूचित जनजातियों को लागू नहीं होंगे, उनके साधारण सिद्धांत जिनमें न्याय, साम्या और ऋजु व्यवहार की बात कही गई है, उन्हें लागू होंगे । इस आधार पर यह मत अपनाने की बात कही गई है, उन्हें लागू होंगे । इस आधार पर यह मत अपनाने की बात कही गई है कि अनुसूचित जनजाति की स्त्रियां अपने पैतृक माता-पिता, भ्राता या पति की संपदा निर्वसीयत उत्तराधिकार द्वारा उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त करने की हकदार होंगी और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के सिद्धांतों के अनुसार पुरुष उत्तराधिकारी के साथ आत्यंतिक अधिकार सहित समान अंश प्राप्त करेंगी । तथापि, हमारे यह चाहते हुए कि विधि ऐसी हो, हमें खेद है कि हम इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों का अनुमोदन करने में असमर्थ हैं । यदि न्यायालय के लिए इस मार्ग का अनुसरण करना बाधा रहित नहीं है, तो यह बेहतर होगा कि न्यायालय इससे बचे । यह कल्पना की जा सकती है कि विषम परिस्थितियों में इस प्रकार के दावे बार-बार किए जाएंगे जो न केवल जनजातीय परिभाषाओं तक ही सीमित रहेंगे अपितु विधि की अन्य प्रणालियों को हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम को आदर्श मानकर इनके अनुरूप बनाए जाने के लिए आंदोलन छिड़ जाएगा । वास्तव में उत्तराधिकार के नियम अनिवार्यतः समान नहीं हैं और विभेदात्मक व्यवहार पर आधारित हैं । अनुरूपता के न होने से सभी स्थितियों में अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता है । न्यायाधीशों द्वारा उपबंधों में सामान्यतः सुलभ विधान-मंडल को किनारे रखकर संशोधन किए जाने से बचा जाना चाहिए । अतः हम सतर्कता

बरतते हुए इस मत को अपनाने के लिए विवश हैं भले ही रूढ़िवादी क्यों न सही और जो मत हमारे विद्वान् बंधु ने व्यक्त किया है, हम उससे सहमत होने के लिए तैयार नहीं हैं ।"

(iii) **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने पैरा 1 से 3 में विचारार्थ उद्‌भूत प्रश्नों को अभिलिखित किया जिन्हें यहां नीचे दोहराया जा रहा है :–

"ये सभी रिट याचिकाएं लोकहित वाद के रूप में फाइल की गई हैं । 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 494 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार हैं –

(क) मुस्लिम स्वीय विधि घोषित करना जो बहु-विवाह को संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 के उल्लंघनकारी के रूप में शून्य होने के रूप में अनुज्ञात करता है ;

(ख) मुस्लिम स्वीय विधि घोषित करना जो किसी मुस्लिम पुरुष को अपनी पत्नी की सहमति के बिना और न्यायालयों की न्यायालयिक प्रक्रिया का अवलंब लिए बिना एकतरफा तलाक देना संविधान के अनुच्छेद 13, 14 और 15 के उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य होना समर्थ बनाता है ;

(ग) यह घोषित करना कि मात्र यह तथ्य कि मुस्लिम पति द्वारा एक से अधिक पत्नी रखना मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 की धारा 2 के खंड 8(च) के अर्थान्तर्गत क्रूरता का कार्य है ;

(घ) यह घोषित करना कि मुस्लिम महिला (तलाक के अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन करने के कारण शून्य है ;

(ङ) आगे यह घोषित करना कि विरास्त की सुन्नी और शिया विधियों के उपबंध जो उसी हैसियत के पुरुषों के अंश की तुलना में महिलाओं के उनके अंश के प्रति विभेद करते हैं, मात्र लिंग के आधार पर ही महिलाओं के विरुद्ध विभेदकारी होने के कारण शून्य है ;

---

[1] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.

(2) 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 496 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार है –

(क) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 2(2), 5(ii) और (iii), 6 और धारा 30 के स्पष्टीकरण को भारत के संविधान के अनुच्छेद 13 के साथ पठित अनुच्छेद 14 और 15 को उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य घोषित करना ;

(ख) हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 2 को भारत के संविधान की अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य घोषित करना ;

(ग) संरक्षक और वार्ड अधिनियम की धारा 6 के साथ पठित हिंदू अप्राप्तव्यता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 3(2), 6 और 9 को शून्य घोषित करना ;

(घ) हिंदू पति को अपनी पत्नी और आश्रित के सुनिश्चित शेयर का उपबंध किए बिना वसीयती व्यवस्था करने की अनुज्ञा देने के लिए अबाधित और आत्यंतिक विवेकाधिकार को शून्य घोषित करना ;

(3) 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 721 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार है –

(क) भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम की धारा 10 और 34 को शून्य घोषित करना और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 43 से 46 को भी शून्य घोषित करना ।"

मधु किश्वर (पूर्वोक्त) वाले मामले में, इस न्यायलय द्वारा प्रतिपादित विधिक स्थिति पर ध्यान देने के पश्चात् उपर्युक्त प्रश्नों की बाबत व्यक्त स्थिति को नीचे पैरा 4 में अभिलिखित किया गया है :–

"4. आरंभ में, हम यह कहना चाहते हैं कि इन रिट याचिकाओं का निपटान गुणागुण के आधार पर नहीं किया जाता क्योंकि हमारे समक्ष विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा दिए गए तर्कों में राज्य नीतियों के मुद्दे अंतर्वलित हैं जिनका न्यायालय से सामान्यतः कोई संबंध नहीं है । इसके अतिरिक्त, हम यह पाते हैं कि जब पूर्व अवसरों पर अन्य लोगों द्वारा इस तरह के प्रयास किए गए तो इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपचार कहीं अन्यत्र है जो न्यायालयों का

दरवाजा खटखटाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता ।"

(iv) **सेदना ताहर सैफुद्दीन साहेब** (पूर्वोक्त) वाले मामले को भी निर्दिष्ट किया जा सकता है जिसमें इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास मद्रास **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामियर आफ श्री शिरूर मठ ; महंत जगन्नाथ रामनुज दास **बनाम** उड़ीसा राज्य ; श्री वेंकटरमन देवालु **बनाम** मैसूर राज्य ; दरगाह समिति, अजमेर **बनाम** सैयद हुसैन अली और अन्य कई मामलों में इस न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 का अंतर्वस्तु विचारार्थ उद्भूत हुआ और इन उपबंधों के मुख्य सिद्धांतों को इन विनिश्चयों में संविवाद से परे रखा गया । पहला यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण सिद्धांत या आस्था के विषयों तक सीमित नहीं है बल्कि वे धर्म के अनुसरण में किए गए कार्यों तक भी विस्तारित हैं । अतः रीति रिवाज और अनुष्ठान, उत्सव और उपासना के ढंग के लिए भी गारंटी है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं । दूसरा यह है कि धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, का विनिश्चय उस विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा किया जाना चाहिए और ऐसी पद्धतियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिसे समुदाय द्वारा उसके धर्म के भाग के रूप में माना जाता है ।"

(v) **एन. आदित्यन** (पूर्वोक्त) वाले मामले का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

"9. इस न्यायालय ने शेषामल **बनाम** तमिलनाडु राज्य, (1972) 2 एस. सी. सी. 11 वाले मामले में पुनः अर्चक के वंशानुगत अधिकार के उत्सादन के प्रति की गई चुनौती के संदर्भ में अनुच्छेद 25 और 26 में वर्णित संरक्षण के सिद्धांतों का पुनर्विलोकन किया और इस प्रकार स्थिति को दोहराया (एस. सी. सी. पृष्ठ 21, पैरा 13-14):

13. इस न्यायालय ने सेदना ताहर सैफुद्दीन साहेब **बनाम** बम्बई राज्य, ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853 वाले मामले में विधिक स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया –

"आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास मद्रास **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामियर आफ श्री शिरूर मठ ; महंत जगन्नाथ रामनुज

दास **बनाम** उड़ीसा राज्य ; श्री वेंकटरमन देवालु **बनाम** मैसूर राज्य ; दरगाह समिति, अजमेर **बनाम** सैयद हुसैन अली और अन्य कई मामलों में, इस न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 का अंतर्वस्तु विचारार्थ उद्भूत हुआ और इन उपबंधों के मुख्य सिद्धांतों को इन विनिश्चयों में संविवाद से परे रखा गया । पहला यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण सिद्धांत या आस्था के विषयों तक सीमित नहीं है बल्कि वे धर्म के अनुसरण में किए गए कार्यों तक भी विस्तारित हैं । अतः रीति रिवाज और अनुष्ठान, उत्सव और उपासना के ढ़ंग के लिए भी गारंटी है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं । दूसरा यह है कि धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, का विनिश्चय उस विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा किया जाना चाहिए और ऐसी पद्धतियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिसे समुदाय द्वारा उसके धर्म के भाग के रूप में माना जाता है ।"

14. मस्तिष्क में इन सिद्धांतों को समाहित करते हुए, हमें वर्तमान मामले के संविवाद पर विचार करना है ।"

16. अब यह सुस्थिर है कि अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति को अनुच्छेद 17 सहित लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य, नैतिकता और भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, अन्य लोगों के नैतिक उन्नति के लिए अपने विवेक और अंतःकरण के अनुसार बाह्य कार्यों और ऐसे धार्मिक विश्वास के प्रचार और प्रसार द्वारा ग्रहण करने और प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है । राज्य को ऐसे निर्बंधन अधिरोपित करने का अधिकार है जो स्वयं अनुच्छेद 25 या 26 में लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य और नैतिकता के आधारों पर वांछित या आवश्यक पाए जाते हैं । अनुच्छेद 25(2)(ख) राज्य के हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों को लोक प्रकृति के हिंदू धार्मिक संस्थाओं को खुला रखने के अलावा सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए विधि बनाने का अधिकार सुनिश्चित करता है और राज्य या समाज के समुदाय या वर्गों के ऐसे किन्हीं अधिकारों को विभिन्न अधिकारों के सामंजस्य की प्रक्रिया में सम्यक् विनियमन के लिए भी आवश्यक समझा जाता है । संविधान निर्माताओं का तर्क या तार्किक आधार से रहित मात्र पारंपरिक अंधविश्वास का पालन करने हेतु समाज के ऐसे अंधविश्वास और

रीति रिवाजों से मुक्त करने की धारणा को अनुच्छेद 17 के रूप में व्यक्त किया गया है । यह विधिक स्थिति कि अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन संरक्षण का विस्तार रीति-रिवाज और धर्म अनुष्ठान, उत्सव तथा पूजा की रीति की गारंटी तक विस्तारित है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं और वस्तुतः धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, धर्म के भाग के रूप में माने जाने वाले विशिष्ट धर्म या पद्धति के सिद्धांत के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा विनिश्चित किया जाना चाहिए, समानतः दृढ़तः अधिकथित किया गया ।"

(vi) विवाद्यक से सुसंगत **श्री आदि विश्वेश्वरा आफ काशी विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी** (पूर्वोक्त) वाले मामले का निर्णय भी है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया :-

"28. ..... सभी पंथ-निरपेक्ष गतिविधियां, जो धर्म से सहबद्ध हो सकती हैं, लेकिन जो इसके आवश्यक अंग रूप संबद्ध या गठित नहीं हो सकती, राज्य विनियमनों के अधीन परीक्षणार्थ हो सकती है लेकिन जो धर्म के आवश्यक अंग हैं उसके तत्व ऐतिहासिक आधारभूमि और विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन, आदि के अनुसार स्वयं उस धर्म के सिद्धांतों से प्रधानतः सुनिश्चित की जा सकती है । अनिवार्यता की संकल्पना स्वयमेव निर्णायक घटक नहीं है । अधिनिर्णीत करते समय विचारणीय परिस्थितियों में से एक परिस्थिति यह है कि क्या धर्म के विशिष्ट विषय या धार्मिक आचरण या विश्वास धर्म के अभिन्न अंग हैं । यह विनिश्चय अवश्य किया जाना चाहिए कि क्या स्वयं समुदाय आचरण या विषय को अनिवार्य मानता है । यद्यपि यह निश्चायक नहीं है, फिर भी यह एक पहलू है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए । प्रश्नगत आचरण धार्मिक स्वरूप का है और यह कि क्या इसे धर्म के अभिन्न और अनिवार्य अंग के रूप में माना जा सकता और यदि न्यायालय अपने समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि यह धर्म का अभिन्न और अनिवार्य अंग है तो अनुच्छेद 25 उसे संरक्षण प्रदान करता है ।"

(vii) यह स्थिति स्पष्ट प्रतीत होती है कि "स्वीय विधि" में न्यायिक हस्तक्षेप ऐसी रीति से ही किया जा सकता है जैसा संविधान के अनुच्छेद 25 में उपबंधित किया गया है । आस्था के विषय के पैरामीटर को भंग करना संभव नहीं है क्योंकि उन्हें अनुच्छेद 25 (स्वयं उपबंध में यथा उपबंधित के सिवाय) का संरक्षणात्मक कवच प्राप्त है ।

162. विद्वान् महान्यायवादी के प्रति निष्पक्ष होने के लिए यह अभिलिखित करना आवश्यक है कि उन्होंने **नरासू अप्पा माली** (पूर्वोक्त) वाले मामले में, बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित अवधारण और इस न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि करते हुए दिए गए निर्णयों का दृष्टांत देते हुए विरोध किया कि स्थिति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है (विस्तार के लिए उपर्युक्त पैरा 71 को निर्दिष्ट करें) । हमारे लिए इस अभिवाक् को ग्रहण न करने के दो कारण हैं । पहला, विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार भी, संविधान न्यायपीठ (पांच न्यायाधीशों की) द्वारा दिए गए कम से कम दो निर्णयों में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादना को स्वीकार किया गया है और इस प्रकार, हम (पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ) स्पष्टतः इस प्रतिपादना पर पुनर्विचार करने के निरर्हित हैं । और दूसरा, स्वीय विधि की चुनौती अनुच्छेद 25 के अधीन भी सक्षम है यदि संविधान के भाग 3 मूल अधिकार के उपबंधों का अतिक्रमण होता है जिसका हम इसके पश्चात् याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों की परीक्षा करते समय विचार करेंगे । इसी प्रकार हम श्री कपिल सिब्बल, ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा खंडन करते हुए दिए गए निवेदनों पर विचार नहीं करेंगे ।

163. जहां तक अनुच्छेद 25 में अंतर्विष्ट संवैधानिक उद्देश्य के प्रतिनिर्देश से तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की चुनौती का संबंध है, हमने सुनवाई के दौरान प्रस्तुत निवेदनों पर भी विचार किया । यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि स्वीय विधि के सिद्धांतों के संवैधानिक संरक्षण में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जब तक यह "लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य" और/या संविधान के भाग 3 के उपबंधों का उल्लंघन न करता हो। यह अनुच्छेद 25(1) में अभिव्यक्त स्पष्ट स्थिति है ।

164. अब हम "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के प्रतिनिर्देश से वर्तमान चुनौती की परीक्षा करेंगे । हमारे लिए यह स्वीकार करना संभव नहीं है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को अपास्त किया जाए और अनुच्छेद 25(1) में व्यक्त तीन परिभाषित प्रयोजनों अर्थात् लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के प्रतिकूल होने के आधार पर, विधि में अपोषणीय अभिनिर्धारित किया जाए । इस दृष्टिकोण से ध्यान देते हुए यह निष्कर्ष निकालना असंभव है कि प्रथा "लोक व्यवस्था" या उस विषय के लिए "स्वास्थ्य" का अतिक्रमण करती है । हमारा यह भी समाधान है कि इसका नैतिकता से भी कोई संबंध नहीं है । अतः हमारे विचारित मतानुसार, "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को तीन अननुज्ञेय/प्रतिषिद्ध क्षेत्र जिसका अनुच्छेद 25 स्वीय विधि के

बाबत भी इनकार करती है, के आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है । अतः हमारे लिए इस आधार पर याचियों की ओर से उठाई गई दलील को कायम रखना संभव नहीं है ।

165. केवल शेष आधार जिस पर अनुच्छेद 25 के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की चुनौती कायम रखी जा सकती है, यह है यदि "तलाक-ए-बिद्दत" को संविधान के भाग 3 के उपबंधों के अतिक्रमण के रूप में पाया जाए । याचियों की ओर से दी गई चुनौती अनुच्छेद 14, 15 और 21 के प्रथा के अभिकथित रूप से अतिक्रमण में होने तक सीमित थी जैसा याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों के अभिलेखन के दौरान व्यापक रूप से ध्यान दिया गया है । हम वर्तमान दलील की सत्यता की भी परीक्षा करेंगे । अनुच्छेद 14, 15 और 21 में अधिष्ठापित मूल अधिकार राज्य कार्रवाइयों के विरुद्ध हैं । इन उपबंधों (अनुच्छेद 14, 15 और 21) के अधीन चुनौती का अवलंब राज्य के विरुद्ध ही लिया जा सकता है । यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद 14 राज्य को मनमाने ढंग से कार्य करने से निषिद्ध करता है । अनुच्छेद 14 राज्य से भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण सुनिश्चित करने की अपेक्षा करता है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 15 राज्य को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधारों पर विभेदकारी कार्य करने से प्रतिषिद्ध करता है । अनुच्छेद 15 का अधिदेश राज्य से सबके साथ समान व्यवहार करने की अपेक्षा करता है । अनुच्छेद 21 भी राज्य कार्रवाई से संरक्षण है चूंकि यह राज्य को प्राण और स्वतंत्रता के विषय के रूप में (विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाए) उनके किन्हीं अधिकारों से वंचित करने से प्रतिषिद्ध करता है । हमने पहले ही याचियों की ओर से दी गई दलीलों को खारिज कर दिया है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के उपबंध शरीयत के स्वीय विधि प्रास्थिति को परिवर्तित नहीं करते । हमने यह स्वीकार नहीं किया है कि शरीयत अधिनियम की अधिनियमिती के पश्चात् उक्त विधान द्वारा आरक्षित प्रश्न/विषय स्वीय विधि नहीं रह गए और कानूनी विधि में संपरिवर्तित हो गए । चूंकि हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत किसी राज्य विधायी कार्रवाई पर आधारित नहीं है अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि मुस्लिम स्वीय विधि - शरीयत का परीक्षण राज्य कार्रवाई होने की कसौटी पर नहीं किया जा सकता । हमारे मतानुसार, मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत मुस्लिम की स्वीय विधि का विषय है जिनका पता चार स्रोतों अर्थात् कुरान, हदीथ, इजमा और क्यास से लगाया जाना चाहिए । इनमें से किसी को

किसी राज्य कार्रवाई द्वारा किया गया नहीं समझा जा सकता । हमने पहले ही यह निष्कर्ष निकाला है कि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों के बीच की प्रथा है । ऐसी प्रथा जो उस विचारधारा के उनकी आस्था का एक संघटक है । स्वीय विधि धार्मिक आस्था का विषय होने के कारण और राज्य कार्रवाई न होने के कारण, इसे भारत के संविधान के उपबंधों, विशेषकर, याचियों द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को चुनौती देने के लिए अवलंबित उपबंध अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का अतिक्रमणकारी होने का कोई प्रश्न ही नहीं होता है ।

(vii) **संवैधानिक नैतिकता और "तलाक-ए-बिद्दत"**

166. याचियों की ओर से पक्षपोषित मुद्दों में से एक जिसका भारत के विद्वान् महान्यायवादी द्वारा इस आधार पर भेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की प्रथा की संवैधानिक विधिमान्यता संवैधानिक नैतिकता के भंग में है । हमारे समक्ष उठाया गया प्रश्न यह था कि क्या पंथ निरपेक्ष संविधान के अधीन महिलाओं का विभेद केवल उनकी धार्मिक पहचान के आधार पर किया जा सकता है ? यह प्राख्यान किया गया कि व्यष्टिक धार्मिक संप्रदाय की महिला किसी अन्य धर्म को मानने वाली महिला की तुलना में समाज में घटिया प्रास्थिति से ग्रस्त नहीं हो सकती । यह इंगित किया गया कि मुस्लिम महिलाओं को उनके समकक्ष जो अन्य आस्था को मानते हैं, की तुलना में अधिक संवेदनशील स्थिति में रखे गए हैं । यह निवेदन किया गया कि हिंदू, ईसाई, जोरोष्टीयन, बौद्ध, सिख, जैन महिलाएं किसी युक्तियुक्त हेतुक के बिना निश्चित रूप से पति के सनक पर ; निश्चित रूप से पत्नी द्वारा व्यक्त मतों के सम्यक् विचार के बिना जिनके पास तलाक के लिए पति के दावे का खंडन करने का अधिकार है, अपने वैवाहिक संबंध से वहिष्कृत किए जाने के अधीन नहीं है । यह प्राख्यान किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" किसी कारण या औचित्य के बिना पति के पास तत्काल वैवाहिक संबंध समाप्त करने का अनरर्हित अधिकार निहित नहीं करता । यह निवेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रक्रिया न्यायिकेतर है और इस प्रकार, संबद्ध पत्नी पर भयानक परिणामों की चुनौती देने के लिए कोई उपचारात्मक उपाय नहीं है । यह इंगित किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन प्रत्येक नागरिक को गारंटीकृत समता के मूल अधिकार के अंतर्गत भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों की महिलाओं के बीच समता को सम्मिलित किया गया, पढ़ा जाना चाहिए । यह निवेदन किया गया कि लिंग समता, लिंग साम्या और लिंग न्याय के मूल्य अनुच्छेद 14 के अधीन सभी (नागरिकों और विदेशियों)

को प्राप्त गारंटी में परस्पर गुथे हुए हैं । यह प्राख्यान किया गया कि पितृसत्तात्मक मूल्यों पर आधारित सामाजिक प्रास्थिति का प्रदान संविधान के भाग 3 के अधीन उपबंधित मूल अधिकारों के संरचना के भीतर कायम नहीं रखा जा सकता जिससे कि महिला वर्ग को पुरुषों की दया पर रखा जा सके । यह दलील दी गई कि समता के अलावा अनुच्छेद 14 और 15 लिंग विभेद का प्रतिषेद्ध करते हैं । यह इंगित किया गया कि लिंग के आधार पर विभेद अनुच्छेद 15 के अधीन व्यक्ततः प्रतिषिद्ध है । यह दलील दी गई कि मानवीय गरिमा, सामाजिक सम्मान और आत्म सम्मान का महिलाओं का अधिकार अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार का एक महत्वपूर्ण फलक है । यह निवेदन किया गया कि लिंग न्याय संविधान के निर्माताओं द्वारा अनुध्यात एक संवैधानिक लक्ष्य है । संविधान के अनुच्छेद 51क(ङ) को निर्दिष्ट करते हुए, यह इंगित किया गया कि संविधान के भाग 4 में अंतर्विष्ट घोषित मूल कर्तव्यों में से एक यह सुनिश्चित करना है कि महिलाओं को ऐसे अपमानजनक प्रथाओं के अधीन न रखा जाए जो उनकी गरिमा को प्रभावित करता हो । यह इंगित किया गया कि लिंग समता और महिलाओं की गरिमा गैर-विनिमेय हैं । यह उजागर किया गया कि महिलाएं राष्ट्र की जनसंख्या का आधा भाग हैं और महिलाओं के विरुद्ध असमानता से निश्चित ही संपूर्ण लिंग विभेद का निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए ।

167. जैसा कि इसके पूर्व उल्लेख किया गया है, याचियों की ओर से दी गई दलीलों के समर्थन में **सरला मुदग्ल** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले का अवलंब लिया गया । उसमें अभिलिखित निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया :–

> "44. विवाह, विरासत, विवाह-विच्छेद, संपरिवर्तन उतने ही धार्मिक प्रकृति और तत्व के हैं जैसा किसी अन्य आस्था और विश्वास में हैं । अग्नि के सात फेरे लेना या काजी के समक्ष सहमति देना आस्था और अंतःकरण के विषय हैं, जितना स्वयं पूजा का । जब कोई हिंदू कलमा पढ़कर संपरिवर्तित हो जाता है या कोई मुसलमान कुछ मंत्र पढ़कर हिंदू हो जाता है तो यह विश्वास और अंतःकरण का विषय है । एक धर्म के सदस्यों द्वारा पालन किए जाने वाले ये कुछ पद्धतियां दूसरे सदस्यों के लिए ज्यादतीपूर्ण और यहां तक कि मानव अधिकारों के अतिक्रमण में प्रतीत हो सकते हैं । किंतु ये आस्था के

[1] (1995) 3 एस. सी. सी. 635.

विषय हैं । तर्क की इसमें कोई भूमिका नहीं है । भावनाओं और धारणाओं को गंभीर प्रयास द्वारा शांत किया जाना चाहिए । किंतु इस समय कोई राजाराम मोहन राय नहीं है जिन्होंने अकेले ऐसा वातावरण पैदा किया था जिससे सती उन्मूलन का रास्ता बनाया गया । न ही पंडित नेहरू की हैसियत का कोई नेतृत्व है जो सफलतापूर्वक हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और हिंदू विवाह अधिनियम के माध्यम से परंपरागत हिंदू विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सके । एक समान संहिता की वांछनीयता के प्रति मुश्किल से संदेह किया जा सकता है । किंतु इसे ठोस रूप तभी दिया जा सकता है जब समाज के संभ्रांत व्यक्तियों, नेताओं के बीच राजनेताओं द्वारा ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार किया जाए जो व्यक्तिगत लाभ से ऊपर उठें और जनमानस को परिवर्तन स्वीकार करने के प्रति सजग करें ।"

वालसम्मा पाल (पूर्वोक्त) वाले मामले का अवलंब लिया गया, जहां से विद्वान् काउंसेल ने निम्नलिखित पैरा में अभिलिखित मताभिव्यक्तियों पर बल दिया :–

"6. परस्पर प्रतिकूल दलीलों से संविधान के अनुच्छेद 16(4) और 15(4) के अंतर्गत स्वीय विधि और संवैधानिक प्रवृत्ति के बीच विरोध में सामंजस्य बैठाने का प्रश्न उद्भूत होता है । अनुच्छेद 14 और इसकी प्रजाति अनुच्छेद 15(4) और 16(4) द्वारा प्रत्याभूत 'विधि के समक्ष समता' और 'विधियों के समान संरक्षण' की अवधारणों का उद्देश्य समाज के सभी वर्गों के लिए राजनीतिक लोकतंत्र में सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित करना, प्रास्थिति में असमानता दूर करना और व्यक्ति विशेष को भी नहीं बल्कि अनुसूचित जाति (संक्षेप में दलित) अनुसूचित जनजाति (संक्षेप में जनजाति) और नागरिकों के अन्य पिछड़े वर्ग (संक्षेप में ओ. बी. सी.) के लोगों के समूहों में भी सुविधा और अवसर उपलब्ध कराना, आजीविका के पर्याप्त उपाय अर्जित करना तथा समाज के कमजोर वर्ग विशेषकर दलित और जनजाति के आर्थिक और शैक्षिक हितों का विशेष देखभाल करते हुए संवर्धन करना जिससे कि इन्हें सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से संरक्षित किया जा सके । 42वें संविधान (संशोधन) अधिनियम द्वारा यह महसूस कराने के लिए संविधान की उद्देशिका में पंथनिरपेक्ष और समाजवाद जोड़ा गया कि लोकतंत्र में जब तक समाज के सभी वर्गों को जाति, धर्म और लिंग को ध्यान दिए बिना राजनीतिक लोकतंत्र में भाग लेने के लिए

सुविधाएं और अवसर उपलब्ध नहीं किए जाते हैं तब तक राजनीतिक लोकतंत्र काफी समय तक जीवित नहीं रहेगा । डा. अम्बेडकर ने तारीख 25 नवंबर, 1949 को प्रारूप संविधान पर अपना समापन भाषण देते हुए, यह कहा कि "हमें मात्र राजनीतिक लोकतंत्र प्राप्त नहीं करना चाहिए ; हमें राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र भी बनाना चाहिए । राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं चल सकता है जब तक यह सामाजिक लोकतंत्र पर आधारित न हो ।"

सामाजिक लोकतंत्र का अभिप्राय ऐसी जीवन शैली से है जो जीवन के सिद्धांत के रूप में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व को मान्यता प्रदान करती है । ये त्रित्व के पृथक् मद नहीं है बल्कि वे त्रित्व का संगम गठित करते हैं । एक से दूसरे को अलग करना लोकतंत्र के प्रयोजन को ही विफल करना है । समता के बिना, स्वतंत्रता कई लोगों पर प्रभुत्व पैदा करेगा । स्वतंत्रता के बिना समता व्यक्तिगत पहल की हत्या करेगा । भ्रातृत्व के बिना, स्वतंत्रता और समता अपना प्राकृतिक आयाम नहीं ले सकता । अतः अनुच्छेद 15(4) और 16(4) वास्तविकता में उपलब्ध समान अवसर प्रदान करने के लिए सामाजिक और आर्थिक असमानता को दूर करना चाहते हैं । सामाजिक और आर्थिक न्याय समाज के समर्थन के लिए अनुष्ठापित अधिकार है । संविधान की उद्देशिका में परिकल्पित और मूल अधिकार तथा नीति निदेशक तत्वों में वर्धित विशेषकर संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 21, 38, 39 और 46 में सामाजिक और आर्थिक न्याय का अधिकार समाज के गरीब, वंचित और दिव्यांग नागरिकों के जीवन में गुणता लाना है । अनुच्छेद 14 का समान संरक्षण सुविधा और अवसर उपलब्ध कराकर उन असमान लोगों के लिए सकारात्मक कार्रवाई की अपेक्षा करता है । जहां अनुच्छेद 15(1) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान के आधारों पर विभेद का प्रतिषेध करता है, अनुच्छेद 15(4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 39(2) में उपबंधित के बावजूद राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों की किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या दलितों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष उपबंध करने का व्यादेश देता है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 16(1) राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता की गारंटी देता है वहीं अनुच्छेद 16(4) राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के

अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, आरक्षण का उपबंध करने के लिए व्यादेश देता है । संविधान का अनुच्छेद 335 यह निदेश देता है कि संघ या किसी राज्य के कार्यकलाप से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियां करने में, दलित और जनजातियों के सदस्यों के दावों का प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जाएगा । अतः इस न्यायालय ने यह निर्वचन किया कि अनुच्छेद 14, 15(1) और 16(1) द्वारा प्रत्याभूत समान संरक्षण इंदिरा साहनी **बनाम** भारत संघ, 1992 सप्ली. 3 एस. सी. सी. 217, मंडल मामले के नाम से ज्ञात 1992 सप्ली. 3 एस. सी. सी. 217 के बहुमत के अनुसार, संविधान के अनुच्छेद 15(4), 16(4), 38, 39, 46 और 335 को संगति के अनुसार लागू किए जाने की अपेक्षा है । दूसरे शब्दों में, समान संरक्षण हजारों वर्षों से प्रचलित अस्पृश्यता के ऐतिहासिक तथ्यों के कारण उन असमान अक्षम लोगों के लिए जिसे अनुच्छेद 17 द्वारा समाप्त कर दिया गया है ; अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण हमारी राष्ट्रीय मुख्य धारा से दूर रह रहे जनजातियों के लिए सकारात्मक कार्रवाई की अपेक्षा है ।

* * * * *

16. संविधान एक ऐसे पंथ निरपेक्ष सामाजवादी लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक नागरिक के पास जाति, वर्ग, धार्मिक अवरोध से उन्हें हटकर एक समग्र भारत में उनके बीच भ्रातृत्व की भावना पैदा करने के लिए राष्ट्र की एकता और अखंडता, व्यक्ति की गरिमा लोगों में बढ़ाने के लिए प्रास्थिति और अवसर की समता है । अतः नागरिक पर उत्कृष्टता लाने और व्यक्ति की समान प्रास्थिति और गरिमा पर बल दिया गया है । समान स्तर पर सभी नागरिकों को लोकतंत्रात्मक नीति में सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के लिए संवैधानिक दर्शन और मानव अधिकारों के प्रवर्धन के लिए, पंथनिरपेक्षता को संविधान का एक आधारभूत लक्षण अभिनिर्धारित किया गया है एस. आर. बोम्बई **बनाम** भारत संघ, (1994) 3 एस. सी. सी. 1 द्वारा और समतावादी सामाजिक व्यवस्था इसका आधार है । जब तक वर्गगत, जातिगत, धार्मिक या धार्मिक अवरोधों को पार कर लोगों को स्वतंत्र गतिशीलता की अनुज्ञा नहीं दी जाती, तब तक पंथनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना कठिन है । कर्नाटक राज्य **बनाम** अप्पा बालूइंग्ले, 1995 (सप्ली.) 4 एस. सी. सी. 469 वाले मामले में, इस न्यायालय ने पैरा 34 में यह

अभिनिर्धारित किया कि न्यायपालिका लोगों की स्वतंत्रता और अधिकारों के बुर्ज के रूप में कार्य करती है । न्यायाधीश जीवन की अबाध धारा में कठोरता और निराकारता के खतरों के बीच विधि को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय जीवन की जीवंत धारा के भागीदार हैं । न्यायाधीश को विधायक के बुद्धिमत्ता, इतिहासविद की सच्चाई की तलाश, ईश्वर की दिव्य दृष्टि, वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता, वस्तुपरखता का विनिश्चय करने के लिए भविष्य की मांगों को पूरा करने की क्षमता, व्यक्तिगत प्रभाव या पूर्व धारणाओं से स्वयं को अलग करने की क्षमता से संपन्न एक न्यायवादी होना चाहिए । न्यायाधीशों को समय की महसूस आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने निर्वचनात्मक शस्त्रागार से संविधान और अधिनियम के अधीन व्यापक अवधारणाओं के प्रयोजनात्मक निर्वचन अपनाना चाहिए । सामाजिक विधान दुराराध्य भाषा का दस्तावेज नहीं है बल्कि लोगों के जीवन को व्यवस्थित करने का साधन है । विधि का अर्थान्वयन करने के लिए व्यक्ति को इसकी भावना, इसकी व्यवस्था और इतिहास पर विचार करना चाहिए । विधि को लोगों की स्वतंत्रता का विस्तार करने में सक्षम होना चाहिए और विधिक व्यवस्था उच्च असाम्यापूर्ण सामाजिक व्यवस्था से मजबूत करते हुए परम समान सुरक्षा प्रदान कर सकती है । न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोग परिवर्तित सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अंतर्वर्ती सामाजिक मूल्यों के साथ किया जाना चाहिए । विद्यमान सामाजिक असमान्यताओं और असंतुलनों को विधि के नियम के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था का पुनः समायोजन कर हटाए जाने की अपेक्षा है । उस दशा में सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम के अधीन अधिकारों का संरक्षण करने की आवश्यकता है और अस्पृश्यता और किसी रूप में इसके आचरण को दूर करने के संवैधानिक अधिदेश को कायम रखने की आवश्यकता पर बल दिया गया था ।

* * * * *

21. संविधान ने व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए और राज्य की समतावादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए वचनबद्धता को पूरा करने के लिए अपनी उद्देशिका, मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से समता और गैर विभेद के सिद्धांत के आधार पर एक पंथनिरपेक्ष राज्य का सृजन किया । डा. के. एम. मुंशी ने संविधान सभा के पटल

पर यह दलील दी कि "हम विरासत या उत्तराधिकार के बारे में पक्षकारों के अधिकारों से धर्म से स्वीय विधि को अलग करना चाहते हैं जिसे हम सामाजिक संबंध कह सकते हैं । इनका धर्म से क्या लेना देना है, हम यह समझने में असमर्थ हैं ? हम ऐसी अवस्था में हैं जहां हमें धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप के बिना सभी साधनों से राष्ट्र को एकीकृत और संरक्षित करना चाहिए । तथापि, पहले, यदि धार्मिक प्रथाओं का ऐसा अर्थान्वयन किया गया है जो जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को आवृत्त करता हो तो हम ऐसे मोड़ पर पहुंच गए हैं जहां हमें अपना पैर नीचे रखना चाहिए और यह कहना चाहिए कि ये धार्मिक विषय नहीं हैं, ये विशुद्धतः पंथनिरपेक्ष के विधान के विषय हैं । धर्म ऐसे क्षेत्र तक निर्बंधित होना चाहिए जो विधिसम्मत रूप से धर्म से जुड़ा हो और शेष जीवन ऐसी रीति से विनियमित, एकीकृत और उपांतरित किया जाना चाहिए कि हम यथासंभव शीघ्र एक ठोस और समेकित राष्ट्र विकसित कर सकें (संविधान सभा बहस अंक 7 पृष्ठ 356-58 द्वारा) ।

*   *   *   *   *

26. मानव अधिकार व्यक्ति की गरिमा और अंतर्निहित योग्यता से व्युत्पन्न हैं । मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं को सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणाओं में दोहराया गया है । लोकतंत्र मानव अधिकारों का विकास और सम्मान तथा मूल स्वतंत्रताएं परस्पर स्वतंत्र हैं और पारस्परिकतः प्रवर्तनीय हैं । अतः बालिका सहित महिला का मूल अधिकार असंक्राम्य, अभिन्न और सार्वभौमिक मानव अधिकार का अविभाजनीय भाग है । राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में महिलाओं द्वारा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मूल अधिकार तथा समान भागीदारिता राष्ट्रीय विकास, सामाजिक और पारिवारिक स्थिरता तथा सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक वृद्धि के सहवर्ती हैं । लिंग के आधारों पर सभी प्रकार के विभेद मूल अधिकारों और मानव अधिकारों का अतिक्रमण है । महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद की उन्मूलन का अभिसमय (संक्षेप में "सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू.") की पुष्टि तारीख 18 दिसंबर, 1979 को यू.एन.ओ. द्वारा की गई और भारत सरकार ने सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू. पर सहमति तारीख 19 जून, 1993 को सक्रिय भागीदार के रूप में पुष्टि की और दोहराया कि महिलाओं के विरुद्ध विभेद समता के अधिकार और मानव गरिमा के सम्मान के सिद्धांतों का अतिक्रमण करता है और यह अपने देश के

राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में पुरुषों के साथ समान शर्तों पर भागीदारी में अड़चन डालता है ; यह संबद्ध देश और मानवता की सेवा में महिलाओं के पूर्ण विकास की संभावनाओं के लिए और कठिन बनाकर समाज और कुटुम्ब से व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालता है ।

जॉन वल्लामट्टम (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी प्रतिनिर्देश किया गया जहां से याची के विद्वान् काउंसेल ने निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों को उजागर किया :–

"42. अनुच्छेद 25 मात्र रीति रिवाज और समारोह आदि के आचरण की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान करता है जो केवल धर्म के अभिन्न भाग हैं । अतः भारत के संविधान का अनुच्छेद 25 वर्तमान मामले में लागू नहीं होगा ।

* * * * *

44. मेरे द्वारा मामले का समापन करने के पूर्व, मैं यह कहना चाहता हूं कि अनुच्छेद 44 में यह उपबंध है कि राज्य, भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा । पूर्वोक्त उपबंध इस पर आधारित है कि सभ्य समाज में धार्मिक और स्वीय विधि के बीच कोई आवश्यक संबंध नहीं है । संविधान का अनुच्छेद 25 अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है । पूर्वोक्त दो उपबंध अर्थात् अनुच्छेद 25 और 44 यह उपदर्शित करते हैं कि पहला धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है जबकि बाद वाला धर्म को सामाजिक संबंध और स्वीय विधि से वंचित करता है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवाह, उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष प्रकृति के ऐसे मामलों को संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 में अनुष्ठापित गारंटी के भीतर नहीं लाया जा सकता । ऐसा कोई विधान जो उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष प्रकृति के समान मामलों को अनुच्छेद 25 और 26 की परिधि के भीतर लाता है, एक संदेहास्पद विधान है, यद्यपि यह संदेहपूर्ण है कि क्या संदिग्ध विधान के अमेरिकी सिद्धांत का पालन इस देश में किया गया है । सरला मुद्गल **बनाम** भारत संघ (1995) 3 एस. सी. सी. 635 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया कि विवाह, उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष के समतुल्य मामलों को संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन

अनुष्ठापित प्रत्याभूति के भीतर नहीं लाया जा सकता । यह खेद का विषय है कि संविधान के अनुच्छेद 44 को प्रभावी नहीं बनाया गया है । संसद् को देश में समान सिविल संहिता विरचित करने का अभी कदम उठाना है । समान सिविल संहिता सिद्धांतों पर आधारित विरोधों को दूर कर राष्ट्रीय एकता बनाने में सहायक होगी ।"

सबसे अंत में हमारा ध्यान **सी. मसिलामणि मुदालियर** (उपर्युक्त) वाले मामले की ओर आकृष्ट किया गया जिससे इस प्रकार अवलंब लिया गया :–

"15. यह देखने में आया है कि यदि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकार और निदेशक सिद्धांतों में अनुष्ठापित व्यक्ति की समता और गरिमा के अधिकार जो सामाजिक हैसियत या लिंग के आधारों पर ही विभेद या निर्योग्यता को हटाने की आशय के तृत्व हैं, ने ऐसे पूर्व विद्यमान अड़चनों को हटा दिया जो समाज के कमजोर वर्गों या महिलाओं के रास्ते में थे । एस. आर. बोम्बई **बनाम** भारत संघ (1994) 3 एस. सी. सी. 1 वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उद्देशिका संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग है । व्यक्ति की गरिमा के साथ न्याय, समता और स्वतंत्रता के तृत्व को जीवित रखने के लिए विधि के नियमों के अधीन ही अड़चनों को दूर किया जाना चाहिए । महिलाओं को अवरतम हैसियत प्रदान करने वाली स्वीय विधियां समता के प्रति अभिशाप हैं । स्वीय विधियां संविधान से नहीं बल्कि धर्म ग्रंथों से व्युत्पन्न हैं । इस प्रकार व्युत्पन्न विधियां संविधान से संगत होनी चाहिए अन्यथा वे अनुच्छेद 13 के अधीन शून्य हो जाएंगी यदि वे मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है । समता का अधिकार एक मूल अधिकार है अतः संसद् ने हिंदू महिलाओं के उनके पूर्ण स्वामित्व के बिना संपत्ति के अधिकार से सीमित करते हुए पूर्व विद्यमान निर्योग्यता को हटाने के लिए धारा 4 का अधिनियमन किया । विभेद को धारा 14क के साथ स्पष्टीकरण जोड़ते हुए हिंदू महिला द्वारा संपत्ति की अर्जन की व्याप्ति को बढ़ाकर उपचार प्रदान किए जाने की ईप्सा की गई है ।"

168. हमने पूर्वगामी पैरा में ध्यान दिए गए निवेदनों पर गहनतापूर्वक विचार किया । हमारा यह मत है कि पक्षपोषित विषय का अवधारण करने में अनुच्छेद 25 और 44 के तात्पर्य और सार को समझना होगा । अब हम

पूर्वोक्त उपबंधों पर विचार करने का प्रयास करेंगे ।

169. सुनवाई के दौरान हमारा ध्यान, अनुच्छेद 25 (प्रारूप अनुच्छेद 19) के प्रतिनिर्देश से संविधान सभा बहस की ओर आकृष्ट किया गया । बहस से यह प्रकट होता है कि संविधान सभा के सदस्य "स्वीय विधि" और "सिविल संहिता" के बीच अंतर को स्पष्टतः समझते थे । "स्वीय विधि" को समुदायों के सदस्यों की प्रथाओं पर आधारित होने के रूप में माना जाता है । यह स्वयं समुदाय तक ही सीमित था और अन्य समुदायों के सदस्यों को प्रभावित नहीं करता । दूसरी ओर, "सिविल संहिता" का असीमित दायरा है । यह माना जाता है कि "सिविल संहिता" भू-भाग के प्रत्येक नागरिक को लागू होगा चाहे वह किसी भी समुदाय का हो । जहां तक स्वीय विधि का संबंध है इसे सदियों से विशिष्ट समुदायों के सदस्यों द्वारा अपनाई गई प्रथाओं से उद्‌भूत माना जाता है । सभा के केवल सदस्य जिन्होंने बहस के दौरान अपनी प्रस्तुति दी (मोहम्मद इस्माईल साहिब) ने यह कहा, "स्वीय विधि अपनाने की यह प्रथा लोगों में सदियों से चली आ रही है । हम इस संशोधन के अधीन यह चाहते हैं कि प्रथा में अब हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए और मैं प्रथा को केवल चलते रहने देना चाहता हूं जो सदियों से लोगों के बीच चली आ रही है......... । इस संशोधन के अधीन इस सदन से जो मैं स्वीकार करने की इच्छा रखता हूं यह है कि जब हम राज्य से धर्म के पंथनिरपेक्ष पहलू के प्रतिनिर्देश से कोई बात करने के बारे में कहते हैं तो स्वीय विधि का प्रश्न नहीं लाया जाएगा और यह प्रभावित नहीं करेगा .... । व्यक्ति की अपनी आस्था को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का प्रश्न एक ऐसा अधिकार है जो मानव के पास आरंभ से ही था और जिसे इस भूमि में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में प्रत्येक मानव के असंक्राम्य अधिकार के रूप में माना जाता है और मैं यह समझता हूं कि मानव के रूप में मनुष्य के उस अधिकार को प्रभावित करने के लिए कुछ नहीं किया जाना चाहिए । अनुच्छेद का वह भाग जैसा वह है ठीक से शब्दांकित किया गया है और इसे वैसा ही होना चाहिए जैसा यह है ।" यह स्पष्ट है कि **सरला मुदग्ल** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त स्थिति स्पष्टतः संविधान सभा में बहस के दौरान उपर्युक्त प्रतिपादना को दोहराती है । (मोहम्मद इस्माईल साहिब के) उपर्युक्त कथन को उत्तर लक्ष्मीकांत मित्र द्वारा दिया गया जिन्होंने यह मत व्यक्त किया, "प्रारूप संविधान का यह अनुच्छेद 19 सभी व्यक्तियों को ऐसा किसी धर्म जिसे वे पसंद करते हैं को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार प्रदान करता है, किंतु यह अधिकार कतिपय शर्तों द्वारा सीमित किया गया है जो राज्य सार्वजनिक

नैतिकता, लोक व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य के हितों में अधिरोपित करने के लिए स्वतंत्र होगा और यह भी जहां तक यह प्रदत्त अधिकार किसी तरह से संविधान के भाग के अधीन वर्णित अन्य उपबंधों के प्रतिकूल न हो । हमारे कुछ मित्रों ने यह तर्क किया कि मात्र इस कारण इस प्रारूप में संविधान में इस अधिकार को अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि हमने बार-बार यह घोषित किया है कि यह एक पंथनिरपेक्ष राज्य होने जा रहा है और इस प्रकार धर्म की प्रथा को मूल अधिकार के रूप में अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए । आगे यह तर्क किया गया कि विशिष्ट आस्था या धर्म का प्रचार करने का अतिरिक्त अधिकार प्रदत्त कर सभी प्रकार की परेशानियों और विरोधों के लिए दरवाजा खोल दिया जाता है जो अंततोगत्वा राज्य के सामान्य जीवन को नष्ट कर देगी । तत्काल हम यह भी कहना चाहते हैं कि पंथनिरपेक्ष की यह अवधारणा पूर्णतः दोषपूर्ण है । पंथनिरपेक्ष राज्य द्वारा, जैसा कि हम समझते हैं, इसका यह अभिप्राय है कि राज्य धार्मिक आस्था के किसी विशिष्ट रूप को मानने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध धर्म या समुदाय के आधार पर किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं करने जा रहा है । सारतः इसका यह अभिप्राय है कि राज्य का कोई विशिष्ट धर्म किसी प्रकार का कोई राज्य संरक्षण प्राप्त नहीं करेगा । राज्य अन्य के अपवर्जन या अधिमान्य किसी विशिष्ट धर्म को स्थापित, संरक्षित या स्थायी निधि देने नहीं जा रहा है और यह कि राज्य का कोई नागरिक मात्र इस आधार पर कोई अधिमानी बर्ताव नहीं प्राप्त करेगा या उसके विरुद्ध विभेद नहीं किया जाएगा कि वह धर्म के किसी विशिष्ट रूप को मानता है .... । वहीं हमें यह विचार करते समय बहुत सावधानी बरतनी होगी कि हमारे देश में हम किसी को न केवल मानने या आचरण करने के अधिकार बल्कि किसी विशिष्ट धर्म को प्रचारित करने के अधिकार से वंचित न करें ... । अतः मैं यह महसूस करता हूं कि संविधान ने ठीक ही न केवल अधिकार बल्कि मूल अधिकार के रूप में इसका उपबंध किया है । इस मूल अधिकार का प्रयोग करते हुए किसी धर्म को मानने वाले इस राज्य में रह रहे प्रत्येक समुदाय को जो कुछ वह चाहता है उसके धर्म के अनुसार समान अधिकार या करने की समान सुविधाएं होंगी, बशर्ते यह यहां अधिकथित शर्तों के विरोध में न हों ।

170. अनुच्छेद 25 के प्रतिनिर्देश से संविधान सभा की बहस से किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी कि संविधान निर्माता स्वीय विधि को मूल अधिकार का भाग बनाना चाहते थे । राज्य को यह स्वतंत्रता थी कि वे सामाजिक सुधार करें । इस प्रक्रम पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि

वलसम्मा पाल (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय वर्तमान संविवाद का आधार नहीं हो सकता क्योंकि यह ऐसी स्वीय विधि से उद्भूत मुद्दों पर विचार नहीं करता जो संवैधानिक संरक्षण का उपभोग करते हैं । यह अभिलिखित करने की भी आवश्यकता है कि **जॉन वल्लामट्‌म** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय यह व्यक्त करता है कि ऐसी प्रकृति के मामले में विधान के माध्यम से विचार किए जाने की आवश्यकता है और इस प्रकार उपर्युक्त निर्णय में व्यक्त मत याचियों के हेतुक को आगे बढ़ाने में कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकता ।

171. अनुच्छेद 44 के बारे में, संविधान सभा के भी बहस सुसंगत हैं । हम प्रारूप अनुच्छेद 25 (जो अनुच्छेद 44 के रूप में अधिनियमित किया गया) का उल्लेख करते हैं । अनुच्छेद, राज्य से एक समान सिविल संहिता बनाने का प्रयास करने की अपेक्षा करता है । ऐसे सदस्य जिन्होंने संविधान सभा की चर्चा के दौरान उपबंध पर बहस किया, ने यह पक्षपोषित किया कि धार्मिक समुदायों के समूहों और वर्गों को उनकी निजी स्वीय विधि का पालन करने का अधिकार दिया जाए (मोहम्मद इस्माईल साहिब), जैसा कि यह महसूस किया गया कि स्वीय विधि में हस्तक्षेप लोगों की जीवनशैली और धर्म में हस्तक्षेप करने के समान होगा । यह भी तर्क किया गया कि (नजीरूद्दीन अहमद द्वारा) अनुच्छेद 25 (प्रारूप अनुच्छेद 19) के माध्यम से संरक्षण के रूप में जिसका विस्तार किया गया, अर्थात्, "सभी व्यक्ति अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता के समानतः हकदार हैं' ....। अनुच्छेद 44 द्वारा छीने जाने की ईप्सा की गई । ऐसी स्थिति को उजागर किया गया कि सभी धार्मिक प्रथाओं को विधि की परिधि से परे रखा जाना चाहिए । संविधान सभा के एक सदस्य (महमूद अली बेग साहिब बहादुर) ने कहा कि अनुच्छेद में एक समान सिविल संहिता में स्वीय विधि सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए । उन्होंने यह प्राख्यान करते हुए एम. अनंत सैनम अटयंगर के सुझावों का खंडन किया कि 1350 वर्षों से प्रचलित मुस्लिम प्रथाओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता । एक अन्य सदस्य - पोकर साहिब बहादुर ने मोहम्मद इस्माईल साहिब के सुझाव का समर्थन किया । उनके द्वारा प्रस्तुत प्रश्न यह था कि " .... क्या स्वतंत्रता द्वारा हमने इस देश को अभिप्राप्त किया है, क्या हम अंतःकरण की स्वतंत्रता और धार्मिक प्रथाओं की स्वतंत्रता, और अपनी निजी स्वीय विधि को अपनाने की स्वतंत्रता को छोड़ते जा रहे हैं ....।" किंतु इन सभी निवेदनों को अस्वीकार कर दिया गया । इन सबसे यह स्पष्ट सोच प्रकट होती है कि संविधान विद्वान्

महान्यायवादी द्वारा दिए गए निर्णयों में व्यक्त विकृतियों का उपचार करने और शांत करने के लिए राज्य से एक समान सिविल संहिता का उपबंध करने की अपेक्षा करती है ।

172. इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि स्वीय विधि को संविधान में मूल अधिकार की हैसियत तक उत्थापित किया गया है और स्वीय विधि इस प्रकार प्रवर्तनीय है जैसा वह है । सभी संविधानिक न्यायालय सभी मूल अधिकारों (संविधान के भाग 3 में सम्मिलित) के संविधानिक संरक्षक हैं । अतः यह सभी न्यायालयों का संवैधानिक कर्तव्य है कि वे सभी मूल अधिकारों को संरक्षित, सुरक्षित और प्रवर्तित करें, और कोई अन्य रास्ता नहीं है । न्यायालय के लिए किसी कारण या तर्क के आधार पर असंवैधानिक (या विधि में अस्वीकार्य) घोषित करने के किसी अनुरोध को स्वीकार करना न्यायिकतः अविचारणीय नहीं है जिसे संविधान मूल अधिकार के रूप में घोषित करता है । क्योंकि अनुरोध को स्वीकार करने की दशा में, यह न्यायालय अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्ततः संरक्षित अधिकारों का इनकार करेगा ।

173. भारतीय संविधान के उपबंधों पर अमेरिकी संविधान से उद्भूत अवधारणाओं को स्वीकार करना संभव नहीं है । अतः, वर्तमान संविवाद के विनिश्चय के आधार पर तब सारवान् सम्यक् प्रक्रिया को निर्दिष्ट करना संभव नहीं है जब भारतीय संविधान के अधीन वर्तमान विषय पर व्यक्त उपबंध उपबंधित हैं । यह भी संविधान के अधीन पढ़ना संभव नहीं है जिसे संविधान सभा ने सोच-समझकर और विचारपूर्वक अपवर्जित किया है (या व्यक्ततः सम्मिलित किए गए उपबंधों की अनदेखी की) । कोई यू.एस. उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों का प्रतिनिर्देश नहीं कर सकता, यद्यपि भारत के संविधान और विधियों के उपबंधों के अनुरूप हेतुक के समर्थन में अनुनयकारी प्रभाव के लिए उन पर विचार करने में कोई कठिनाई नहीं है । वस्तुतः यह न्यायालय भारत के उच्चतम न्यायालय के निर्णयों द्वारा आबद्ध है जो संविधान के अनुच्छेद 141 के निबंधनानुसार विधि की आबद्धकारी घोषणाएं हैं ।

174. याचियों का प्रतिनिधित्व कर रहे लोगों द्वारा इस न्यायालय को किए गए अनुरोध का यह आधार कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा संवैधानिक नैतिकता की अवधारणा के अतिक्रमण में है, स्वीकार नहीं किया जा सकता और तद्नुसार खंडित किया जाता है ।

(viii) भारत में 'स्वीय विधि' के सुधार

175. हमारे विचार से, "स्वीय विधि" से विशुद्धतः संबंधित विषयों से संबंधित भारत में विस्तृत विधान का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है और विशेषकर विवाह और विवाह-विच्छेद से संबंधित मुद्दों को अर्थात् ऐसे विषय जो विशुद्धतः स्वीय विधि की परिधि के भीतर हैं ।

176(i) इस संदर्भ में, सर्वप्रथम भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है । विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के कथनों में ऐसे प्रयोजन का रेखांकन किया गया है जिनका अधिनियमिति के माध्यम से प्राप्त किया जाना ईप्सित था । उसके सुसंगत भाग को यहां दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन –

भारतीय विवाह-विच्छेद विधेयक का उद्देश्य उच्च न्यायालयों द्वारा अपनी प्रारंभिक अधिकारिता के प्रयोग में प्रशासित वैवाहिक विधि को वही आधार प्रदान करने का है जो कि इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद तथा विवाह-विषयक मामलों के न्यायालय द्वारा प्रशासित वैवाहिक विधि का है ।

भारत में उच्च न्यायालयों को स्थापित करने के लिए संसद् के अधिनियम (24 और 25 विक्टोरिया, अध्याय 104) की धारा 9 में उपबंधित है कि उच्च न्यायालय ऐसी वैवाहिक अधिकारिता का प्रयोग करेंगे जो हर मजेस्टी लैटर्स पेटेंट द्वारा अनुज्ञात और निर्दिष्ट करे । संसद् द्वारा इस प्रकार प्रदत्त प्राधिकार के अधीन, लैटर्स पेटेंट की धारा 35 में, जो कि उच्च न्यायालयों का गठन करती है, निम्नलिखित उपबंध किया गया है –

"और हम इसके बाद यह व्यादेश देते हैं कि बंगाल में फोर्ट विलियम स्थित उक्त उच्च न्यायालय को क्रिश्चियन धर्म मानने वाले हमारे नागरिकों के बीच वैवाहिक मामलों में अधिकारिता होगी और यह कि ऐसी अधिकारिता का विस्तार उन स्थानीय परिसीमाओं तक होगा जिनके भीतर जब उच्चतम न्यायालय को चर्च की अधिकारिता प्राप्त है । परंतु यह सदैव होगा कि इसमें अंतर्विष्ट किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि यह उक्त प्रेसिडेंसी के भीतर रायल चार्टर द्वारा स्थापित न की गई किसी न्यायालय द्वारा वैवाहिक मामलों में, जो उसके विधिपूर्ण

है, हस्तक्षेप करती है ।"

सेक्रेटरी आफ स्टेट की डाक, जिस द्वारा लैटर्स पेटेंट भेजा गया था, पैरा 33 और 34 निम्नलिखित रूप में है –

33. "हर मजेस्टी की सरकार प्रेसिडेंसी के भीतर क्राउन के क्रिश्चियन नागरिकों को उच्च न्यायालय के अधीन साधारणतः वैवाहिक मामलों में वही स्थिति प्रदान करना चाहती है जो उनकी अब उच्चतम न्यायालय के अधीन है और उनके विचार से यह चार्टर के खंड 35 द्वारा प्रभावी की जाएगी । किंतु वे यह समीचीन समझते हैं कि उच्च न्यायालय को इसके अतिरिक्त विवाह-विच्छेद की डिक्री देने की भी शक्ति होनी चाहिए जो कि उच्चतम न्यायालय की नहीं है, दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय को वही अधिकारिता होनी चाहिए जो कि अधिनियम 20 और 21 विक्टोरिया अध्याय 85 के आधार पर स्थापित इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद तथा विवाह विषयक मामलों की है और जिनके संबंध में और आगे उपबंध 22 और 23 विक्टोरिया अध्याय 61 तथा 23 और 24 विक्टोरिया अध्याय 144 द्वारा किए गए हैं तथापि, उच्च न्यायालयों की स्थापना करने के लिए संसद् का अधिनियम, क्राउन को यह शक्ति देने का अध्युपाय नहीं करता कि वह चार्टर में विवाह-विच्छेद न्यायालय अधिनियम के सभी उपबंधों को मान ले और उनमें से कुछ को तो क्राउन स्पष्ट रूप से इस प्रकार ला भी नहीं सका है, उदाहरणार्थ, वे जो पुनर्विवाह की अवधि विहित करते हैं तथा जो उन पदार्थों को उत्पादन से छूट प्रदान करते हैं जो जारकर्म करने वालों का पुनर्विवाह करने से इनकार करते हैं । वास्तव में ये सभी विषय भारतीय विधान-मंडल के लिए हैं और मैं यह निवेदन करता हूं कि आप तुरंत इस विषय पर विचार करेंगे तथा अपनी काउंसिल में, इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद न्यायालय की अधिकारिता और शक्तियां उच्च न्यायालय को प्रदान करने के लिए एक विधेयक पेश करेंगे जिस विधेयक में एक उपबंध उन मामलों में जिनमें विवाह-विच्छेद न्यायालय अधिनियम, हाउस आफ लार्ड्स को अपील अनुज्ञात करता है, प्रिवी कौंसिल को अपील अनुज्ञात करने के लिए होना चाहिए ।"

34. "खंड 35 के अंत में दिए गए उपबंध का उद्देश्य किसी ऐसे संदेह को दूर करने का है जो संभवतः इस बारे में पैदा हो कि क्या इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद तथा विवाह विषयक मामलों के न्यायालय की शक्तियां उच्च न्यायालय में निहित करने का आशय प्रेसिडेंसी के

खंड के भीतर के उन न्यायालयों को जो रायल चार्टर द्वारा स्थापित नहीं किए गए हैं, ऐसी कोई अधिकारिता से वंचित करने का है जो उनकी वैवाहिक मामलों में हो सकती हैं, उदाहरणार्थ, आर्मेनियन या देशी क्रिश्चियनों के बीच निर्वाह-व्यय संबंधी वाद । ऐसी किसी अधिकारिता में उसका हस्तक्षेप करने का आशय नहीं है ।"

सेक्टेरी आफ स्टेट द्वारा वर्णित संसद् के उस अधिनियम के अतिरिक्त जो इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद न्यायालय की अधिकारिता को विनियमित करता है, कानून 25 और 26 विक्टोरिया अध्याय 81 को अभी समाप्त हुए वर्ष (1862) में पारित किया गया है । इस कानून का उद्देश्य 23 और 24 विक्टोरिया अध्याय 144 को, जिसकी अस्तित्वावधि मूलतः दो वर्ष के लिए सीमित की गई थी, शाश्वत बनाना है ।

एक विधयेक का प्रारूप सेक्रेटरी आफ स्टेट के अनुदेशों को प्रभावी करने के लिए तैयार किया गया है । किंतु प्रक्रिया के बारे में इंग्लैंड के कानून से कुछ परिवर्तनों को अंगीकार किया गया है । अधिकारिता की विभिन्न शाखाओं में व्यावहारिक एकरूपता लाने की दृष्टि से विधेयक में यह उपबंध है कि इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद और विवाह-विषयक मामलों के लिए हर मजेस्टी के न्यायालय के नियमों के स्थान पर सिविल प्रक्रिया संहिता की प्रक्रिया का पालन किया जाएगा और उसमें जूरी द्वारा तथ्य संबंधी प्रश्नों के आमतौर पर विचारण किए जाने से संबंधित 20 और 21 विक्टोरिया अध्याय 85 के उपबंध का लोप किया गया है ।

(ii) विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 की धारा 10 में विवाह के विघटन के आधार उपबंधित हैं । इसे यहां नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

"10. विवाह के विघटन के आधार – (1) कोई विवाह चाहे यह भारतीय विवाह-विच्छेद (संशोधन अधिनियम, 2001) के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित हो, पति या पत्नी द्वारा जिला न्यायालय को दी गई अर्जी पर इस आधार पर विघटित किया जा सकेगा कि विवाह के अनुष्ठापन से प्रत्यर्थी –

(i) जारकर्म का प्राप्त किया है ;

(ii) किसी धर्म के संपरिवर्तन द्वारा ईसाई नहीं रह गया है;

(iii) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व दो वर्ष से अन्यून

समय की लगातार अवधि से असाध्य विकृतचित है ; या

(iv) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व दो वर्ष से अन्यून समय से कुष्ठ रोग के असाध्य रोग से ग्रस्त रहा है ; या

(v) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व संक्राम्य रूप के यौन रोग से ग्रस्त रहा है ; या

(vi) ऐसे व्यक्तियों द्वारा सात वर्ष या अधिक समय से जीवित होने के बारे में नहीं सुना गया है जिनके द्वारा प्रत्यर्थी के बारे में स्वाभाविक रूप से सुना होता यदि प्रत्यर्थी जीवित रहता; या

(vii) विवाह का संभोग करने से जानबूझकर इनकार किया और इस प्रकार विवाह का संभोग नहीं किया गया है ;

(viii) प्रत्यर्थी के विरुद्ध डिक्री पारित करने के पश्चात् दो वर्ष से या अधिक की अवधि के लिए दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री का अनुपालन करने में असफल रहा है ; या

(ix) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व कम से कम दो वर्ष तक याची अधित्यजित रहा है ; या

(x) याची के साथ ऐसी क्रूरता का बर्ताव किया है जिससे याची की मस्तिष्क में यह युक्तियुक्त आशंका पैदा हो कि प्रत्यर्थी के साथ याची का रहना अपहानिकर या खतरनाक होगा ।

(2) पत्नी इस आधार पर अपने विवाह के विघटन की अर्जी भी पेश कर सकेगी कि पति विवाह के अनुष्ठापन से ही बलात्संग, गुदा मैथुन या पशुगमन का दोषी रहा है ।

(iii) उपर्युक्त के अलावा अतिरिक्त संशोधन के परिणामस्वरूप इसमें धारा 10क सहमति द्वारा विवाह के विघटन का उपबंध करने के लिए जोड़ी गई । यह उजागर करना ईप्सित है कि भारत में ईसाई आस्था का अनुगमन करने वालों में भी विवाह-विच्छेद का उपबंध करने के लिए विधान की अपेक्षा थी । वर्तमान विधान में इन आधारों का उपबंध है जिन पर ईसाई पति और पत्नियां विवाह-विच्छेद अभिप्राप्त कर सकती हैं ।

177. (i) भारत में पारसी, ईरानीयन प्रोफेट जोरोस्टर के अनुयायी हैं ।

जैसा कि कहा गया है कि पारसी ईरान से मुस्लिमों द्वारा धार्मिक उत्पीड़न से बचने के लिए भारत में प्रवर्जित हो गए । भारत के पारसी, विवाह और विवाह-विच्छेद के विषय में अपनी स्वीय विधि द्वारा शासित थे । पहली बार वर्ष 1865 में पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया गया । मूल अधिनियमिति में सारवान् संशोधन करने के पश्चात् इसके स्थान पर पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1936 रखा गया । पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1936 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में स्पष्टतः उक्त स्थिति प्रदर्शित होती है । इसे नीचे दोहराया जा रहा है :—

> "उद्देश्यों और कारणों का कथन
>
> इस समय प्रवृत्त पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1865 में पारित किया गया था । तब से परिस्थितियां बहुत बदल गई हैं और पारसी समुदाय की भावनाओं और विचारों में भी कुछ बदलाव आया है । अतः वर्षों से विधि में कुछ तब्दीली करने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था । पारसी केंद्रीय संगम ने वर्ष 1923 में यह प्रश्न उठाया था और संशोधनों का सुझाव देने के लिए एक उपसमिति का गठन भी किया था । उपसमिति ने एक रिपोर्ट पेश की जिसे संगम ने मुद्रित कराया और मुंबई और मुंबई के बाहर बहुत से अन्य पारसी संगमों और समुदाय के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को उनकी राय जानने के लिए परिचालित किया । बहुत से सुझाव प्राप्त हुए थे जिनमें मुंबई पारसी पंचायत के न्यासियों को सुझाव भी था जिसे अन्य सुझाव देखने का लाभ मिला था । केंद्रीय संगम ने पंचायत न्यासियों के सुझावों को अंगीकार किया और पूरे को पुनः मुद्रित कर परिचालित कराया । संगमों और व्यष्टियों द्वारा समाचारपत्रों और मंचों पर नए सुझाव दिए गए । उन पर न्यासियों और संगम द्वारा पूरा विचार किया गया और वर्तमान प्रारूप उसी का परिणाम है । कुल मिलाकर यह समुदाय के बहुसंख्यक लोगों के दृष्टिकोण को प्रकट करता है और सर दीनशा ई. वाचा और स्वर्गीय सेवानिवृत्त माननीय सर दीनशा एफ. मुल्ला जैसे महत्वपूर्ण पारसियों द्वारा भी इसे अनुमोदित किया गया है ।

(ii) पूर्वोक्त अधिनियमिति का अध्याय 2 पारसियों के बीच विवाहों के विषय के बारे में है । धारा 3 में विधिमान्य पारसी विवाह की अपेक्षाओं का उपबंध है । धारा 6 विवाह के प्रमाणपत्र की अपेक्षा का उल्लेख करती है ।

अध्याय 4 में विभिन्न प्रकार के विवाह विषय वादों का उपबंध है जिसमें धारा 30 अकृतता के लिए वादों के बारे में है । धारा 31 विवाह के विघटन के लिए वादों का उपबंध करती है । विवाह-विच्छेद के आधार धारा 32 में वर्णित है जिसे यहां नीचे दोहराया जा रहा है :–

32. विवाह-विच्छेद के आधार - कोई भी विवाहित व्यक्ति निम्नलिखित आधारों में से किसी एक या अधिक पर विवाह-विच्छेद के लिए वाद ला सकेगा, अर्थात् –

(क) विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् प्रतिवादी द्वारा जानबूझकर विवाहोत्तर संभोग करने से इनकार करने के कारण एक वर्ष के भीतर विवाहोत्तर संभोग नहीं हो पाया है ;

(ख) प्रतिवादी विवाह के समय विकृतचित्त था और वाद की तारीख तक प्रायः ऐसा ही रहा है :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा जबकि – (1) वादी, विवाह के समय उस तथ्य के बारे में अनभिज्ञ था, और (2) वादी ने विवाह की तारीख से तीन वर्ष के भीतर वाद फाइल कर दिया है ;

(खख) प्रतिवादी वाद फाइल किए जाने के, ठीक पूर्व दो वर्ष या उससे अधिक की अवधि के असाध्य रूप से विकृतचित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि वादी से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रतिवादी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – इस खंड में, –

(क) "मानसिक विकार" पद से मानसिक बीमारी मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत विखंडित मनस्कता भी है ;

(ख) "मनोविकृति" पद से मस्तिष्क या दीर्घ-स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की अवसामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिवादी का आचरण सामान्य रूप से आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है,

2017(8) eILR(PAT) SC 110

और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं;

(ग) प्रतिवादी विवाह के समय वादी से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा गर्भवती थी :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा, जबकि (1) वादी विवाह के समय अभिकथित तथ्य के बारे में अनभिज्ञ था, (2) वाद-विवाद की तारीख से दो वर्ष के भीतर फाइल कर दिया गया है, और (3) वादी को उस तथ्य की जानकारी हो जाने के पश्चात् वैवाहिक संभोग नहीं किया गया है ;

(घ) प्रतिवादी विवाह के पश्चात् जारकर्म या व्यभिचार या द्विविवाह या बलात्संग या कोई अप्राकृतिक अपराध किया है :

परंतु वाद वादी को उस तथ्य की जानकारी होने के दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद नहीं किया जाएगा ;

(घघ) यह कि प्रतिवादी ने विवाह के अनुष्ठापन के समय से ही वादी के साथ क्रूरता का व्यवहार किया है या इस रूप में आचरण किया है जिससे वादी को प्रतिवादी के साथ रहने के लिए बाध्य करना न्यायालय की राय में अनुचित होगा :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद के प्रत्येक वाद के न्यायालय को यह विवेकाधिकार होगा कि वह डिक्री विवाह-विच्छेद के लिए मंजूर करे या केवल न्यायिक पृथक्करण के लिए ;

(ङ) प्रतिवादी ने विवाह के पश्चात् वादी की स्वेच्छया घोर उपहति की है, या उसने वादी को रतिज रोग संक्रांत किया है या जहां प्रतिवादी पति है, वहां उसने पत्नी को वेश्यावृत्ति के लिए विवश किया है :

(i) घोर उपहति करने के, या

(ii) वादी को संक्रामण की जानकारी होने के, या

(iii) वेश्यावृत्ति के लिए अंतिम बार विवश किए जाने के, दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है ;

(च) प्रतिवादी भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) में परिभाषित किसी अपराध के लिए सात वर्ष या उससे अधिक के लिए कारावास का दंड भोग रहा है :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा जब प्रतिवादी वाद फाइल करने के पूर्व उक्त अवधि में से कम से कम एक वर्ष का कारावास भोग चुका हो ;

(छ) प्रतिवादी ने कम से कम दो वर्ष के लिए वादी का अभित्यजन किया है;

(ज) प्रतिवादी के विरुद्ध वादी को पृथक् भरणपोषण के लिए मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश पारित किया जा चुका है, और वह पक्षकारों ने ऐसी डिक्री का आदेश से दो वर्ष या उससे अधिक तक वैवाहिक संभोग नहीं किया है ;

(ञ) प्रतिवादी किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तन के कारण पारसी नहीं रह गया है :

परंतु यदि वाद वादी को उस तथ्य की जानकारी होने के दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद नहीं किया जाएगा ।

(iii) उपर्युक्त के अलावा, संशोधन द्वारा पुरःस्थापित धारा 32ख में पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध है और धारा 34 में न्यायिक पृथक्करण के लिए वाद का उपबंध है और धारा 36 में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए वाद का उपबंध है ।

178. (i) विशेष विवाह अधिनियम, 1872 में परस्पर धर्म के विवाह का उपबंध है । इसके स्थान पर विशेष विवाह अधिनियम, 1954 रखा गया । इसके उद्देश्यों और कारणों के कथन को यहां दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन

इस विधेयक द्वारा विशेष विवाह अधिनियम, 1872 का पुनरीक्षण और प्रतिस्थापन किया गया है जिससे एक विशेष रूप के विवाह का उपबंध किया जा सके जिसका फायदा, भारत में किसी व्यक्ति द्वारा और विदेशों में सभी भारतीय राष्ट्रिकों द्वारा उठाया जा सके, बिना इस बात को ध्यान में रखे कि विवाह का कोई भी पक्षकार किस धर्म को मानता है । पक्षकार अपने विवाह के अनुष्ठापन के लिए किन्हीं धर्म

क्रियाओं का पालन कर सकता है परंतु विवाह अधिकारियों द्वारा विवाह को रजिस्ट्रीकृत किए जाने से पूर्व कतिपय औपचारिकताएं विहित की गई हैं । विदेशों में भारतीय नागरिकों के फायदे के लिए, विधेयक में 9 विदेश में भारत के नागरिकों के बीच विवाहों के अनुष्ठापन और रजिस्ट्रीकरण के लिए राजनयिक और कौंसलीय अधिकारियों को विवाह अधिकारियों के रूप में नियुक्ति का उपबंध है ।

2. ऐसे व्यक्तियों, जो विवाह के अन्य रूपों के अधीन पहले से विवाहित हैं, को भी इस अधिनियम के अधीन अपने विवाहों को रजिस्ट्रीकृत करवाने की अनुज्ञा देने और इस प्रकार इन उपबंधों का उपभोग करने का उपबंध किए जाने का भी प्रस्ताव है ।

3. उक्त विधेयक का प्रारूपण साधारणतया विद्यमान विशेष विवाह अधिनियम, 1872 के आधार पर किया गया है और इससे संलग्न खंडों पर टिप्पण विधेयक में किए गए परिवर्तनों को अधिक ब्यौरे के साथ स्पष्ट करता है ।

(ii) विशेष विवाहों के अनुष्ठापन के विषय का उपबंध उपर्युक्त अधिनियमिति की धारा 4 में है । धारा 4 विशेष विवाहों के अनुष्ठापन से संबंधित शर्तों का अधिकथन करती है जो विवाह करने की इच्छा रखने वाले पक्षकारों को नोटिस की अपेक्षा करती है जिसकी प्रक्रिया और शर्तों का उल्लेख धारा 5 में है । अधिनियमिति के उपबंध विवाह नोटिस बही में नोटिस की प्रति प्रविष्ट करने और विवाह अधिकारी के कार्यालय में किसी दृश्य स्थल पर उसकी प्रति लगाकर उसका प्रकाशन करने की अपेक्षा करता है । अनुध्यात विवाह की आपत्तियां धारा 7 के अधीन दी जा सकती हैं । ऐसी रीति जिसमें आपत्तियों पर विचार किया जाता है का उपबंध धारा 8, 9 और 10 में है । अधिनियमिति की अध्याय 2 में अनुध्यात औपचारिकताओं के समापन के परिणामस्वरूप पक्षकारों को उनके विवाह संपन्न कराने की अनुज्ञा दी जाती है जिसके लिए विवाह अधिकारी एक विवाह प्रमाणपत्र जारी करेगा जिसे इस तथ्य का निश्चायक साक्ष्य माना जाएगा कि पक्षकारों ने विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के उपबंधों के अधीन विवाह कर लिया है ।

(iii) ऐसे पक्षकार जिन्होंने विभिन्न धर्मों के अधीन संचालित विवाहों के समारोह द्वारा वैवाहिक गठजोड़ कर लिया है और साथ-साथ रह रहे हैं, को भी विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 15 के अधीन उनके

विवाह को रजिस्टर करने की भी अनुज्ञा दी जाती है ।

(iv) अधिनियमिति का अध्याय 4 अधिनियम के अधीन विवाह के परिणामों के बारे में विचार करता है । अध्याय 5 में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन और न्यायिक पृथक्करण के उपचार का उपबंध है । अध्याय 6 शून्य और शून्यकरणीय विवाह को परिभाषित करता है और विवाह की अकृतता और विवाह-विच्छेद का भी इसमें उपबंध है । अध्याय 6 में सम्मिलित धारा 27 में विवाह-विच्छेद के आधारों को शामिल किया गया है जिसे यहां नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

27. विवाह-विच्छेद – (1) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में पति या पत्नी द्वारा इस आधार पर पेश की जा सकेगी कि –

(क) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अपने पति या अपनी पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वेच्छया मैथुन किया है ; अथवा

(ख) प्रत्यर्थी ने अर्जी के पेश किए जाने के ठीक पहले कम से कम दो वर्ष की निरंतर कालावधि भर अर्जीदार को अभित्यक्त रखा है ; अथवा

(ग) प्रत्यर्थी भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) में यथा परिभाषित अपराध के लिए सात वर्ष या उससे अधिक के कारावास का दंड भोग रहा है ;

(घ) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार से क्रूरता का व्यवहार किया है ; अथवा

(ङ) प्रत्यर्थी असाध्य रूप से विकृत चित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि अर्जीदार से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – (क) इस खंड में 'मानसिक विकार' पद से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता

अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत विखंडित मानसिकता है ;

(ख) 'मनोविकृति' पद से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की असामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी का आचरण असामान्य रूप से आक्रमक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं; अथवा

(च) प्रत्यर्थी संचारी रूप के रतिज रोग से पीड़ित रहा है; अथवा

(छ) प्रत्यर्थी कुष्ठ से पीड़ित रहा है जो रोग उसे अर्जीदार से नहीं लगा था ; अथवा

(ज) प्रत्यर्थी के बारे में सात वर्ष या उससे अधिक की कालावधि में उन व्यक्तियों द्वारा, जिन्होंने प्रत्यर्थी के बारे में, यदि वह जीवित होता तो, स्वभाविकतया सुना होता, यह नहीं सुना गया है कि वह जीवित है ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा में 'अभित्यजन' पद से विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार का ऐसा अभित्यजन अभिप्रेत है जो, उचित हेतुक के बिना और ऐसे पक्षकार की संपत्ति के बिना या इच्छा के विरुद्ध हो और इसके अंतर्गत विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार की जानबूझकर उपेक्षा करना भी है और इस पद के व्याकरणिक रूपभेदों तथा सजातीय पदों के अर्थ तद्नुसार लगाए जाएंगे ।

(1क) पत्नी की विवाह-विच्छेद के लिए निम्नलिखित आधार पर जिला न्यायालय में अर्जी पेश कर सकेगी –

(i) कि उसका पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुगमन का दोषी हुआ है ;

(ii) कि हिंदू दत्तक तथा भरणपोषण अधिनियम, 1956 (1956 का 78) की धारा 18 के अधीन बाद में या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 125 के अधीन (या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की तत्समान धारा 488 के अधीन कार्यवाही में, पत्नी को भरणपोषण दिलवाने के लिए,

पति के विरुद्ध यथास्थिति, डिक्री या आदेश इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि वह अलग रहती थी और ऐसी डिक्री या आदेश के पारित किए जाने के समय से एक वर्ष या ऊपर की कालावधि भर उन पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ।

(2) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए, विवाह का, जो चाहे विशेष विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1970 के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित किया गया हो या, उसके पश्चात् कोई पक्षकार विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में इस आधार पर पेश कर सकेगा कि –

(i) ऐसी कार्यवाही में, जिसके वे पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ; अथवा

(ii) ऐसी कार्यवाही में जिसके वे पक्षकार थे, दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है ।

उपर्युक्त के अलावा, धारा 28 में पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध है ।

179.(i) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 ने विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का अनुसरण किया । इस का अधिनियमन विदेशीय विवाहों से संबंधित विधि की अनिश्चितता के कारण किया गया । विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 के उद्देश्यों और कारणों का कथन उस समग्र दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जिसके कारण विधान पारित किया गया । इसे नीचे दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन :

यह विधेयक विदेशीय विवाहों से संबंधित विधि पर विधि आयोग की तेईसवीं रिपोर्ट को कार्यान्वित करने के लिए है । इस समय इस विषय पर विधि के संबंध में बड़ी अनिश्चितता है, क्योंकि विद्यमान विधान विषय की ऊपरी सतह का केवल स्पर्श करता है और मामला

प्राइवेट अंतरराष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों द्वारा शासित होता है जो कि किसी भी रूप में सुव्यवस्थित नहीं है और जिसको हमारे जैसे किसी देश में फौरी तौर पर लागू नहीं किया जा सकता है, जिसमें विभिन्न समुदायों को विभिन्न विवाह विषयक विधियां लागू होती हैं । विशेष विवाह अधिनियम, 1954 यह उपबंध करके कि ऐसे भारतीय नागरिकों के बीच, जो भारत के निवासी हैं विदेश में इसके अधीन विवाहों का अनुष्ठापन किया जा सकता है, कुछ सीमा तक इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए था । संसद् में उक्त अधिनियम के संबंध में हुई चर्चा के दौरान यह अनुरोध किया गया था कि देश से बाहर होने वाले विवाहों के लिए, जिनमें विवाह के पक्षकारों में केवल एक भारतीय है, कोई उपबंध किया जाना चाहिए । इस संदर्भ में, यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार, सावधानीपूर्वक विचारोपरांत विदेशीय विवाहों के विषय पर व्यापक विधान पुरःस्थापित करेगी । यह विधेयक उक्त आश्वासन का प्रतिफल है ।

2. विधेयक, विशेष विवाह अधिनियम, 1954 और हमारे देश में विशेष परिस्थितियां होने के कारण, कतिपय महत्वपूर्ण उपांतरणों के अधीन रहते हुए, विदेशीय विवाहों के विषय पर विद्यमान अंग्रेजी और आस्ट्रेलियाई विधान के आधार पर प्रतिरूपित है ।

विधेयक की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :–

(i) यह विवाह को सामर्थ्यकारी रूप देने के लिए न्यूनाधिक विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की तरह जिसका विवाह के पक्षकारों में से किसी एक का भारतीय नागरिक होने की दशा में विदेश में उपयोग किया जा सकता है, उसी आधार पर उपबंध करता है ; उक्त रूप में उपबंधित विवाह पक्षकारों को अनुज्ञात किए जा सकने वाले किन्हीं अन्य प्रकारों का अधिक्रमणकारी न होकर केवल उनके अतिरिक्त या उनका अनुकल्पीय है ।

(ii) यह पक्षकारों की हैसियत और विवाह की विधिमान्यता की शर्तों के संबंध में और कतिपय नियम अधिकथित करने के लिए ईप्सा करता है और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के समरूप लाइन पर विवाह के रजिस्ट्रीकरण के लिए भी उपबंध करता है ।

(iii) विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के उपबंध, विवाह

विषयक अनुतोषों के संबंध में, यथोचित उपांतरणों के साथ न केवल प्रस्तावित विधान के अधीन अनुष्ठापित या रजिस्ट्रीकृत विवाहों को अपितु विदेश में अनुष्ठापित ऐसे विवाहों को भी लागू करने के लिए ईप्सित हैं जिनमें भारतीय नागरिक एक पक्षकार हैं ।

(ii) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 के अध्याय 2 में विदेशीय विवाहों के अनुष्ठापन का उपबंध है । उसकी धारा 4 में विदेशीय विवाहों के अनुष्ठापन से संबंधित शर्तें अंतर्विष्ट हैं । धारा 5 में आशयित विवाह की सूचना का उपबंध है । विवाह सूचना पुस्तक में उक्त विवाह को सम्मिलित करने का उपबंध धारा 6 में है । उक्त सूचना का प्रकाशन धारा 7 में उपबंधित हैं । प्रस्तावित विवाह के प्रति आक्षेप धारा 8 के अधीन फाइल किया जा सकता है । विवाह अधिकारी द्वारा शर्तों के पूरा होने और अवधारण के पश्चात् विवाह के अनुष्ठापन के स्थान और रूप का विवरण धारा 13 में है । तदुपरि विवाह अधिकारी से विवाह प्रमाणपत्र प्रविष्ट करने की अपेक्षा है जिसे इस तथ्य के साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है कि पक्षकारों के बीच विवाह अनुष्ठापित किया गया । अध्याय 3 अन्य विधियों के अधीन अनुष्ठापित विदेशी विवाहों के रजिस्ट्रीकरण का अधिदेश देता है । धारा 17 में उसकी आवश्यक अपेक्षाओं का उपबंध है ।

(v) यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि वैवाहिक अनुतोष जो विशेष विवाह, 1954 के अधीन उपबंधित हैं (जो उसके अध्याय 4, 5 और 6 में अंतर्विष्ट हैं) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 (उपर्युक्त पैराग्राफ 179 देखें) के अधीन रजिस्ट्रीकृत विवाहों के लिए स्वीकार किए गए हैं ।

180. मुसलमान इस्लाम के अनुयायी हैं । मुसलमान कुरान को अपना धर्मग्रंथ मानते हैं । उनके स्वीय संबंधों के लिए वे मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत का अनुसरण करते हैं । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1939 में जैसा कि ऊपर पहले उल्लेख किया गया है, अन्य बातों के साथ-साथ तलाक, इला, जिहर, लियन, खुला सहित विवाह और विवाह के विघटन संबंधित मामलों में "निर्णय नियम" का उपबंध है और मुबारक मुस्लिम स्वीय विधि शरीयत होगी और यह किसी रूढ़ि या रीति-रिवाज के प्रतिकूल नहीं है । अतः यह है कि कानूनी हस्तक्षेप द्वारा मुसलमानों के संबंध में स्वीय विधि मामलों से संबंधित मुस्लिम स्वीय विधि के प्रतिकूल

रूढ़ियों और रीति-रिवाजों को दूर किया गया था । मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 में अधिनियमिति की धारा 2 के अधीन मुस्लिम महिलाओं के विवाह के विघटन के आधार उपबंधित हैं । 1937 और 1939 विधानों के प्रतिनिर्देश के ब्यौरे पहले ही भाग 4 मुस्लिम स्वीय विधि के क्षेत्र में भारत में विधान दर्शाए गए हैं । अतः उपर्युक्त भाग 4 का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है ।

181. (i) हिंदुओं में विवाह और विवाह-विच्छेद की विधि का अपना रंग-बिरंगा इतिहास है । हिंदू विधि के अनुसार, विवाह एक पवित्र संस्कार है न कि संविदा (जैसाकि यह मुसलमानों के मामले में है) । आरंभतः हिंदू विवाह के आठ रूप थे जिसमें से चार को नियमित और शेष को अनियमित माना जाता था । विवाह का विकल्प अपने निजी धर्म और जाति तक ही सीमित था । बहुविवाह हिंदुओं में अनुज्ञात था किंतु बहु-पतित्व नहीं । विधवा विवाह भी अनुज्ञात नहीं था । हिंदू विवाहों की बाबत विधान का आरंभ 1829 में हुआ जब सती को विधि द्वारा समाप्त किया गया । 1859 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम में हिंदू विधवाओं के विवाह को विधिसम्मत किया । वर्ष 1860 में, भारतीय दंड संहिता ने बहु-विवाह को दांडिक अपराध बनाया । 1866 में, देशी समपरिवर्ती विवाह विघटन अधिनियम ने ऐसे हिंदुओं के लिए विवाह-विच्छेद सुकर किया जो ईसाई आस्था रखते हैं । 1872 में, विशेष विवाह अधिनियम, अधिनियमित किया गया किंतु इसने हिंदुओं को अपवर्जित किया । वर्ष 1869 में भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया गया किंतु इसे भी हिंदुओं को लागू नहीं बनाया गया । 1909 में, आनंद विवाह अधिनियम ने सिख (ज्ञात-आनंद) में विवाह को विधिसम्मत बनाया । वर्ष 1923 में, विशेष विवाह अधिनियम में एक संशोधन द्वारा हिंदू, बौद्ध, सिख और जैन के बीच अंतरधर्मीय सिविल विवाहों को विधिसम्मत बनाया गया । वर्ष 1937 में, आर्य विवाह विधिमान्यकरण अधिनियम में अंतरजातीय विवाह और आर्य समाज का अनुसरण करने वाले लोगों में हिंदुत्व में संपरिवर्तित के साथ विवाह को विधिसम्मत बनाया । वर्ष 1949 में, हिंदू विवाह विधिमान्यता अधिनियम ने अंतरधर्मीय विवाह को विधिसम्मत बनाया ।

(ii) हिंदू विवाह अधिनियम वर्ष 1955 में पारित किया गया । हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 में विधिमान्य हिंदू विवाह की शर्तें उपबंधित हैं । धारा 7 हिंदू विवाह के लिए अपेक्षित कर्मकांड का उपबंध करती है । धारा 8 में हिंदू विवाह के रजिस्ट्रीकरण की अपेक्षा का उपबंध है ।

दाम्पत्य अधिकारों के प्रतिस्थापन और न्यायिक पृथक्करण का उपचार क्रमशः धारा 9 और 10 में उपबंधित है । विवाहों की आवश्यकता और विवाह-विच्छेद से संबंधित उपबंध धारा 11 और 12 में उपबंधित है । विवाह-विच्छेद के आधार धारा 13 में व्यक्त हैं जिसे यहां दोहराया जा रहा है :-

"13. विवाह-विच्छेद – (1) कोई भी विवाह, वह इस अधिनियम के प्रारंभ के चाहे पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, पति अथवा पत्नी द्वारा उपस्थापित अर्जी पर विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा इस आधार पर विघटित किया जा सकेगा कि –

(i) दूसरे पक्षकार ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अपने पति या अपनी पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वैच्छया मैथुन किया है ; या

(iक) दूसरे पक्षकार ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार के साथ क्रूरता का व्यवहार किया है ; या

(iख) दूसरे पक्षकार ने अर्जी के पेश किए जाने के अव्यवहित पूर्व कम से कम दो वर्ष की निरंतर कालावधि पर अर्जीदार को अभित्यक्त रखा है ; या

(ii) दूसरा पक्षकार अन्य धर्म में संपरिवर्तित हो जाने के कारण हिंदू नहीं रहा गया है ; या

(iii) दूसरा पक्षकार असाध्य रूप से विकृत-चित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि अर्जीदार से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – इस खंड में, –

(क) 'मानसिक विकार' पद से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत विखंडित मनस्कता भी है ;

(ख) 'मनोविकृति' पद से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें वृद्धि की अवसामान्यता हो या नहीं)

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अभिप्रेत है जिसके परिणामस्वरूप दूसरे पक्षकार का आचरण असामान्य रूप से आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं ; या

(iv) दूसरा पक्षकार उग्र और असाध्य कुष्ठ से पीड़ित रहा है ; या

(v) दूसरा पक्षकार संचारी रूप से रतिज रोग से पीड़ित रहा है ; या

(vi) दूसरा पक्षकार किसी धार्मिक पंथ के अनुसार प्रब्रज्या ग्रहण कर चुका है ; या

(vii) दूसरा पक्षकार जीवित है या नहीं इसके बारे में सात वर्ष या उससे अधिक कालावधि के भीतर उन्होंने कुछ नहीं सुना है जिन्होंने उसके बारे में यदि वह पक्षकार जीवित होता तो स्वभाविकतः सुना होता ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा में 'अभित्यजन' पद से विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार का ऐसा अभित्यजन अभिप्रेत है जो युक्तियुक्त कारण के बिना और ऐसे पक्षकार की सम्मति के बिना या इच्छा के विरुद्ध हो और इसके अंतर्गत विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा जानबूझकर अर्जीदार की उपेक्षा करना भी है और इस पद के व्याकरणीक रूप भेदों तथा सजातीय पदों के अर्थ तद्नुसार लगाए जाएंगे ।

(1क) विवाह का कोई भी पक्षकार, विवाह इस अधिनियम के प्रारंभ के चाहे पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, विवाह-विच्छेद को डिक्री द्वारा विवाह के विघटन के लिए इस आधार पर भी अर्जी उपस्थापित कर सकेगा –

(i) कि ऐसी कार्यवाही में पारित, जिसके उस विवाह के पक्षकार, पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के कारण के पश्चात् एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर उन पक्षकारों के बीच सहवास का कोई पुनरारंभ नहीं हुआ है ; या

(ii) कि ऐसी कार्यवाही में पारित, जिसके उस विवाह के पक्षकार, पक्षकार थे, दाम्पत्याधिकार के प्रत्यास्थापन की डिक्री

के पश्चात् एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर, उन पक्षकारों के बीच दाम्पत्याधिकारों का कोई प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है ।

(2) पत्नी विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा अपने विवाह के विघटन के लिए इस आधार पर भी अर्जी उपस्थापित कर सकेगी –

(i) कि इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित विवाह की दशा में, पति ने ऐसे प्रारंभ के पूर्व फिर विवाह कर लिया था या कि अर्जीदार के विवाह के अनुष्ठान के समय पति की कोई ऐसी दूसरी पत्नी जीवित थी जिसके साथ उसका विवाह ऐसे प्रारंभ के पूर्व हुआ था :

परंतु यह तब जब कि दोनों दशाओं में दूसरी पत्नी अर्जी के उपस्थापन के समय जीवित हो ; या

(ii) कि पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्संग, गुदामैथुन या पशुगमन का दोषी रहा है ; या

(iii) कि हिंदू दत्तक तथा भरणपोषण अधिनियम, 1956 (1956 का 78) की धारा 18 के अधीन वाद में या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 125 के अधीन या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की तत्समान धारा 488 के अधीन कार्यवाही में, पत्नी को भरणपोषण दिलवाने के लिए पति के विरुद्ध, यथास्थिति, डिक्री या आदेश इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि वह अलग रहती थी और ऐसी डिक्री या आदेश के पारित किए जाने के समय से एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ;

(iv) कि उसका विवाह (चाहे विहाहोत्तर संभोग हुआ हो या नहीं) उसकी पंद्रह वर्ष की आयु हो जाने के पूर्व अनुष्ठापित किया गया था और उसने पंद्रह वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् किंतु अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व विवाह का निराकरण कर दिया है ।

स्पष्टीकरण – यह खंड उस विवाह को भी लागू होगा जो विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का 68) के

2017(8) eILR(PAT) SC 110

प्रारंभ के पूर्व या उसके पश्चात् अनुष्ठापित किया गया है ।

पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा, धारा 13ख जोड़ा गया जो पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध करती है ।

182. स्वीय विधि से संबंधित विशेषकर विभिन्न धार्मिक समुदायों के विवाह और विवाह-विच्छेद के मुद्दों से संबंधित विषयों के भारत में विधान से संबंधित ब्यौरों का परिशीलन करने से यह प्रकट होता है कि स्वीय विधि द्वारा शासित सभी मुद्दों का प्रवर्तन विधान द्वारा ही किया गया था । उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए कुछ निर्णयों के सिवाय हमारे ध्यान में न्यायिक हस्तक्षेप का एक भी दृष्टांत नहीं लाया गया (विस्तार के लिए भाग 6 तलाक-ए-बिद्दत के विषय पर न्यायिक निर्णय देखें) । तथापि, इन निर्णयों ने आक्रमण के विरुद्ध निर्वचनात्मक अनुक्रम का ही प्रयास किया । उपर्युक्त वर्णित ब्यौरे ईसाई, पारसी, अंतरधर्मीय विवाह, बौद्ध, सिख और जैन सहित मुसलमान और हिंदू की बीच विवाह से संबंधित हैं । संविधान के अधीन स्वतंत्रता पूर्व अवधि और स्वतंत्रता पश्चात् अवधि के दौरान निरंतर प्रथा से स्पष्ट और असंदिग्ध अनुक्रम प्रदर्शित होता है अर्थात् विवाह और विवाह-विच्छेद (जो स्वीय विधि के अभिन्न संघटक हैं) के सुधार केवल विधान के माध्यम से ही किए गए थे । अतः पहले से ही अभिलिखित निष्कर्ष के सातत्य में अर्थात् यह कि सभी न्यायालयों का मूल अधिकार के रूप में स्वीय विधि को सुरक्षित और संरक्षित रखने का संवैधानिक कर्तव्य है, अतः उसमें कोई परिवर्तन संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ अनुच्छेद 25(2) और 44 के अधीन विधान द्वारा ही किया जा सकता है ।

(ix) तलाक-ए-बिद्दत पर अंतरराष्ट्रीय कन्वेंसनों और घोषणाओं का प्रभाव –

183. अधिकांश ऐसे विद्वान् काउंसेल जिन्होंने याचियों के वाद के समर्थन में सहायता दी, ने यह बल दिया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा अननुज्ञेय हो गई जैसे ही भारत ने ऐसे अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का हस्ताक्षरकर्ता बनने की स्वीकृति दी जिसके अनुसार प्रथा पूर्णतः विरोध में थी । यह निवेदन किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा का बना रहना अंतरराष्ट्रीय रूप से देश की छवि को धूमिल करती है क्योंकि राष्ट्र को उन अभिसमयों, घोषणाओं के व्यतिक्रमी के रूप में अंतरराष्ट्रीय रूप से देखा जाता है । यह इंगित किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत को भिज्ञता से न रोककर और प्रथा को अपनाए जाने की जानबूझकर

अनुज्ञा देकर भारत में जारी रखने और प्रचार करने के रूप में रखा गया जिसे अंतरराष्ट्रीय समुदाय घृणात्मक समझता है । अतः, यह निवेदन किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य रूप में घोषित किया जाए क्योंकि यह अंतरराष्ट्रीय कन्वेशनों और घोषणाओं के प्रतिकूल है ।

184. पहली नजर में, हम विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री इंदिरा जय सिंह द्वारा दिए गए निवेदनों को संक्षेप में इंगित करते हैं । उन्होंने काफी पहले वर्ष 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अंगीकृत सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणा का अवलंब लिया । उन्होंने यह बल देने के लिए उसकी उद्देशिका की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया कि घोषणा ने मानवों की अंतर्निहित गरिमा को समान और असंक्राम्य के रूप में मान्यता प्रदान की । उन्होंने इस तथ्य को उजागर किया कि घोषणा में गरिमा और अधिकार में महिला और पुरुष दोनों के लिए समान अधिकार व्यक्त हैं । इसके लिए उन्होंने घोषणा के अनुच्छेद 1 का अवलंब लिया । अनुच्छेद 2 को निर्दिष्ट करते हुए, उन्होंने प्राख्यान किया कि लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जा सकता । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने घोषणा जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है, को प्रभावी बनाने के लिए इस न्यायालय की अंतःचेतना का आह्वान किया । इस न्यायालय का ध्यान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय (आई.सी.ई.एस.सी.आर.) की ओर भी आकृष्ट किया गया । जिसका इंगित लक्ष्य लिंग के आधार पर विभेद सहित सभी प्रकार के विभेद को दूर करना था । यह उजागर किया गया कि महिलाओं के अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय विधेयक की पुष्टि 189 राज्यों द्वारा की गई है । उसके अनुच्छेद 1 को निर्दिष्ट करते हुए यह निवेदन किया गया कि अभिसमय का उद्देश्य महिलाओं के विरुद्ध विभेद को समूल नष्ट करना है । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त अभिसमय पर हस्ताक्षर करने के पश्चात्, यह सभी हस्ताक्षरकर्ता राज्यों का दायित्व है कि महिलाओं के विरुद्ध सभी तरह के विभेदों को दूर करने के लिए सकारात्मक और प्रभावी कदम उठाएं । यह उजागर किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत महिलाओं के विरुद्ध विभेद का निकृष्टतम रूप है ।

185. भारत के विद्वान् महान्यायवादी ने वर्तमान दलील का जोरदार रूप से समर्थन किया । उनका यह इंगित प्राख्यान था कि भारत राज्य अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों में प्रतिष्ठापित सिद्धांतों का पालन करने के लिए बाध्य है । यह उजागर किया गया कि भारत संयुक्त राष्ट्र का मूल सदस्य

है और इसके चार्टर द्वारा आबद्ध है । यह इंगित किया गया कि मानव अधिकार के रूप में लिंग समता का उपबंध विभिन्न अभिसमयों और घोषणाओं में किया गया है । हम विद्वान् महान्यायवादी के द्वारा पक्षपोषित निवेदनों को दोहराने की आवश्यकता नहीं समझते जिन्होंने अपने अनुरोध के समर्थन में बड़ी मेहनत से उल्लेख किया कि तलाक-ए-बिद्दत ऐसी प्रथा है जो ऐसे अनेक अभिसमयों का अतिक्रमण करती है जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है । इस बाबत ब्यौरे विद्वान् महान्यायवादी द्वारा दिए गए निवेदनों को अभिलिखित करते समय हमारे द्वारा पैरा 74 में अभिलिखित किए गए हैं । उसे उपर्युक्त संक्षिप्त रूप से वर्णित निवेदनों के आगे यहां पढ़ा जाए ।

186. हमने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं के सूचक प्रतिनिर्देश से याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों पर विचार किया । हमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भारत राज्य लिंग समता के प्रति वचनबद्ध है । यह संविधान के अनुच्छेद 14 का स्पष्ट अधिदेश है । भारत लिंग के आधार पर विभेद का उन्मूलन करने के लिए भी वचनबद्ध है । संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 लिंग के आधार पर किसी प्रकार के विभेद का प्रतिषेध करते हैं । अतः, तलाक-ए-बिद्दत के विवाद्यक की परीक्षा करते समय, अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं से पीछे हटने का कोई कारण या आवश्यकता नहीं है । स्वयं भारतीय संविधान में इसका उपबंध है ।

187. हमारे लिए उनकी ओर से जो याचियों के वाद का समर्थन करते हैं दिए गए निवेदन जो अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं के सूचक प्रतिनिर्देश से याचियों के वाद को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है जो संविधान के अनुच्छेद 25 पर आधारित है जिसके द्वारा सभी धार्मिक समुदायों की स्वीय विधि को संरक्षित किए जाने की ईप्सा की गई है । धार्मिक वर्गों की स्वीय विधियों के संरक्षण को मूल अधिकार की हैसियत दी गई है क्योंकि संविधान का अनुच्छेद 25 जो स्वीय विधि को ऐसा संरक्षण प्रदान करता है, संविधान के भाग 3 (मूल अधिकार) का भाग है । अतः, यह स्पष्ट है कि जब भारत का संविधान ऐसे सभी अभिसमयों और घोषणाओं का समर्थन करता है जो लिंग समता की मांग करते हैं, संविधान, स्वीय विधि का संरक्षण करता है जिसके माध्यम से धार्मिक समुदाय और वर्ग अपवाद के रूप में स्वयं को शासित मानते हैं ।

188. विषय पर इस न्यायालय द्वारा दिए गए कई निर्णयों से हमारी

अभिपुष्टि का पता लगाया जा सकता है कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और घोषणाएं उस विस्तार तक आबद्धकर नहीं है जहां तक वे देशज विधियों के प्रतिकूल हैं । नीचे उनमें से कुछ का प्रतिनिर्देश किया जा रहा है :–

(i) **एपेरेल एक्पोर्ट प्रोमोशन काउंसिल** बनाम **ए. के. चोपड़ा**[1]

इस मामले में, इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ यह प्रश्न उद्‌भूत हुआ कि क्या अधीनस्थ महिला कर्मचारी के विरुद्ध वरिष्ठ की कार्रवाई जो नैतिक अनुशास्ति के विरुद्ध है, लैंगिक उत्पीड़न के समान न होने वाले शालीनता और विनम्रता की कसौटी पर खरा उतर सकता है ? उद्‌भूत प्रश्न यह था, कि क्या यह अभिकथन कि वरिष्ठ द्वारा कार्यस्थल पर अवर महिला कर्मचारी के शीलभंग का प्रयास करना वरिष्ठ से प्रत्याशित आचरण और व्यवहार का अशोभनीय कार्य गठित करता है ? और क्या अवर महिला कर्मचारी को उपचारात्मक कार्रवाई करने का उपाय है ? उपर्युक्त प्रतिपादना की परीक्षा करते समय, इस न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का अवलंब लेते हुए, यह अभिनिर्धारित करते हुए इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला कि इसे तब तक प्रभावी बनाया जाना चाहिए जब तक वे देशज विधियों के प्रतिकूल न हो –

'26. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कार्यस्थलों पर लैंगिक उत्पीड़न की प्रत्येक घटना, लिंग समता तथा प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकारों – जो संविधान द्वारा गारंटीकृत दो मूल्यवान मूल अधिकार हैं, का अतिक्रमण करती है । मनीला में, वर्ष 1993 में हुई अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की सेमिनार में इस बात को माना गया कि कार्यस्थल पर महिला का लैंगिक उत्पीड़न, महिला के प्रति लिंग विभेद का रूप है । हमारे मत में, हमारे संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों की अंतर्वस्तुएं, लैंगिक उत्पीड़न और दुरुपयोग के निवारण को सम्मिलित करते हुए लिंग समता के सभी पहलुओं को अपनी परिधि में लेती हैं और उन मूल अधिकारों की संरक्षा और उन्हें बनाए रखने के लिए न्यायालय सांविधानिक बाध्यताधीन हैं । कार्यस्थल पर महिला का लैंगिक उत्पीड़न महिला की गरिमा और सम्मान के विरुद्ध है और समाप्त किया जाना चाहिए और

[1] (1999) 1 एस. सी. सी. 759.

इस पर चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है कि ऐसे अतिक्रमणों के साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता । अंतरराष्ट्रीय लिखतों, जैसे – अभिसमय आन दि एलिमिनेशन आफ आल फार्म्स आफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वूमेन, 1979 (सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू.) और बीजिंग घोषणा जो सभी सदस्य राज्यों से महिलाओं की गरिमा और सम्मान की संरक्षा के लिए कदमों को उठाने के अलावा महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेदों को रोकने के लिए उपयुक्त अध्युपाय करने का निदेश देते हैं, का संदेश स्पष्ट है । आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा में विशेष रूप से महिलाओं के लिए अनेक महत्वपूर्ण उपबंध अंतर्विष्ट हैं । अनुच्छेद 7, कार्य की ऋजु दशाओं के संबंध में उसके अधिकार को मान्यता देता है और यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं के साथ कार्यस्थलों पर लैंगिक उत्पीड़न नहीं किया जाना चाहिए जो कार्य वातावरण को दूषित करे । ये अंतरराष्ट्रीय लिखत भारत राज्य पर भी यह बाध्यता डालते हैं कि इसके कानूनों को लिंग सुग्राही बनाए और न्यायालय यह सुनिश्चित करने को बाध्यताधीन है कि अंतरराष्ट्रीय लिखतों का संदेश दबा न दिया जाए । इस न्यायालय ने अनेक मामलों में इस पर जोर दिया है कि सांविधानिक अपेक्षाओं पर चर्चा करते समय न्यायालय और काउंसेलों को अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और लिखतों में सन्निहित मुख्य सिद्धांत को कभी नहीं भूलना चाहिए और जहां तक संभव हो सके उन अंतरराष्ट्रीय लिखतों में अंतर्विष्ट सिद्धांतों को लागू करना चाहिए । आंतरिक विधियों का अर्थान्वयन करने के लिए और इससे भी अधिक जब उनके बीच कोई असंगतता नहीं है और जहां इस संबंध में अतिरिक्त विधि न हो वहां न्यायालय अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और मानकों को सम्यक् महत्व देने को बाध्यताधीन है । (देखिए प्रेम शंकर **बनाम** दिल्ली प्रशासन, मेकिनन मेकेंजी एंड कंपनी **बनाम** आडे डिकोस्टा, शीला बर्से **बनाम** सचिव, बाल सहायता सोसाइटी, विशाका और अन्य **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य, पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज **बनाम** भारत संघ और एक अन्य और डी. के. बसु और एक अन्य **बनाम** पश्चिम बंगाल राज्य और एक अन्य वाले

मामले ।

27. उन मामलों में, जिनमें मानव अधिकारों का अतिक्रमण अंतर्वलित है, न्यायालयों को सदैव अंतरराष्ट्रीय लिखतों और अभिसमयों को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें किसी भी ऐसे मामले में लागू करना चाहिए जहां किसी क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय मानकों और आंतरिक कानून के बीच कोई असंगतता न हो । वर्तमान मामले में, यह प्रतीत होता है कि मामले पर विचार करते समय उच्च न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और मानकों के आशय और अंतर्वस्तुओं का बिल्कुल ही अनदेखा किया है ।'

(ii) **कृष्ण जनार्दन भट** बनाम **दत्तात्रेय जी हेगड़े**[1]

इस मामले में, इस न्यायालय ने परक्राम्य लिखित अधिनियम, 1881 के अधीन सबूत के भार का सही आशय अवधारित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों का अवलंब लिया । इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया –

'44. निर्दोषिता की उपधारणा एक मानव अधिकार है (नरेन्द्र सिंह **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य, रंजीत सिंह ब्रह्मजीत सिंह शर्मा **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और राजेश रंजन यादव **बनाम** केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो वाले मामले देखें) । यूरोपियन मानव अधिकार अभिसमय के अनुच्छेद 6(2) में यह उपबंध है : 'दंड अपराध से आरोपी प्रत्येक व्यक्ति को तब तक निर्दोष समझा जाएगा जब तक वह विधि के अनुसार दोषी साबित न हो जाए ।' यद्यपि, भारत पूर्वोक्त अभिसमय द्वारा आबद्ध नहीं है और इस प्रकार अभिसमय के साथ कामन ला को लागू करने के लिए यूरोपीय अभिसमय गठित करने वाले देशों की तरह यह आवश्यक नहीं हो सकता, फिर भी अभियुक्त के अधिकार और समाज के हित के बीच संतुलन पर विचार किया जाना अपेक्षित है । तथापि, भारत में, कानूनी अधिक्षेपों के अधीन उक्त सिद्धांत आपराधिक विधि शास्त्र का आधार गठित करता है । पूर्वोक्त प्रयोजन के लिए, अपराध की प्रकृति, गंभीरता और उसकी गुणता पर भी विचार किया जाना चाहिए । न्यायालयों को यह अवश्य देखना चाहिए कि परक्राम्य लिखित अधिनियम की धारा 139 के अधीन

[1] (2008) 4 एस. सी. सी. 54.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

यथा अनुध्यात उपधारणा की मात्र उपयोजिता के आधार पर, यह अन्याय या गलत दोषसिद्धि को अग्रसर नहीं कर सकेगा । यह पूर्वोक्त कारण ही है कि हमने विषय पर लागू विनिश्चयों पर विचार किया जहां नकारात्मकता को साबित करने की कठिनाई पर बल दिया गया । यह सुझाव नहीं दिया गया है कि नकारात्मकता को कभी साबित नहीं किया जा सकता किंतु ऐसे मामले हैं जहां अभियुक्त द्वारा ऐसी कठिनाइयों का सामना किया जाता है अर्थात् तथ्य की निष्कपट और युक्तियुक्त भूल । हाल ही के 2007 सी. एल. जे. (मार्च भाग) 142 में प्रकाशित निर्दोषिता की उपधारणा और प्रतिकूल भाग : संतुलित कर्तव्य वाले लेख में यह कहा गया है –

> 'यह अवधारित करते समय कि क्या प्रतिकूल भार निर्दोषिता की उपधारणा से संगत है, सबूत के व्यवहार को भी ध्यान में लिया जाना चाहिए । प्रतिकूल भार के बिना दोष साबित करना अभियोजन के लिए कितना कठिन होगा ? कैसे एक निर्दोष प्रतिवादी प्रतिकूल भार का निर्वहन आसानी से कर सकेगा ? किंतु न्यायालय इन व्यावहारिक विचारों को प्रतिवादी के विधिसम्मत अधिकारों पर अभिभावी होने की अनुज्ञा नहीं देंगे । व्यवहारिकता का अधिक महत्व होगा जहां प्रतिकूल भाग अधिक अन्याय का खतरा पैदा न करते हों - जहां अपराध अधिक गंभीर न हो या प्रतिकूल भार का दोष साबित करने के आनुषंगिक विषय से ही संबंध हो । और नियामक वातावरण में अभियोजनात्मक दक्षता को अधिक महत्व दिया जाएगा ।'

45. हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि उक्त उपबंध का अंतःस्थापन देश के बढ़ते कारबार, व्यापार, वाणिज्य और औद्योगिक क्रियाकलापों और वित्तीय मामलों में अधिक चौकसी बढ़ाने के कठोर दायित्व को विनियमित करने और चैक काटने वाले ने लेनदार की आस्था जो भारत जैसे विकासशील देश के आर्थिक जीवन के लिए आवश्यक है, को सुरक्षित रखने के लिए किया गया है । तथापि, इसका यह अर्थ नहीं होगा कि न्यायालय ठोस वास्तविकताओं के प्रति अपनी आंखें मूंद लेगा । कानून बढ़ती उपधारणा का अधिदेश देता है किंतु यह उसको रोक देता है । यह ऐसा नहीं कहता कि कैसे निकाली गई

उपधारणों को खंडित किया जाए । विधि शास्त्र का अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत अर्थात् मानव अधिकार के रूप में निर्दोषिता की उपधारणा और धारा 139 द्वारा अंतःस्थापित प्रतिकूल भार के सिद्धांत को सोच-समझकर संतुलित किया जाना चाहिए । निर्विवादतः ऐसा संतुलनकारी कार्य व्यापकतः प्रत्येक मामले के तथ्यात्मक विषय, अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री और इसके लिए लागू विधिक सिद्धांतों पर निर्भर होगा ।'

(iii) **केरल राज्य** बनाम **पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज**[1]

वर्तमान में विचारार्थ मुद्दा, देशी और जनजातीय जनसंख्या अभिसमय, 1957 और देशी लोगों के अधिकारों की घोषणा, 2007 की आबद्धकारी प्रकृति के प्रतिनिर्देश के संबंध में है । यद्यपि, भारत ने अभिसमय और घोषणा की पुष्टि कर दी है, यह अभिनिर्धारित किया गया कि ये आबद्धकर नहीं है । उपर्युक्त निर्णय में अभिलिखित निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है –

'105. हमें यह ध्यान देना चाहिए कि देशी और जनजातीय जनसंख्या अभिसमय, 1957 जिसकी पुष्टि भारत सहित 27 देशों द्वारा की गई है, में निम्नलिखित खंड अंतर्विष्ट हैं –

अनुच्छेद 11. ऐसी भूमि जिसे पारंपरिक रूप से ये लोग अधिभोग करते हैं, पर संबद्ध जनसंख्या के सदस्यों का सामूहिक या व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को मान्यता दी जाएगी ।

अनुच्छेद 12.1 संबद्ध लोगों को राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित कारणों के विनियमन या उक्त लोगों के राष्ट्रीय आर्थिक विकास या स्वास्थ्य के हित के सिवाय उनके आवासीय भू-क्षेत्रों से उनकी स्वतंत्र सहमति के बिना नहीं हटाया जाएगा ।

2. जब ऐसे मामलों में आपवादिक उपाय के रूप में इन लोगों को हटाना आवश्यक हो तो उनकी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी विकास के लिए उपयुक्त कम से कम उनके द्वारा पहले से अधिभोग की गई भूमि के

---

[1] (2009) 8 एस. सी. सी. 46.

बराबर गुणता की भूमि उपलब्ध कराई जाएगी । ऐसे मामलों में जहां अनुकल्पीय रोजगार का अवसर विद्यमान हो और जहां संबद्ध जनसंख्या धन में या माल में प्रतिकर पाने का अधिमान करे वहां समुचित गारंटी के साथ उन्हें इस प्रकार प्रतिकर दिया जाएगा ।

3. इस प्रकार हटाए गए व्यक्तियों की किसी परिणामी हानि या क्षति के लिए पूर्ण प्रतिकर दिया जाएगा ।

अनुच्छेद 13.1 स्वामित्व के अधिकार के परेषण और भूमि के उपयोग की प्रक्रिया जो संबद्ध लोगों की रूढ़ियों द्वारा स्थापित हैं, का राष्ट्रीय विधि और विनियम की अवसंरचना के भीतर सम्मान किया जाएगा जहां तक वे इन लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और उनके आर्थिक और सामाजिक विकास में कोई अड़चन नहीं डालते ।

2. ऐसे सदस्यों की भूमि के स्वामित्व या उपयोग को अर्जित करने के लिए इनकी रूढ़ियों का फायदा लेने या इन लोगों की ओर से विधियों की समझ की कमी का फायदा लेने से ऐसे व्यक्तियों को रोकने की व्यवस्था की जाएगी जो संबद्ध जनसंख्या के सदस्य नहीं हैं ।'

इस प्रकार आपवादिक उपाय के द्वारा लोगों को हटाने से इनकार नहीं किया जाता है । यह केवल ऐसी शर्त के अधीन है कि उनकी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी विकास के लिए उपयुक्त उनके द्वारा पहले से अधिभोग की गई भूमियों के लिए कम से कम समान गुणता की भूमि उपलब्ध कराई जाए । तथापि, हमें यह ध्यान देना चाहिए कि 1989 में हुए अभिसमय में कई देशों द्वारा इस अभिसमय की पुष्टि नहीं की गई है । ऐसे जिन्होंने 1989 के अभिसमय की पुष्टि की है, इसके द्वारा आबद्ध नहीं है ।

106. तथापि, संयुक्त राष्ट्र में सितंबर, 2017 में देशी लोगों के अधिकारों की घोषणा को अंगीकार किया । उसका अनुच्छेद 3 से 5 इस प्रकार है –

2017(8) eILR(PAT) SC 110

'3. स्वदेशी लोगों को आत्म अवधारण का अधिकार है । उसके अधिकार के आधार पर वे स्वतंत्रतः अपने राजनैतिक प्रास्थिति का अवधारण करते हैं और स्वतंत्रतः अपने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करते हैं ।

4. आत्म अवधारण के अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, स्वदेशी व्यक्तियों को अपने आंतरिक और स्थानीय क्रियाकलापों और अपने स्वायत्तशासी कृत्यों का वित्त पोषण करने के साधन से संबंधित विषयों में स्वायत्तता या स्वशासन का अधिकार है ।

5. स्वदेशी व्यक्तियों को राज्य के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में पूर्णतः भाग लेने के अपने अधिकार को प्रतिधारित करते हुए, यदि वे ऐसा चयन करते हैं, अपने सुभिन्न राजनैतिक, विधिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को बनाए रखने और मजबूत करने का अधिकार है ।'

107. अब यह स्वीकार किया जाता है कि पंचशील सिद्धांत जिसमें यह उपबंध है कि जनजातीयों की तभी उन्नति और विकास हो सकता है यदि राज्य न्यूनतम हस्तक्षेप करे और अधिक कार्य करे क्योंकि कालांतर को ध्यान में रखते हुए, समर्थन व्यवस्था अब विधिमान्य नहीं है । वर्ष 1989 अभिसमय में अंतर्विष्ट स्वायत्तता की धारणा को भी भारत ने खारिज कर दिया है, तथापि, यह प्रतीत होता है कि भारत ने जनजातीय लोगों के लिए स्वायत्तता के विरुद्ध अपने आधार में कुछ नरमी लाई है और उसने स्वदेशी लोगों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा के पक्ष में मत दिया है जो स्वायत्तता के विभिन्न अधिकारों की पुष्टि करती है जो विश्व के जनजातीय लोगों में स्वाभाविक हैं । तथापि, यह घोषणा आबद्धकर नहीं है ।"

(iv) **सफाई कर्मचारी आंदोलन** बनाम **भारत संघ**[1]

इस मामले में, उद्भूत विचारार्थ प्रश्न हाथ से मल उठाने की

[1] (2014) 11 एस. सी. सी. 224.

अमानवीय प्रथा की विधिमान्यता के संबंध में है जो नंगे हाथ, झाड़ू या धातु के स्क्रैपर से सूखे शौचालय से मानव मल को हटाने और तदुपरि, निपटान के लिए टोकरी में डाले जाने के स्थान तक इसे ले जाने के संबंध में है । अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और घोषणाओं के संदर्भ में विवाद्यक पर विचार करते हुए, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

'16. संविधान के उपबंधों के अलावा ऐसे अनेक अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और प्रसंविदाएं हैं जिसका भारत पक्षकार है, जो हाथ से मल ढोने के अमानवीय प्रथा को अभिनिषिद्ध करते हैं । ये मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (यू. डी. एच. आर.), सभी प्रकार के रंगभेद विभेद के उन्मूलन का अभिसमय (सी. ई. आर. डी.) और महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद के उन्मूलन का अभिसमय (सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू.) हैं । यू. डी. एच. आर., सी. ई. आर. डी. और सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू. के सुसंगत उपबंध इस प्रकार हैं –

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 1.

'1. सभी मानव जाति का जन्म स्वतंत्र रूप से हुआ है और गरिमा तथा अधिकारों में समानता है । उनमें तर्क और अंतःकरण का वरदान है और आपस में एक दूसरे के प्रति भातृ भाव से कार्य करना चाहिए ।'

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 2.

'2. प्रत्येक व्यक्ति मूलवंश, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य राय, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, संपत्ति, जन्म या अन्य हैसियत जैसे किसी प्रकार के विभेद के बिना इस घोषणा में उपवर्णित सभी अधिकारों और स्वतंत्रता का हकदार हैं ।'

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 23(3)

'23(3) ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो कार्य करता है, को मानव गरिमा के विद्यमान क्षमता के अनुसार स्वयं और अपने कुटुम्ब के योग्य ठीक और अनुकूल पारिश्रमिक पाने का अधिकार है और यदि आवश्यक हो तो सामाजिक संरक्षण के अन्य माध्यम द्वारा पूरा किया जाएगा ।'

सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू. का अनुच्छेद 5(क)

'5. राज्य पक्षकार निम्नलिखित के संबंध में सभी समुचित कार्रवाई करेगा –

(क) पक्षपात को दूर करने और रूढ़िगत तथा सभी अन्य प्रथाएं जो दोनों लिंगों के वरीयता या निम्नता के विचार या पुरुष और महिला के इस्टिरियो टाइप की भूमिका पर आधारित हैं, को प्राप्त करने की दृष्टि से पुरुष और महिला के सामाजिक और सांस्कृतिक आचरण पैटर्न को उपांतरित करेगा ;'

सी. ई. आर. डी. का अनुच्छेद 2

'2(1) राज्य पक्षकार मूलवंशीय विभेद की निंदा करते हैं और नीति में अविलंब और सभी समुचित साधनों द्वारा अपने सभी रूपों के मूलवंशीय विभेद को दूर करने और सभी मूलवंशों में समझ का संवर्धन करने का प्रयास करेंगे और इस प्रयोजन के लिए –

* * * * *

(ग) प्रत्येक राज्य पक्षकार सरकारी, राष्ट्रीय और स्थानीय नीतियों का पुनर्विलोकन करने और ऐसी किसी विधि और विनियम को संशोधित करने, अभिखंडित करने और अकृत करने के प्रभावी उपाय करेंगे जो मूलवंशीय विभेद जहां कहीं वे विद्यमान हैं के सृजन या बने रहने का प्रभाव रखते हैं ;

(घ) प्रत्येक राज्य पक्षकार सभी समुचित साधनों जिसके अंतर्गत परिस्थितियों द्वारा यथापेक्षित विधान है द्वारा किसी व्यक्ति, समूह या संगठन द्वारा मूलवंशीय विभेद का प्रतिषेध करेंगे और समाप्त करेंगे ।'

अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं जो भारत द्वारा पुष्ट किए गए हैं के उपर्युक्त उपबंध उस विस्तार तक आबद्धकर हैं कि वे देशी विधि के उपबंधों के असंगत नहीं है ।

189. उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह समाधान है कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का बहुत महत्व है और देशी विधियों का निर्वचन करते समय उन पर विचार किया जाना चाहिए । किंतु उपर्युक्त नियम का कोई महत्वपूर्ण अपवाद नहीं है अर्थात् यह कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमय घरेलू विधि के प्रतिकूल नहीं है, अकेले का अवलंब नहीं लिया जा सकता । हमारी यह दृढ़ राय है कि प्रस्तुत विवाद उपर्युक्त अपवाद के भीतर आता है । जहां तक "स्वीय विधि" का संबंध है इसे संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है । अतः यदि "स्वीय विधि" अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों

और घोषणाओं के प्रतिकूल है तो "स्वीय विधि" अभिभावी होगी । अतः, तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को कायम रखने की याचियों की ओर से दी गई दलील कि यह ऐसी अभिसमयों और घोषणाओं जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है, के प्रतिकूल है, को माना नहीं जा सकता ।

(x) उपर्युक्त विचार-विमर्श से उद्भूत निष्कर्ष

190. उपर्युक्त I से IX पर अभिलिखित विचार-विमर्श से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है :–

(1) प्रिवी कौंसिल द्वारा तलाक-ए-बिद्दत पर **राशिद अहमद** (पूर्वोक्त) वाले मामले के विनिश्चय के बावजूद, मामले में पश्चात्‌वर्ती मतों को ध्यान में रखते हुए, विवाद्यक पर नए सिरे से परीक्षा किए जाने की आवश्यकता है ।

(2) सभी पक्षकार एकमत थे कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा दोषपूर्ण समझे जाने के बावजूद इसे हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों में विधि के दृष्टि से विधिमान्य स्वीकार किया जाता है और उनमें यह प्रथा विद्यमान है ।

(3) इस न्यायालय के लिए यह निष्कर्ष अभिलिखित करना उचित नहीं होगा कि क्या तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों द्वारा अवलंबित हदीथों में अत्यधिक विरोधाभासों को ध्यान में रखते हुए, हदीथ द्वारा पुष्टि की गई है या नहीं ।

(4) तलाक-ए-बिद्दत हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों के धार्मिक समुदाय का अभिन्न भाग है । यह चौदह सौ वर्षों से अधिक समय से अपनाए जाने के कारण उनकी आस्था का भाग है और इस प्रकार, उनके स्वीय विधि के संघटक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए ।

(5) याचियों की यह दलील कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधीन आने वाले प्रश्न/विषय स्वीय विधि नहीं रह गए और कानूनी विधि में संपरिवर्तित हो गए, स्वीकार नहीं की जा सकती और तद्नुसार, खारिज की जाती है ।

(6) 'तलाक-ए-बिद्दत' संविधान के अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण नहीं करती । प्रथा, लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के प्रतिकूल नहीं है । प्रथा, संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का भी अतिक्रमण नहीं करती जो केवल राज्य

2017(8) eILR(PAT) SC 110

कार्रवाइयों तक सीमित है ।

(7) स्वीय विधि का घटक होने के कारण तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की संविधान के भाग 3 में प्रदत्त अन्य मूल अधिकारों के समान प्रास्थिति है । अतः प्रथा को न्यायिक हस्तक्षेप के माध्यम से संवैधानिक नैतिकता की अवधारणा के अतिक्रमण में होने के आधार पर अपास्त नहीं किया जा सकता ।

(8) विभिन्न धर्मों में सामाजिक रूप से अस्वीकार्य प्रथाओं के प्रतिनिर्देश से भारत में स्वीय विधि में सुधार विधायी हस्तक्षेप के द्वारा ही लाया जा सकता है । ऐसा विधायी हस्तक्षेप संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ अनुच्छेद 25(2) और 44 के अधीन अनुज्ञेय है । तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा के प्रतिनिर्देश से केवल उक्त प्रक्रिया का पालन किए जाने की आवश्यकता है यदि इसे अपास्त करना है ।

(9) अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का वर्तमान संविवाद में कोई फायदा नहीं है क्योंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा स्वीय विधि का एक संघटक है और इसे संविधान के अनुच्छेद 25 का संरक्षण प्राप्त है ।

भाग 10

घोषणा

191. ऐसा लगता है कि संपूर्ण राष्ट्र लड़ाई के लिए तैयार है । यह प्रतीत होता है कि मुस्लिम महिलाओं की अधिकांश जनसंख्या यह मांग कर रही है कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा जो धर्मशास्त्र में एक पाप है, को विधि की दृष्टि से अननुज्ञेय घोषित किया जाए । भारत संघ ने भी चर्चा में भाग लिया । भारत संघ ने यह पक्ष पोषित करते हुए प्रथा के अविधिमान्यकरण की मांग करते हुए आक्रामक रुख अपनाया है कि यह संविधान के भाग 3 में प्रतिष्ठापित मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है और आगे यह भी प्राख्यान किया कि यह संवैधानिक नैतिकता का भी अतिक्रमण करता है । सुनवाई के दौरान विवाद्यक पर मीडिया में गर्मजोशी से चर्चा की गई । विषय के पांडित्यपूर्ण लेखों में व्यक्त अधिकांश मतों में यह पुष्टि की गई कि प्रथा अपमानजनक है । परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल भी दिलचस्प रूप से सुनवाई के दौरान सहमत थे और तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को अरुचिकर, घृणात्मक और नीरस बताया । अन्य लोगों द्वारा स्वीकार की गई स्थिति और कठोर थी क्योंकि

वे लोग इसे घृणात्मक, अरुचिकर और अप्रिय मानते हैं । कुछ लोग तो इसे भ्रष्ट, घिनौना और मनहूस भी पुकारते हैं ।

192. हमने यह निष्कर्ष निकाला कि तलाक-ए-बिद्दत हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों की स्वीय विधि का विषय है । यह उनकी आस्था का विषय गठित करता है । उनके द्वारा कम से कम लगभग 1400 वर्षों से इसका आचरण किया जा रहा है । हमने यह परीक्षा की कि क्या प्रथा, संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन उपबंधित बाध्यताओं को पूरा करता है और यह निष्कर्ष निकाला कि यह उनमें से किसी को भंग नहीं करता । हमने यह भी निष्कर्ष निकाला कि स्वीय विधि का संघटक होने के कारण प्रथा को संविधान के अनुच्छेद 25 का संरक्षण प्राप्त है ।

193. धर्म आस्था का विषय है न कि तर्क का । न्यायालय, प्रथा जो धर्म का अभिन्न भाग गठित करती है के ऊपर समतावादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । संविधान, प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को अपनी आस्था और धार्मिक परंपरा का पालन करने की अनुज्ञा देता है । संविधान, सभी आस्था के अनुयायियों को यह आश्वस्त करता है कि जीवन की उनकी शैली गारंटीकृत है और उसे कोई चुनौती नहीं दी जा सकती, यद्यपि, यह आज के विश्व और युग में अन्य लोगों (और उसी आस्था का अनुसरण क़रने वाले कुछ तर्कवादियों) को यह अस्वीकार्य ही क्यों न हो । संविधान, इस गारंटी का विस्तार करता है क्योंकि आस्था अनुयायियों की धार्मिक अंतःचेतना गठित करती है । संविधान, अनुच्छेद 25 के अधीन प्रत्येक पृथक् अस्तित्व की आस्थाओं को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास करता है ।

194. यह प्रदर्शित करने में सफल होते हुए कि प्रथा, संवैधानिक नैतिकता (संविधान के विभिन्न उपबंधों से उद्भूत) के अवरोधों से आगे है, उन लोगों द्वारा व्यक्त मतों के बावजूद जिन्होंने "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को चुनौती दी है, हम संबद्ध याचियों के समर्थन में होने से स्वयं को राजी होने में असमर्थ पाते हैं । हम याचियों के दावे को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि दी गई चुनौती पर स्वीय विधि जिसे संवैधानिक समर्थन प्राप्त है, के मुद्दे से संबंधित है ।

195. उपर्युक्त व्यक्त स्थिति के सातत्य में, हम, यह स्वीकार करते हैं कि न्यायालय को किए गए अधिकांश अनुरोध (कम से कम पहली नजर में) स्वीकृति की मांग करते हुए पर्याप्त अनुनयकारी प्रकृति के थे । यह ध्यान में रखते हुए कि यह अवसर मुस्लिम महिलाओं की परेशानी को कम

करने के लिए स्वयं प्रस्तुत किया गया, यह महसूस किया गया कि अवसर को खोया नहीं जाना चाहिए । तथापि, हमारा यह समाधान है कि यह कदम रखने का उचित तरीका नहीं होगा । हम संविधान के निर्माताओं की बुद्धिमत्ता से स्वयं को स्मृत रखने के लिए बाध्य हैं जिन्होंने संविधान के भाग 3 में आस्था के विषय को रखा था । अतः, हमारे समक्ष पक्षपोषित मुद्दों पर आगे कार्यवाही करने का कोई प्रयास स्पष्ट विधि की भाषा को अनदेखी करने के बराबर होगा । हम विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य के रूप में अकृत और घोषित नहीं कर सकते जिसे संविधान हमारे लिए न केवल संरक्षित रखने बल्कि प्रवृत्त करने की डिक्री प्रदान करता है । सुरक्षोपाय करने और अनुपालन आबद्ध करने का प्राधिकार संवैधानिक न्यायालयों (उच्चतम न्यायालय के पास अनुच्छेद 32 के अधीन और उच्च न्यायालयों के पास अनुच्छेद 226 के अधीन) में विशेष अधिकारिता के अधीन निहित है । याचियों के अनुरोध को स्वीकार करना अनुच्छेद 25 में अंतर्विष्ट संवैधानिक अधिदेश का स्पष्ट अतिक्रमण होगा ।

196. अंतःकरण की ऐसी पुकार जो याची हमसे स्वीकार करने की इच्छा रखते हैं, का दूरगामी प्रभाव होगा । हम ऐसा इसलिए कह रहे हैं क्योंकि विद्वान् महान्यायवादी की यह दलील थी कि तलाक-ए-अहसन और तलाक-ए-हसन भी उन्हीं कारणों से असंवैधानिक घोषित किए जाने के दायी हैं जैसा तलाक-ए-बिद्दत (विस्तार के लिए उपर्युक्त पैरा 77 देखें) के प्रतिनिर्देश से व्यक्त किया गया है । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार, तलाक का उक्त प्ररूप भी तालक-ए-बिद्दत की तरह उन्हीं खामियों से ग्रस्त हैं । मुस्लिमों में बहु-विवाह और हलाला की प्रथा को पहले ही हमारे समक्ष चुनौती दी गई है । यह समझना कठिन नहीं है कि सभी प्रकार के प्रबुद्ध संवेदनशीलता पर आधारित भिन्न-भिन्न आधारों पर भिन्न-भिन्न प्रथाओं को चुनौती देते हुए तर्कवादियों द्वारा अनेक प्रकार की चुनौतियां उठाई जा सकती हैं । हमें सुरक्षित होना पड़ेगा, ऐसा न हो कि हम धार्मिक प्रथाओं और स्वीय विधि के प्रत्येक मोड़ पर अपने अंतःकरण को लांघते हुए पाएं। क्या कोई न्यायालय उचित प्रयास के आधार पर यह घोषित कर सकता है कि आस्था के विषय को बदला जाए या पूर्णतः हटा दिया जाए । इस मामले में दोनों अनुरोध किए गए हैं । तलाक-ए-बिद्दत में तीन घोषणाओं को पढ़कर पुनर्स्थापन की ईप्सा की गई है । अनुकल्पतः, कुरान और हदीथ में वर्णित तलाक-ए-बिद्दत पढ़कर माध्यस्थम् और सुलह के उपायों की ईप्सा की गई है । इसे असंवैधानिक ठहराकर प्रथा को अपास्त करने का भी अनुरोध किया गया है । इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से उद्भूत

प्रज्ञा असंदिग्ध है अर्थात् यह कि धार्मिक प्रथा या स्वीय विधि की परिधि में आने वाले मुद्दों की परीक्षा करते समय, न्यायालय ऐसा कोई विकल्प निकालने के लिए स्वतंत्र नहीं है जिसे वह दूरंदेशी या गैर-कट्टरपंथी समझता है । न्यायालय यह अवधारित करने के लिए स्वतंत्र नहीं है कि क्या धार्मिक प्रथाएं दूरदर्शी या प्रगतिगामी या प्रतिगामी हैं । धर्म और स्वीय विधि को वैसा ही समझा जाना चाहिए जैसा आस्था को अपनाने वालों द्वारा स्वीकार किया जाता है । न कि यह कैसा होना चाहिए (उसी आस्था के स्वघोषित तर्कवादियों सहित) अन्य लोगों द्वारा पसंद किया जाता है । अनुच्छेद 25 सभी संवैधानिक न्यायालयों को स्वीय विधि का संरक्षण करने न कि उसमें गलती निकालने के लिए आबद्ध करता है । स्वीय विधि के मामलों में हस्तक्षेप स्पष्टतः न्यायिक परीक्षा के परे हैं । अतः, न्यायपालिका को हमेशा आत्यंतिक नियंत्रण का प्रयोग करना चाहिए, चाहे कितना सामाजिक भलाई करने के लिए आबद्धकर और आकर्षक अवसर क्यों न प्राप्त होता हो । अतः, यही कारण है कि इस न्यायालय को यह संप्रेक्षण करने का अवसर मिला, "...... चाहे कितना प्रशंसनीय, वांछनीय और आकर्षक परिणाम क्यों न निकलता हो...... कोई सक्रिय न्यायालय विधायी विषय की जटिलताओं से निपटने के लिए पूर्णतः सुसज्जित नहीं है और अधिक से अधिक समस्या पर राज्य की नीति पर सलाह दे सकता है और ध्यान आकर्षित कर सकता है तथा उसको निंद्रा से जगा सकता है और लक्ष्य तक पहुंचने के लिए प्रेरित कर सकता है । इस न्यायालय को चाहे जो भी उपाय करना हो इसे विवाध्यतः आत्म नियंत्रण के रूप में न्यायिक सतह में वर्णित गति को लागू करने की आवश्यकता है .... ।"

197. हमने यह निष्कर्ष निकाला कि याचियों की ओर से उठाई गई विधिक चुनौती न्यायिक पटल पर असफल रहती है । तथापि, प्रश्न यह रहता है कि क्या विषय में संपूर्ण न्याय करने के लिए अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए हमारे लिए यह उचित मामला है । हमारे लिए मात्र एक ही कारण से अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने की संभावना को साबित करने का प्रश्न उठता है कि सभी संबद्ध बातें असंदिग्ध हैं क्योंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा मनमानी होने के अलावा लिंग विभेदकारी है ।

198. हमारे द्वारा अभिलिखित विचार-विमर्श के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या वाले अधिकांश समतावादी राज्यों में और यहां तक कि इस्लाम धर्मशासित राज्यों में भी विधान द्वारा हटा दिया गया है । याचियों के

अनुरोध के मुख्य विरोधी ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने भी याचियों की ओर से पक्षपोषित स्थिति को स्वीकार करते हुए, इस स्थिति को माना कि आस्था और धर्म के विषय को अपास्त करना न्यायिक विवेकाधिकार की परिधि के भीतर नहीं है । हम ए. आई. एम. पी. एल. बी. द्वारा स्वीकृत स्थिति को स्वीकार करते हैं । तथापि, ए. आई. एम. पी. एल. बी. द्वारा भी यह अभिस्वीकार किया गया है कि विधायिका स्थिति से मुक्ति दिला सकेगी । यह प्राख्यान संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 25(2) और अनुच्छेद 44 के संयुक्त पठन पर आधारित है । इसमें संदेह नहीं हो सकता और यह हमारा निश्चायक निष्कर्ष है कि विधान के माध्यम से ही स्थिति को बचाया जा सकता है । हम समझते हैं कि विधायिका को विवाद्यक पर विधि अधिनियमित करने की सलाह देना उचित नहीं है । तथापि, इस मामले में उत्पन्न स्थिति कुछ भिन्न प्रतीत होती है । यहां परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों द्वारा व्यक्त मत विरोधात्मक नहीं है । भारत संघ, हमारे समक्ष याचियों के वाद के समर्थन में उपस्थित हुआ । भारत संघ द्वारा अपनाया गया दृष्टांत हमारे लिए यह मानने के लिए पर्याप्त है कि भारत संघ, याचियों के वाद का समर्थन करता है । दुर्भाग्यवश संघ हमारे हाथों से वह करना चाहता है जो वस्तुतः उसका अपना है । मुख्य पक्षकार जिसने याचियों की चुनौती का विरोध किया अर्थात् ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने निम्नलिखित स्थिति की पुष्टि करते हुए इस न्यायालय के समक्ष शपथपत्र फाइल किया :—

"1. मैं, अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल बोर्ड का सचिव अपनी वेबसाइट, प्रकाशन और सोशल मीडिया प्लेटफार्म के माध्यम से यह निर्देशिका जारी करूंगा और तद्द्वारा ऐसे व्यक्तियों को सलाह देता हूं जो निकाह (विवाह) करते हैं और उनसे निम्नलिखित करने का अनुरोध करता हूं –

(क) निकाह (विवाह) संपन्न करते समय निकाह संपन्न कराने वाला व्यक्ति, वर/व्यक्ति को यह सलाह देगा कि मतभेद की दशा में तलाक होने पर वर/व्यक्ति एक ही बैठक में तीन तलाक उद्घोषित नहीं करेगा क्योंकि यह शरीयत की अवांछनीय प्रथा है ;

(ख) निकाह (विवाह) संपन्न कराते समय निकाह संपन्न कराने वाला व्यक्ति, वर/व्यक्ति तथा वधू/महिला को एक ही बैठक में अपने पति द्वारा तीन तलाक की घोषणा करने का

अवलंब लेने से अपवर्जित करते हुए, निकाहनामा में शर्त सम्मिलित करने की सलाह देगा ।

2. मेरा यह कहना है और अनुरोध है कि इसके अलावा बोर्ड यह अभिलिखित करता है कि बोर्ड की कार्यकारी समिति में मुस्लिम समुदाय में तलाक के संबंध में तारीख 15 और 16 अप्रैल, 2017 को हुई बैठक में पहले ही कतिपय संकल्प पारित किए हैं । तद्द्वारा, यह संकल्प पारित किया गया कि विवाह-विच्छेद विशेषकर एक बैठक में तीन तलाक की उद्‌घोषणा से बचने पर बल देने के विषय में अपनाई जाने वाली आचार-संहिता/मार्ग-दर्शक सिद्धांत संप्रेषित किया जाए । तलाक (विवाह-विच्छेद) से संबंधित संकल्प सं. 2, 3, 4 और 5 के सुसंगत अनुवाद के साथ तारीख 16 अप्रैल, 2017 के संकल्प की प्रति इस माननीय न्यायालय के समक्ष परिशीलन के लिए संलग्न हैं और प्रस्तुत शपथ-पत्र के पृष्ठ सं. 4 से 12 पर उपाबंध ए-1 के रूप में चिह्नित है ।"

उपर्युक्त शपथपत्र के परिशीलन से प्रकट होता है कि ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने उन लोगों जो वैवाहिक संबंध करते हैं, को सलाह देने के लिए अपने वेबसाइट के माध्यम से एक सूचना जारी की है कि वे निकाहनामा में, यह बात सम्मिलित करने के लिए सहमत हों कि उनके विवाह तलाक-ए-बिद्दत द्वारा विघटन योग्य नहीं होंगे । ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने यह बल देते हुए कि तलाक-ए-बिद्दत से बचा जाए, विवाह-विच्छेद के मामले में अपनाए जाने वाले मार्ग-दर्शक सिद्धांतों को विहित करते हुए शपथपत्र फाइल किया है । यह मानना गलत नहीं होगा कि ए. आई. एम. पी. एल. बी. भी याचियों के वाद को बंद करने के पक्ष में है ।

199. उपर्युक्त व्यक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह समाधान है कि यह ऐसा मामला है जो ऐसी स्थिति पैदा करता है जहां इस न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन समुचित निदेश जारी करने के लिए अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना चाहिए । अतः, हम भारत संघ को यह निदेश देते हैं कि समुचित विधान विशेषकर तलाक-ए-बिद्दत के संदर्भ में, बनाने पर विचार करे । हम यह आशा और प्रत्याशा करते हैं कि अनुध्यात विधान मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के अग्रिम बातों पर भी विचार करेगा जैसा संपूर्ण विश्व में, यहां तक कि इस्लाम धर्म राज्यों द्वारा भी विधान द्वारा सुधार किया गया है । जब भारत के ब्रिटिश शासकों ने विधान द्वारा मुसलमानों को संकट में सहायता का उपबंध किया और जब उपचारात्मक उपाय संपूर्ण विश्व में मुस्लिमों द्वारा अपनाए गए हैं तो हम

ऐसा कोई कारण नहीं पाते कि स्वतंत्र भारत इसमें पीछे रहे । भारत में भी, किंतु मुसलमानों के लिए नहीं, अन्य धार्मिक संप्रदायों (IX - भारत में स्वीय विधि में सुधार, देखें) के लिए उपाय किए गए हैं । अतः, हम विधायिका से इस सर्वोपरि महत्वपूर्ण मुद्दे पर सावधानीपूर्वक गहन विचार करने की याचना करते हैं । हम विधान के लिए अपेक्षित आवश्यक उपाय पर विचार करते समय विभिन्न राजनीतिक दलों से भी अपने व्यक्तिगत राजनीतिक अभिलाभों को एक तरफ रखने की भी याचना करते हैं ।

200. उस समय तक जब तक विषय पर विधान के संबंध में विचार किया जाता है । हम मुस्लिम पतियों को तलाक-ए-बिद्दत घोषित करने से रोकने के लिए व्यादेश जारी करते हुए उनके वैवाहिक संबंध अलग करने के साधन के रूप में संतुष्ट हैं। पहली नजर में वर्तमान व्यादेश छह मास की अवधि के लिए प्रभावी होगा । यदि विधायी प्रक्रिया छह माह की अवधि की समाप्ति के पूर्व आरंभ होती है और "तलाक-ए-बिद्दत" (एक बार में और उसी समय तलाक की तीन घोषणा) - एक बार में या अनुकल्पतः को पुनःपरिभाषित करने के प्रति सकारात्मक विनिश्चय होता है और यदि यह विनिश्चय किया जाता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा एक साथ समाप्त कर दी जाएगी तो व्यादेश विधान के अंतिम रूप से अधिनियमित किए जाने तक, जारी रहेगी । जिसके न हो सकने पर, व्यादेश प्रभावहीन हो जाएगा ।

201. उपर्युक्त निबंधनों के अनुसार निपटाया गया ।

न्या. कुरियन –

202. जो धर्मशास्त्र में गलत है वह कभी विधि में सही होता था किन्तु शरीयत को स्वीय विधि के रूप में घोषित करने के पश्चात् इस मामले में इस मुद्दे पर विचार किया जाना है कि जो कुरान की दृष्टि से गलत है क्या वह विधि की दृष्टि से सही हो सकता है । अतः, इस मामले में मात्र इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना अपेक्षित है कि क्या तीन-तलाक की कोई विधिक मान्यता है । यह अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है । इस न्यायालय ने **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है, यद्यपि विस्तार से नहीं, कि तीन तलाक विधिक रूप से मान्य नहीं है । अतः, संविधान के अनुच्छेद 141[2] के

---

[1] (2002) 7 एस. सी. सी. 518.

[2] 141 उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि का सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होना – उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी ।

निबंधनों में **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाला मामला भारत में निर्णय विधि के रूप में लागू है ।

203. उपर्युक्त को दृष्टिगत करते हुए, मैं **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त की गई विधिक स्थिति को स्पष्ट करने का भी भरपूर प्रयास करूंगा और स्पष्ट रूप से विधि अधिकथित करूंगा ।

204. मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (जिसे इसे इसमें इसके पश्चात् "1937 का अधिनियम" कहा गया है) को मुस्लिम समाज में घोर, अपकारी और विभेदकारी रूढ़ियों और प्रथाओं को समाप्त करने के लिए अधिनियमित किया गया था[1] । वर्तमान संविवाद को दृष्टिगत करते हुए इस अधिनियम की धारा 2 अत्यंत सुसंगत है :–

> **धारा 2. मुसलमानों को स्वीय विधि का लागू होना** – निर्वसीयती उत्तराधिकार, स्त्रियों की विशेष संपत्ति, जिसमें विरासत में मिला या संविदा या दान या स्वीय विधि के किसी अन्य उपबंध के

---

[1] **उद्देश्य और कारणों का कथन** –
पिछले कई वर्षों से ब्रिटिश भारत के मुसलमानों की यह अभिलाषा रही है कि रूढ़िजन्य विधि को मुस्लिम स्वीय विधि का स्थान नहीं दिया जाना चाहिए । इस मामले पर निरन्तर प्रैस और मंच द्वारा आंदोलन होते रहे हैं । जमीयत-उल-उलमा-ए-हिन्द जो कि मुसलमानों का एक बड़ा धार्मिक संकाय है, ने इस मांग का समर्थन किया है और इससे संबंधित सभी व्यक्तियों का ध्यान इस मुद्दे के अध्युपाय की तुरंत आवश्यकता की ओर दिलाया है । रूढ़िजन्य विधि एक अपनाम है क्योंकि इसका कोई ठोस आधार नहीं होता और इसमें निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं और इससे यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में किसी समय पर इसमें निश्चितता और स्थायीत्व बना रहेगा जोकि सभी विधियों का एक मूल लक्षण होना चाहिए । तथाकथित रूढ़िजन्य विधि के अधीन मुस्लिम महिलाओं की हैसियत दयनीय है । अतः, सभी मुस्लिम महिला संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की आलोचना की है क्योंकि इससे उनके अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । उनकी यह मांग है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) ही उन्हें लागू होनी चाहिए । मुस्लिम स्वीय विधि की पुरःस्थापना से वे महिलाएं स्वतः ऐसी स्थिति पर आ जाएंगी जिसके लिए वे स्वाभाविक रूप से हकदार हैं । इसके अतिरिक्त, वर्तमान अध्युपाय, यदि अधिनियमित किया जाए, समाज के लिए अत्यंत लाभकारी होगा क्योंकि इससे जनता के पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों की निश्चितता और स्थिरता बनी रहेगी । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) यथार्थ संहिता के रूप में विद्यमान है और यह इतनी सुज्ञात है कि इसमें कोई भी संदेह नहीं किया जा सकता और न ही इसमें किसी भी कड़े अनुसंधान की आवश्यकता है जो कि रूढ़िजन्य विधि का मुख्य लक्षण है ।

> अधीन प्राप्त हुई स्वीय संपत्ति आती है, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला तथा मुबारात आते हैं, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता दान, न्यास तथा न्यास-संपत्ति और वक्फ (जो पूर्त तथा पूर्त संस्थाओं तथा पूर्त तथा धार्मिक विन्यासों से भिन्न हो) से संबंधित (कृषि भूमि से संबद्ध प्रश्नों के सिवाय) सभी प्रश्नों में तत्प्रतिकूल किसी रूढ़ि या प्रथा के होते हुए भी, ऐसे मामलों में जहां पक्षकार मुसलमान है, वहां विनिश्चय का नियम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) होगा ।
>
> (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

205. 1937 के अधिनियम के पश्चात्, धारा 2 के अधीन "तलाक सहित विवाह, विवाह-विघटन" जैसे बहुत से विषयों के संबंध में मुसलमानों को लागू होने वाली विधि केवल उनकी स्वीय विधि अर्थात् शरीयत होगी । इससे अधिक और कम कुछ भी लागू नहीं होगा । यह तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । इसके प्रतिकूल, मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 के अधीन विवाह विघटन के आधार उपबंधित किए गए हैं । यही स्थिति हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की है । 1937 के अधिनियम के अधीन मात्र यह उपबंधित है कि धारा 2 में प्रगणित मामलों में शरीयत विनिश्चय के नियम के रूप में लागू है । अतः, जबकि तलाक शरीयत द्वारा शासित होती है किन्तु तलाक के लिए विनिर्दिष्ट आधार और प्रक्रिया को 1937 के अधिनियम में संहिताबद्ध नहीं किया गया है ।

206. मामले को इस प्रकार दृष्टिगत करते हुए, मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधीश से पूर्णतया सहमत हूं कि 1937 का अधिनियम तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । परिणामतः, मैं न्यायमूर्ति नरीमन द्वारा व्यक्त किए गए इस मत से सादर असहमत हूं कि 1937 का अधिनियम तीन तलाक को विनियमित करने वाला विधान है और इसलिए इसे अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखा जा सकता है । तथापि, विधि के इस प्रश्न के संबंध में कि किसी विधान को, चाहे वह सर्वांगीण हो या अधीनस्थ, मनमाना होने के आधार पर चुनौती दी जा सकती है, मैं न्यायमूर्ति नरीमन द्वारा प्रतिपादित विधि से सहमत हूं । मेरा यह दृढ़ मत है कि भारत के सांविधानिक लोकतंत्र में ऐसे किसी विधान की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि मनमाना है ।

207. शरीयत को 1937 के अधिनियम द्वारा मुस्लिम स्वीय विधि के

रूप में घोषित किए जाने पर, हमें आवश्यक रूप से यह देखना होगा कि शरीयत क्या है । इसे जाने-माने लेखक आसफ ए. ए. फैजी ने अपनी पुस्तक आउटलाइन्स ऑफ मोहम्मडन ला के पांचवें संस्करण, वर्ष 2008 के पृष्ठ 10[1] पर सुन्दरता से स्पष्ट किया है –

> "... वही किया जाना चाहिए जो नैतिक रूप से उचित है ; और जो नैतिक रूप से अनुचित हो वह नहीं किया जाना चाहिए । यही विधि या शरीयत है और अन्य कुछ भी विधि नहीं हो सकती । किन्तु पूर्ण रूप से और निःसंदेह क्या उचित है और क्या अनुचित है ? ये विधि से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और इनके उत्तर कौन दे सकता है ? निश्चित रूप से कोई व्यक्ति अर्थात् मुसलमान विधिवेत्ता इसका उत्तर नहीं दे सकता । हमारे पास कुरान है जो ईश्वरीय ग्रंथ है । इससे संबंधित हदीसें हैं जो हजरत मोहम्मद की प्रथाएं हैं - उनके द्वारा किए गए कार्यों और कथनों का अभिलेख हैं - जिनसे हम विधिक निष्कर्ष निकालने के लिए सहायता और प्रेरणा लेते हैं । यदि कुरान या हदीस में किसी प्रश्न विशेष, जो हमारे समक्ष लंबित है, का उत्तर देने के लिए सामग्री उपलब्ध न होती तब हमें कतिपय सुनिश्चित सिद्धांतों के अनुसार पंथनिरपेक्ष आधारों का पालन करना होगा । इन सिद्धांतों से पुण्य विधि या शरीयत गठित होती है जैसा कि मुस्लिम विधिवेत्ता इसे समझते हैं । यही मूल विधिक धारणाएं हैं जिनका हमें संपूर्ण इस्लामी स्वीय विधि और इससे संबंधित शरीयत के छोटे से भाग, जिसे भारत में मुस्लिम विधि कहा जाता है, का भी अध्ययन करने के पूर्व अध्ययन और विश्लेषण करने का प्रयास करना चाहिए ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

208. इस्लामी विधि के चार स्रोत हैं (i) कुरान (ii) हदीस (iii) इजमा और (iv) कियास । विद्वान् लेखक ने ठीक ही कहा है कि पवित्र कुरान "विधि का प्रथम स्रोत" है । विद्वान् लेखक के अनुसार, कुरान को प्रधानता दी जानी चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि पवित्र कुरान के अतिरिक्त जो स्रोत हैं वे कुरान में लिखी बातों के पूरक हैं और उनसे वह प्राप्त होता है जिसका उपबंध कुरान में नहीं किया गया है । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है ऐसी कोई हदीस, इजमा या कियास नहीं हो सकता जो उस बात के विरुद्ध हो जिसका उल्लेख कुरान में स्पष्ट रूप से

---

[1] ताहिर महमूद (संस्करण), आसफ ए. ए. फैजी आउटलाइन्स ऑफ मोहम्मडन ला, पांचवा संस्करण, 2008.

किया गया हो । इस्लाम कुरान के विरुद्ध नहीं हो सकता । **मसरूर अहमद** बनाम **राज्य (राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र, दिल्ली) और एक अन्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति बदर दुर्रेज अहमद ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया है :–

> "14. महत्वपूर्ण बात यह है कि शरीयत विधि, नीतिशास्त्र और शिष्टाचार के सभी पहलुओं से संबंधित जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी मुसलमान के जीवन को लागू होने वाले नियमों का एक संक्षिप्त संग्रह है । इन नियमों ने न्यायशास्त्र संबंधित जटिल तकनीकियों को अपनाते हुए इजतिहाद की प्रक्रिया द्वारा स्थायी रूप धारण किया है । प्राथमिक स्रोत कुरान है । फिर भी ऐसे मामले जो ईश्वरीय पुस्तक के अन्तर्गत सीधे ही नहीं आते हैं उन्हें तय करने के लिए हदीसों और इजमा को दृष्टिगत करते हुए नियम बनाए गए थे । अलग-अलग हदीसों का अवलंब लेने, मतैक्य में मतभेद और कियास और बुद्धि, जैसी भी स्थिति हो, में मतभेद के कारण विचारधाराओं में विभेद उत्पन्न हुए हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

209. इसी पृष्ठभूमि में, मैं इस पर विचार करने का प्रयास करूंगा कि तलाक के संबंध में कुरान में क्या कहा गया है । तीन सुरों में तलाक के प्रतिनिर्देश किया गया है - सुरा 2 सामाजिक जीवन के बारे में है; सुरा 4 पारिवारिक जीवन के शिष्टाचार के संबंध में है और सुरा 65 में तलाक को स्पष्ट किया गया है ।

210. कुरान की सुरा 65 तलाक के बारे में है । यह निम्न प्रकार है :–

> **"तलाक या विवाह-विच्छेद**
>
> अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपालु और अत्यंत दयावान है ।
>
> 1. ए नबी! जब तुम लोग स्त्रियों को तलाक दो तो उन्हें तलाक उनकी इद्दत के हिसाब से दो । और इद्दत की गणना करो और अल्लाह का डर रखो, जो तुम्हारा रब है । उन्हें उनके घरों से न निकालो और न वे स्वयं निकले, सिवाय इसके कि कोई स्पष्ट अशोभनीय कर्म कर बैठें । ये अल्लाह की नियत की हुई सीमाएं हैं - और जो अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करे तो उसने स्वयं अपने आप पर अत्याचार किया - तुम नहीं जानते, कदाचित इस (तलाक)

---

[1] (2008) 103 डी. आर. जे. 137.

के पश्चात् अल्लाह कोई सुरा पैदा कर दे ।

2. फिर जब वे अपनी नियत इद्दत को पहुंचे तो या तो उन्हें भली रीति से रोक लो या भली रीति से अलग कर दो । और अपने में से दो न्यायप्रिय आदमियों को गवाह बना दो और अल्लाह के लिए गवाही को दुरुस्त रखो । इसकी नसीहत उस व्यक्ति को की जाती है जो अल्लाह और अन्तिम दिन पर ईमान रखेगा उसके लिए वह (संकट से) बाहर निकलने का मार्ग उपलब्ध कर देगा ।

3. और उसे वहां से रोजी देगा जिसका उसे गुमान भी न होगा । जो अल्लाह पर भरोसा करे तो वह उसके लिए काफी है । निश्चय ही अल्लाह अपना काम पूरा करके रहता है । अल्लाह ने हर चीज का एक अंदाजा नियत कर रखा है ।

4. और तुम्हारी स्त्रियों में से जो मासिक धर्म की आयु से निवृत्त हो चुकी हो, यदि तुम्हे संदेह हो तो उनकी इद्दत तीन मास है और उनकी भी जो अभी रजस्वला नहीं हुई और जो गर्भवती स्त्रियां हो उनकी इद्दत उनके शिशु-प्रसव तक है । जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उसके मामले में वह आसानी पैदा कर देगा ।

5. यह अल्लाह का आदेश है जो उसने तुम्हारी ओर उतारा है और जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उससे वह उसकी बुराइयां दूर कर देगा और उसके प्रतिदान को बड़ा कर देगा ।

6. अपनी हैसियत के अनुसार जहां तुम स्वयं रहते हो उन्हें भी उसी जगह रखो । और उन्हें तंग करने के लिए उन्हें हानि न पहुंचाओ । और यदि वे गर्भवती हों तो उन पर खर्च करते रहो जब तक कि उनका शिशु-प्रसव न हो जाए । फिर यदि वे तुम्हारे लिए शिशु को दूध पिलाएं तो तुम उन्हें उनका पारिश्रमिक दो और आपस में भलीभांति से परस्पर बातचीत के द्वारा कोई बात तय कर लो । और यदि तुम दोनों में कोई कठिनाई हो तो कोई दूसरी स्त्री उसके लिए दूध पिला देगी ।

7. पुरुष को अपनी सामर्थ्य के अनुसार खर्च करना चाहिए और जिसे सीमित साधन मिले हों उसे चाहिए कि अल्लाह ने उसे जो कुछ भी दिया है वह उसी में से खर्च करे । जितना कुछ दिया है उससे बढ़कर अल्लाह किसी व्यक्ति पर जिम्मेदारी का बोझ नहीं डालता । जल्द ही अल्लाह कठिनाई के बाद आसानी पैदा कर देगा ।"

कुरान की सुरा 4 की आयत 35 सुलह हेतु मध्यस्थता के बारे में है :–

"35. और यदि तुम्हें पति-पत्नी के बीच बिगाड़ का भय हो, तो एक फैसला करने वाला पुरुष के लोगों में से और दूसरा फैसला करने वाला स्त्री के लोगों में से नियुक्त करो, यदि वे दोनों सुधार करना चाहेंगे तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता पैदा कर देगा । निःसंदेह, अल्लाह सब कुछ जानने वाला और खबर रखने वाला है ।"

तलाक से संबंधित कुरान की सुरा 2 की निम्न आयतें इस प्रकार है :–

"226. जो लोग अपनी स्त्रियों से अलग रहने की कसम खा बैठे हैं उनके लिए चार महीने की प्रतीक्षा आवश्यक है । फिर यदि वे पलट आएं तो अल्लाह अत्यंत क्षमाशील और दयावान है ।

227. और यदि वे तलाक ही की ठान ले तो अल्लाह भी सुनने वाला भलीभांति जानने वाला है ।

228. और तलाकशुदा स्त्रियां तीन मासिक धर्म बीतने तक स्वयं को रोके रखें और यदि वे अल्लाह और अन्तिम दिन पर ईमान रखती हैं तो उनके लिए यह वैध न होगा कि अल्लाह ने उनके गर्भाशयों में जो कुछ पैदा किया हो वे उसे छिपाएं । इस बीच उनके पति, यदि संबंधों को ठीक कर लेने का इरादा रखते हों, तो वे उन्हें लौटाने के अधिक हकदार हैं और उन पत्नियों के भी सामान्य नियम के अनुसार वैसे ही अधिकार हैं जैसी उन पर जिम्मेदारियां डाली गई हैं और पतियों को उन पर एक दर्जा प्राप्त है । अल्लाह अत्यंत प्रभुत्वशाली और तत्वदर्शी है ।

229. तलाक दो बार ही अनुज्ञात है । फिर सामान्य नियम के अनुसार (स्त्री को) रोक लिया जाए या भले तरीके से विदा कर दिया जाए और तुम्हारे लिए वह वैध नहीं है जो कुछ तुम उन्हें दे चुके हो, उसमें से कुछ ले लो सिवाय इस स्थिति के कि दोनों को डर हो कि अल्लाह की निर्धारित सीमाओं पर कायम न रह सकेंगे तो यदि तुमको यह डर हो कि वे अल्लाह की सीमाओं पर कायम न रहेंगे तो स्त्री जो कुछ देकर छुटकारा प्राप्त करना चाहे उसमें उन दोनों के लिए कोई गुनाह नहीं । ये अल्लाह की सीमाएं हैं । अतः इनका उल्लंघन न करो और जो कोई अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करे तो ऐसे लोग अत्याचारी होंगे ।

230. (दो तलाक के पश्चात्) फिर यदि वह (पति) उसे तलाक दे दे, तो इसके पश्चात् वह (पत्नी) उसके लिए वैध न होगी, जब तक कि वह (पत्नी) किसी दूसरे पति से निकाह न कर ले । अतः,

यदि वह उसे तलाक दे दे तो फिर उन दोनों के लिए एक दूसरे की ओर पलट आने में कोई गुनाह न होगा, यदि वे समझते हों कि अल्लाह की सीमाओं पर कायम रह सकते हैं और यह अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं जिन्हें वह उन लोगों के लिए बयान कर रहा है जो जानना चाहते हैं ।

231. और जब तुम स्त्रियों को तलाक दे दो और वे अपनी निश्चित अवधि (इद्दत) को पहुंच जाएं, तो सामान्य नियम के अनुसार उन्हें रोक लो या सामान्य नियम के अनुसार उन्हें विदा कर दो और तुम उन्हें नुकसान पहुंचाने के ध्येय से न रोको और न ज्यादती करो और जो ऐसा करेगा तो उसने स्वयं अपने ही ऊपर अत्याचार किया और अल्लाह की आयतों को परिहास का विषय न बनाओ और अल्लाह की कृपा जो तुम पर हुई है उसे याद रखो और उस किताब और तत्वदर्शिता को याद रखो जो उसने तुम पर अवतरित की है जिसके द्वारा वह तुम्हें नसीहत करता है । और अल्लाह से डरते रहो और भलीभांति जान लो कि अल्लाह हर चीज जानने वाला है ।"[1]

211. इन निर्देशात्मक आयतों का निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं है । जहां तक तलाक का संबंध है, ये स्पष्ट और असंदिग्ध हैं । पवित्र कुरान के अन्तर्गत विवाह को पवित्र और स्थायी माना गया है । तथापि, अत्यंत अपरिहार्य परिस्थितियों में तलाक अनुज्ञेय है । किन्तु यदि सुलह का प्रयास सफल हो जाता है तब तलाक के समापन के पूर्व कुरान में उल्लिखित आवश्यक कदम उठाते हुए प्रतिसंहरण करना चाहिए[2] । तीन-

---

[1] पवित्र कुरान से ली गई आयतों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद अब्दुल्ला यूसुफ अली द्वारा किया गया है जिसे सभी पक्षकारों द्वारा उचित अनुवाद के रूप में स्वीकार किया गया है ।

[2] ऐसी ही मताभिव्यक्तियां जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवारा बेगम [(1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358] वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम द्वारा की गई हैं जिनमें उन्होंने यह उल्लेख किया है कि "यद्यपि मुस्लिम विधि के अधीन विवाह एक सिविल संविदा है फिर भी मानवता के कल्याण के लिए इसके पारिणामिक अधिकार और उत्तरदायित्व इतने महत्वपूर्ण हैं कि विवाह को अत्यंत पवित्र माना गया है । किन्तु विवाह बंधन के पवित्र होने के बावजूद, इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आपवादिक परिस्थितियों में इसका विघटन करने का विकल्प भी रखा गया है ।" शमीम आरा वाले मामले के पैरा 13 में इस मत का उल्लेख और अनुमोदन किया गया है ।

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

तलाक के पश्चात् सभी रास्ते बंद हो जाते हैं, इसलिए तीन-तलाक पवित्र कुरान के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल है और परिणामतः इससे शरीयत का अतिक्रमण होता है ।

212. अनेक उच्च न्यायालयों द्वारा उपर्युक्त मत का अनुमोदन किया गया है और अन्त में **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को तीन-तलाक को वर्जित करने वाली विधि के रूप में माना गया है । यह उल्लेखनीय है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पूर्व न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने **फजलुन्नवी** बनाम **के. खादर वली और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **साराबाई** बनाम **राबियाबाई**[2] वाले मामले में एकल न्यायाधीश द्वारा की गई प्रचलित टिप्पणी अर्थात् "विधि की दृष्टि से उचित यद्यपि धर्मशास्त्र की दृष्टि से अनुचित" को त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण मानते हुए आपत्ति व्यक्त की है । न्यायपीठ द्वारा निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है :–

> "20. इसके पूर्व कि हम फजलुन्नवी के मामले का समापन करें, यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि मुख्य न्यायामूर्ति बहरुल इस्लाम ने एक विस्तृत निर्णय में पवित्र कुरान की आयतों को उद्धृत करते हुए पूर्ववर्ती इंग्लिश लेखकों और न्यायाधीशों द्वारा की गई त्रुटियों को प्रकट किया है जिन्होंने मुस्लिम विधि में दी जाने वाली तलाक को उचित माना है चाहे वह सनक में या बिना सोचे-समझे दी गई हो और न्यायमूर्ति बैचलर के इस कठोर मत के विरुद्ध तर्क दिया है कि 'विधि में उचित यद्यपि धर्मशास्त्र के अनुसार अनुचित' । यह संभव है । जब कोई मुद्दा प्रत्यक्ष रूप से उठाया जाता है तब यह न्यायालय उस पर विचार कर सकता है किन्तु जब तक इससे संबंधित कोई समस्या नहीं है हम इस प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त नहीं करेंगे क्योंकि वर्तमान मामले में विनिश्चय के लिए ऐसा आवश्यक नहीं है ।"

213. दो दशक से भी अधिक समय के बाद, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तीन तलाक के मामले में पूरे देश में अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण को निर्दिष्ट किया है जिसका आरंभ वर्ष 1878 में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा **फरजन्द हुसैन**

---

[1] [1981] 2 उम. नि. प. 839 = (1980) 4 एस. सी. सी. 125.

[2] (1906) आई. एल. आर. 30 मुम्बई 537.

बनाम **जानू बीबी**[1] वाले मामले में किया गया था और अन्त में **जियाउद्दीन अहमद** बनाम **अनवारा बेगम**[2] और **रूकैया खातून** बनाम **अब्दुल खालिक लश्कर**[3] वाले मामलों में गुवाहाटी उच्च न्यायालय द्वारा किए गए दो विनिश्चयों की चर्चा करते हुए इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

"13. न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम ने (जो बाद में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश बने) गुवाहाटी उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के रूप में जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवारा बेगम (उपर्युक्त) और इसके पश्चात् खण्ड न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए रूकैया खातून **बनाम** अब्दुल खालिक लश्कर (उपर्युक्त) वाले दो विनिश्चयों में एक अन्य ज्ञानात्मक और प्रभावशाली मत व्यक्त किया है । जियाउद्दीन अहमद वाले मामले में पूर्ववर्ती तलाक अर्थात् पति ने न्यायालय में लिखित कथन फाइल करने की तारीख से काफी पहले अपनी पत्नी को तलाक दे दी थी, का अभिवाक् किया गया और इसे कायम रखा गया । उच्च न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न रखा गया कि क्या मुस्लिम विधि के अधीन पति द्वारा दी गई यह तलाक विधिमान्य है । विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि मुस्लिम विधि के अधीन विवाह एक सिविल संविदा है फिर भी मानवता के कल्याण के लिए इसके पारिणामिक अधिकार और उत्तरदायित्व इतने महत्वपूर्ण हैं कि विवाह को अत्यंत पवित्र माना गया है । किन्तु विवाह बंधन के पवित्र होने के बावजूद, इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आपवादिक परिस्थितियों में इसका विघटन करने का विकल्प भी रखा गया है (पैरा 6) । निर्णय में पवित्र कुरान की आयतों और जाने-माने विद्वानों द्वारा की गई टिप्पणियों को उद्धृत करते हुए, विद्वान् न्यायाधीश ने इस कथन की निन्दा की है कि, 'पति द्वारा मौज और सनक में दी गई तलाक विधि की दृष्टि से उचित है यद्यपि वह धर्मशास्त्र के प्रति अनुचित है' और यह मत व्यक्त किया गया कि ऐसा कथन इस धारणा पर आधारित है कि स्त्रियां पुरुषों की जंगम संपत्ति हैं जो कि पवित्र कुरान द्वारा समर्थित नहीं है । तलाक की सही विधि, जैसा कि कुरान द्वारा विहित किया गया है, इस प्रकार है

---

[1] आई. एल. आर. (1878) 4 कलकत्ता 588.

[2] (1981)1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358.

[3] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 375.

कि तलाक युक्तियुक्त कारण से दी जानी चाहिए और उसके पूर्व दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से हो, सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए; यदि प्रयास असफल हो जाता है तब 'तलाक' प्रभावी हो सकती है (पैरा 13) । **रूकैया खातून** (उपर्युक्त) मामले में खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया था कि पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई तलाक की सही विधि इस प्रकार है – (i) 'तलाक' युक्तियुक्त कारण से दी जानी चाहिए ; और (ii) उसके पूर्व दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से होना चाहिए, सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए । यदि उनके प्रयास असफल हो जाते हैं, तब 'तलाक' दी जा सकती है । खण्ड न्यायपीठ ने कलकत्ता उच्च न्यायालय और बॉम्बे उच्च न्यायालय के ऐसे मतों के प्रति विसम्मति प्रकट की है जिनके अन्तर्गत, खण्ड न्यायपीठ की राय में, सही विधि अधिकथित नहीं की गई थी ।

14. हम उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा की गई ऊपर कथित मताभिव्यक्तियों से सादर सहमत हैं ... ।

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया)

214. केरल उच्च न्यायालय के दो विनिश्चयों को निर्दिष्ट करना लाभदायक होगा जिनमें से एक **ए. यूसुफ राथर** बनाम **सोरम्मा**[1] वाला मामला है जिसमें न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने निर्णय दिया था और दूसरा **मोहम्मद हनीफा** बनाम **पथुम्मल बीबी**[2] वाला मामला है जिसमें न्यायमूर्ति वी. खालिद ने निर्णय दिया था । निःसंदेह, **सोरम्मा** (उपर्युक्त) वाला मामला तीन तलाक से संबंधित नहीं था, तथापि, निर्णय के पैरा 7 में इस मुद्दे पर चर्चा की गई है जिसे **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में भी उद्धृत किया गया है :–

"... यह मत कि मुस्लिम पति को तत्काल तलाक देने की मनमानी और एकपक्षीय शक्ति प्राप्त है, इस्लामी व्यादेश के अनुसार नहीं है । .... यह भी प्रचलित भ्रम है कि मुस्लिम पुरुष को विवाह समाप्त करने के लिए कुरान की विधि के अधीन निरंकुश अधिकार प्राप्त है । सम्पूर्ण कुरान में सुव्यक्त रूप से, अपनी पत्नी को तलाक

---

[1] ए. आई. आर. 1971 केरल 261.

[2] (1972) के. एल. टी. 512.

देने के लिए तुच्छ आधार की ईप्सा करने से पुरुष को तब तक रोका गया है जब तक कि उसकी पत्नी उसके प्रति विश्वसनीय और आज्ञाकारी है, 'यदि वे (अर्थात् स्त्रियां) तुम्हारे प्रति आज्ञाकारी हैं, तब उनके विरुद्ध न चला' (कुरान IV:34) । यदि पत्नी अपनी हठ या दुश्चरित्र के कारण अपना वैवाहिक जीवन दुःखद बनाती है तब इस्लामी विधि के अन्तर्गत प्राथमिक रूप से पुरुष को विवाह विघटित करने का प्राधिकार दिया गया है ; किन्तु गंभीर कारणों के अभाव में, धर्म या विधि की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति तलाक को न्यायोचित नहीं कह सकता । पैगम्बर साहब ने कहा यदि वह अपनी पत्नी को छोड़ देता है या शरण में आकर उसे दूर कर देता है तब वह ईश्वर को नाराज करता है, 'क्योंकि ईश्वरीय अभिशाप उस पर होता है जो अपनी पत्नी को सनक में आकर छोड़ देता है ।'

... कुरान के व्याख्याकारों ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है – और यह ऐसी विधि से मेल खाता है जो अब इराक जैसे कुछ मुस्लिम देशों में लागू है – कि पति को चाहिए कि वह तलाक देने के कारण के संबंध में न्यायालय का समाधान करे । तथापि, जैसा कि भारत में लागू है, मुस्लिम विधि ने ऐसा रूप ले लिया है जो पैगम्बर या पवित्र कुरान में अधिकथित भावना के प्रतिकूल है और इसी भ्रांत धारणा से तलाक के लिए पत्नी के अधिकार से संबंधित विधि दूषित हो जाती है ...।"

215. न्यायमूर्ति खालिद ने **मोहम्मद हनीफा** (उपर्युक्त) वाले मामले में विस्तार से मत व्यक्त किया है :–

"5. क्या मुस्लिम पत्नियों को सदैव ऐसे अत्याचार का शिकार होना चाहिए ? क्या उनकी स्वीय विधि ऐसी अभागी पत्नियों के प्रति इतनी कठोर होनी चाहिए ? क्या उनकी पीड़ा को कम करने के लिए इसमें उचित संशोधन नहीं किया जा सकता ? इस विकटता से मेरा न्यायिक विवेक विचलित हुआ है । प्रश्न यह है कि क्या समाज द्वारा चुने गए नेताओं का विवेक भी विचलित होगा ।"

216. ऊपर उल्लिखित मामलों के संबंध में विस्तृत चर्चा के पश्चात्, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैरा 15 में इस न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि "... तलाक को न्यायोचित ठहराने के लिए कोई भी कारण नहीं दिए गए हैं और कोई भी

अभिवाक् या सबूत इस संबंध में नहीं किया/दिया गया है कि तलाक के पूर्व सुलह का प्रयास किया गया था ।" विशेषकर यह उल्लेखनीय है कि **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में निकाले गए निष्कर्ष के साथ सादर सहमत होने पर **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायपीठ द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया था कि युक्तियुक्त कारण से ही तलाक दिया जाना चाहिए और पति और पत्नी के बीच सुलह का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति की ओर से होना चाहिए ; यदि ऐसा प्रयास असफल हो जाता है तब तलाक दी जा सकती है । ऐसे विनिर्दिष्ट निष्कर्षों के आलोक में कि तीन तलाक कुरान के सिद्धांतों का अनुसरण न करते हुए विधि की दृष्टि से कितनी अनुचित है, यह नहीं कहा जा सकता है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन तलाक को लेकर कोई भी विनिश्चयाधार नहीं है ।

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया)

217. **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में के निर्णय को सम्पूर्ण देश के उच्च न्यायालयों ने तीन तलाक की निंदा करने वाली विधि के रूप में समझा है क्योंकि तीन तलाक पवित्र कुरान के सिद्धांतों के प्रतिकूल है । परिणामतः, तीन तलाक का अनुमोदन शरीयत द्वारा भी नहीं किया गया है ।

218. **जमरूद बेगम** बनाम **के. मोहम्मद हनीफ और अन्य**[1] वाले मामले में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ऐसा पहला न्यायालय है जिसने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अपनाए गए मत की पुष्टि की है । उच्च न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले और उसमें उल्लिखित सभी विनिश्चयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निर्णय के पैरा 13 और 17 में निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया है :–

> "13. ऊपर कथित विनिश्चय में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि तलाक मौखिक या लिखित रूप में दी जा सकती है और इसके लिए कोई युक्तियुक्त कारण होना चाहिए । तलाक दिए जाने के पूर्व पति और पत्नी के सुलह का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पति के परिवार से और दूसरा पत्नी के परिवार से होना चाहिए । यदि उन मध्यस्थों के प्रयास असफल हो जाते हैं तब बोलकर तलाक दी जा सकती है ।

[1] (2003) 3 ए. एल. डी. 220.

उक्त प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया गया है । उच्चतम न्यायालय ने इन बातों का विचयन मुल्ला द्वारा लिखित प्रिंसिपिल्स ऑफ मोहम्मडन ला से किया है ।

* * * * *

17. मेरी यह सुविचारित राय है कि अभिकथित तलाक विधिमान्य तलाक नहीं है क्योंकि यह उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धांतों के अनुसरण में नहीं है । कोई भी विधिमान्य तलाक नहीं हुई है, इसलिए पत्नी का पति के साथ संबंध अभी भी बना हुआ है और उसे विवाह-विच्छिन्न (तलाकशुदा) पत्नी नहीं माना जा सकता ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

219. **ए. एस. परवीन अख्तर** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में जहां तक तीन तलाक को विधिमान्य तलाक के रूप में अनुमोदित किए जाने का संबंध है, मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अधिनियम, 1937 की धारा 2 की विधिमान्यता और सांविधानिकता का प्रश्न प्रस्तुत किया गया । न्यायालय ने कुरान के उपबंधों, इस्लामिक विधि के अनेक महत्वपूर्ण विद्वानों और **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले सहित पूर्ववर्ती न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट किया और निम्न निष्कर्ष निकाला :–

"45. इस प्रकार, तलाक से संबंधित विधि, जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा मत व्यक्त किया गया है, इस प्रकार है कि तलाक युक्तियुक्त कारण से ही दी जानी चाहिए और उसके पूर्व पति और पत्नी का सुलह कराए जाने का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से होना चाहिए और जब उनके प्रयास विफल हो जाएं, तब ही तलाक दिया जा सकता है ।

* * * * *

48. **शमीम आरा** 2002 ए. आई. आर. एस. सी. डब्ल्यू. 4162 वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अब घोषित विधि पर विचार करने के पश्चात्, तलाक, चाहे किसी भी रूप में हो, युक्तियुक्त कारण से ही दी जानी चाहिए और उसके पूर्व पति-पत्नी के परिवारों

[1] (2003) 1 एल. डब्ल्यू. 370.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

की ओर से चुने गए मध्यस्थों द्वारा सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए, किन्तु याची की यह आशंका कि किसी भी कारण के न होते हुए और पति-पत्नी के बीच सुलह का प्रयास न किए जाने के बावजूद इस प्रकार की तलाक विधिमान्य होती है, विधि की भ्रांत धारणा पर आधारित है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

जहां तक 1937 के अधिनियम की धारा 2 की सांविधानिकता का संबंध है, न्यायालय ने **श्री कृष्ण सिंह** बनाम **मथुरा अहीर और अन्य**[1] और **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप (ए.डब्ल्यू.ए.जी.) और अन्य** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामलों में किए गए विनिश्चयों को दृष्टिगत करते हुए इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है ।

220. **मंजूर अहमद खान** बनाम **साजा और अन्य**[3] वाले मामले में जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले का भी अवलंब लिया है । न्यायालय ने निर्णय के पैरा 11 में यह उल्लेख किया है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनेक उच्च न्यायालयों के निर्णयों से लिए गए पैराओं का अवलंब लिया है "जो उन व्यक्तियों के लिए चक्षु-उन्मोलक हैं जिनका यह विचार है कि मुस्लिम पुरुष अपनी पत्नी को मात्र सनक या चलचित्तता के आधार पर तलाक दे सकता है ।" न्यायालय ने अन्त में यह अभिनिर्धारित किया है कि पक्षकारों के बीच विवाह समाप्त नहीं हुआ है ।

221. **उम्मेर फारुक** बनाम **नसीमा**[4] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति आर. भास्करन और न्यायमूर्ति के. पी. बालाचन्द्रन ने विभिन्न न्यायालयों के पूर्ववर्ती विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् निर्णय के पैरा 5 और 6 में यह अभिनिर्धारित किया है :-

"5. पथाई **बनाम** मोइदीन 1968 के. एल. पी. 763 वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय से जो सामान्य अर्थ निकलता है, वह इस प्रकार है कि पति द्वारा तलाक देने के अधिकार का विधिमान्य प्रयोग करने के लिए आवश्यक मात्र शर्त यह

---

[1] (1981) 3 एस. सी. सी. 689.
[2] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.
[3] (2010) 4 जे. के. जे. 380.
[4] (2005) 4 के. एल. टी. 565.

है कि तलाक देने के समय पति वयस्क और स्वस्थचित्त होना चाहिए और वह जब भी उसकी इच्छा हो तलाक दे सकता है और विवाह विघटन के लिए किसी भी साक्षी की आवश्यकता नहीं है और जिस समय तलाक की घोषणा की जाती है, विवाह विघटित हो जाता है ; पति द्वारा दी गई तलाक पत्नी को विदित होनी चाहिए और पत्नी को संबोधित करना आवश्यक नहीं है और जैसे ही पत्नी को तलाक दिए जाने की जानकारी होती है, उसी समय तलाक प्रभावी हो जाती है । किन्तु शमीम आरा **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य [(2002) 3 के. एल. टी. 537 (एस. सी.)] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के प्राधिकृत निर्णय को दृष्टिगत करते हुए अब ऐसी तलाक स्वीकार्य नहीं की जा सकती ।

6. इस मामले में केवल इस बात पर पुनः विचार किया जाना चाहिए कि क्या अभिकथित रूप से पति द्वारा तारीख 23 जुलाई, 1999 को बोलकर दी गई तलाक साबित हुई है या नहीं । पत्नी की मौजूदगी में तीन बार बोलकर दी गई तलाक मुस्लिम विधि के अधीन तलाक को प्रभावी होने के लिए पर्याप्त नहीं है । जैसा कि **शमीम आरा** [(2002) 3 के. एल. टी. 537 (एस. सी.)] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है, दो मध्यस्थों द्वारा सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए जिनमें से एक पति की ओर से और दूसरा पत्नी की ओर से होना चाहिए और केवल इस प्रयास के विफल हो जाने पर ही पति पत्नी को तलाक देने का हकदार होगा ...।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

222. **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायमूर्ति बदर दुर्रेज अहमद ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया है :–

"32. इन परिस्थितियों में – (1) तलाक की उद्घोषणा का कोई भी साक्ष्य न होना ; (2) तलाक देने का कोई कारण या न्यायोचित न होना ; और (3) ऐसा कोई अभिवाक् या सबूत न होना कि तलाक दी जाने के पूर्व सुलह का प्रयास किया गया था, उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विवाह विघटित नहीं हुआ है और यह कि भरणपोषण देने का पति का दायित्व बना रहेगा । इस प्रकार, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पश्चात् तलाक से संबंधित विधि की स्थिति, जिसका प्रतिवाद दोनों ही पक्षकारों (पति और पत्नी) द्वारा

2017(8) eILR(PAT) SC 110

> किया गया है, इस प्रकार है कि यदि तलाक को प्रभावी बनाना है, तब प्रथमतः यह साबित किया जाना चाहिए कि तलाक की उद्घोषणा की गई है (न्यायालय में लिखित कथन के रूप में या किसी अन्य अभिवचन में मात्र यह कहना पर्याप्त नहीं है कि पहले कभी किसी समय पर तलाक दे दिया था), इसके पश्चात्, युक्तियुक्त कारण प्रस्तुत किया जाना चाहिए और साथ ही सुलह का प्रयास भी दर्शाया जाना चाहिए...।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

223. **नजीर** उर्फ **ओयूर नजीर** बनाम **शमीमा**[1] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति मुश्ताक ने हाल ही में अर्थात् वर्ष 2016 में अन्य बातों के साथ **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करते हुए तीन तलाक का अननुमोदन किया है ।

224. अतः, विद्वान् मुख्य न्यायाधीश से मेरे लिए इस संबंध में सहमत होना अत्यंत कठिन है कि तीन तलाक की परिपाटी को प्रश्नगत धार्मिक संप्रदाय के प्रति महत्वपूर्ण कारक के रूप में समझना चाहिए और यह कि यह परिपाटी उनकी स्वीय विधि का एक अंग है ।

225. अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक धर्म मानना, उस पर चलना और उसका प्रचार करना भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार है । यह अधिकार (1) लोक व्यवस्था, (2) स्वास्थ्य, (3) नैतिकता और (4) मूल अधिकारों से संबंधित भाग III के अन्य उपबंधों के अध्यधीन है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 25(2) के अधीन राज्य को अनुच्छेद 25(1) के अधीन प्रदत्त स्वतंत्रता के होते हुए दो आकस्मिक परिस्थितियों में विधि बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई है । अनुच्छेद 25(2) के अधीन यह उपबंधित किया गया है कि "इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो – (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है ; (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।" उपर्युक्त सीमा के सिवाय, भारत के संविधान के अधीन धर्म की स्वतंत्रता

---

[1] (2017)1 के. एल. टी. 300.

परम है और इस विषय पर, मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से पूर्णतया सहमत हूं । तथापि, मैं इस कथन से सादर असहमत हूं कि तीन तलाक धार्मिक प्रथा का एक महत्वपूर्ण अंग है । मात्र इस कारण से कि यह प्रथा लंबे समय से चली आ रही है, विधिमान्य नहीं मानी जा सकती यदि इसे स्पष्ट रूप से अननुज्ञेय घोषित कर दिया गया हो । 1937 के अधिनियम का सम्पूर्ण प्रयोजन यह था कि शरीयत को विनिश्चय का नियम घोषित किया जाए और शरीयत विरोधी प्रथाओं को, धारा 2 में प्रगणित विषयों के संबंध में जिनमें तलाक सम्मिलित है, समाप्त किया जाए । अतः, किसी भी दशा में, 1937 के अधिनियम के पुरःस्थापन के पश्चात् कुरान के सिद्धांतों के विरुद्ध कोई भी प्रथा अनुज्ञेय नहीं है । अतः, ऐसी प्रथा को कोई भी सांविधानिक संरक्षा नहीं दी जा सकती और इस प्रकार तीन तलाक को सांविधानिक संरक्षा देने के लिए मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से सहमत नहीं हूं । मुझे इस संबंध में गंभीर संदेह भी है कि क्या अनुच्छेद 142 के अधीन भी मूल अधिकार के प्रयोग को व्यादिष्ट किया जा सकता है ।

226. जब ऐसी प्रकृति के मुद्दे विचार के लिए सामने आते हैं, तब चर्चा प्रायः ऐसा रूप ले लेती है कि धर्म का मुकाबला अन्य सांविधानिक अधिकारों से किया जाता है । मेरा यह विश्वास है कि उन दोनों के बीच तालमेल संभव है किन्तु विभिन्न हितों के समन्वय की प्रक्रिया विधान-मण्डल की शक्ति के अधीन है । निःसंदेह, इस शक्ति का प्रयोग सांविधानिक मानदण्डों के अन्तर्गत भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत धार्मिक स्वतंत्रता को निरुद्ध किए बिना किया जाना चाहिए । तथापि, किसी भी विधान के लिए निदेश देना न्यायालयों का कार्य नहीं है ।

227. संयोगवश, इस न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अपना कार्य कर दिया है । मैं **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में घोषित विधि का अभिव्यक्त रूप से अनुमोदन करता हूं और उसे दोहराता हूं । जो पवित्र कुरान की दृष्टि से गलत है वह शरीयत के अनुसार सही नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो धर्मशास्त्र के प्रति अनुचित है, वह विधि की दृष्टि से भी गलत ही होगा ।

न्यायमूर्ति आर. एफ. नरीमन

228. विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के निर्णय की प्रति का परिशीलन करने के उपरांत, मैं, सादर, इससे असहमत हूं ।

229. यह मामला इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ के समक्ष

कतिपय समाचार पत्रों में प्रकाशित लेखों के कारण आया है, जिसका इस न्यायालय की एक खंड न्यायपीठ ने **प्रकाश** बनाम **फूलवती**[1] वाले मामले में उल्लेख किया था और यह कहा था कि :–

"28. लिंग विभेद का महत्वपूर्ण मुद्दा, जो हालांकि इस अपील में प्रत्यक्ष तौर पर अंतर्वलित नहीं है, पक्षकारों की ओर से उन कुछ विद्वान् काउंसेलों द्वारा उठाया गया है जो मुस्लिम स्त्रियों के अधिकारों को लेकर चिंतित हैं । लिंग विभेद पर चर्चाओं ने भी इस मुद्दे का मार्ग प्रशस्त किया । यह बताया गया कि संविधान की गारंटी के बावजूद मुस्लिम स्त्रियां विभेद की शिकार हैं । मनमाने तलाक के विरुद्ध और पहले विवाह के चालू रहने के दौरान उसके पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर कोई रक्षोपाय नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप वह गारिमा और सुरक्षा से वंचित हो जाती हैं । हालांकि अहमदाबाद वूमन ऐक्सन ग्रुप **बनाम** भारत संघ (1997) 3 एस. सी. सी. 573 वाले मामले में, इस न्यायालय के समक्ष इस मुद्दे को उठाया गया था, किंतु इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए विभेद के गुणागुण पर विचार नहीं किया कि यह मुद्दा राज्य की नीति से संबंधित है, जिस पर विधान-मंडल द्वारा विचार किया जाना चाहिए । इस न्यायालय ने सरला मुदगल **बनाम** भारत संघ [(1995) 3 एस. सी. सी. 635 = (1995) एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 569] वाले मामले में, न्यायमूर्ति सहाय की इन मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट किया कि समान सिविल संहिता के लिए माहौल बनाए जाने की आवश्यकता है । मधु किशवर **बनाम** बिहार राज्य (1996) 5 एस. सी. सी. 125 वाले मामले में की गई इस आशय की मताभिव्यक्तियों के प्रति भी निर्देश किया गया कि न्यायालय एक सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका निभाने के बजाय अधिक से अधिक समस्या पर सलाह दे सकता है और ध्यान केंद्रित करा सकता है । यह मत व्यक्त किया गया कि मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 को दी गई चुनौती संविधान न्यायपीठ के समक्ष लंबित है और इस मुद्दे पर कई कार्यवाहियां करने का कोई कारण नहीं है ।

31. अतः यह दलील दी गई कि मामले के इस पहलू पर मामले को एक लोक हित वाद (पी. आई. एल.) के रूप में रजिस्ट्रीकृत करके विचार किया जाए । हमारा यह मत है कि इस सुझाव पर, इस

[1] (2016) 2 एस. सी. सी. 36.

न्यायालय के पर्वूवर्ती विनिश्चयों को ध्यान में रखते हुए विचार करने की आवश्यकता है । इस मुद्दे को समाचारपत्रों में छपे हाल ही के लेखों में भी उजागर किया गया है । [वंदना शुक्ला द्वारा द ट्रिब्यून, तारीख 24.9.2015 में 'मुस्लिम वूमेंस क्वेस्ट फॉर इक्वेलिटी' (मुस्लिम स्त्रियों की समता के लिए तलाश] और दिप्ति नागपॉल डिसूजा द्वारा तारीख 4.10.2015 की एक्सप्रेस मैग्जीन में 'इन हर कोर्ट']

32. इस प्रयोजन के लिए, अलग से एक लोक हित वाद रजिस्ट्रीकृत किया जाए और इसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के आदेशों के अनुसार समुचित न्यायपीठ के समक्ष रखा जाए ।"

(पृष्ठ सं. 53 और 55 पर)

उसके पश्चात् कई रिट याचिकाएं फाइल की गईं और वे विभिन्न रूपों में एक समान अनुतोष की ईप्सा करते हुए हमारे समक्ष आई हैं अर्थात् मुस्लिम पति द्वारा एक बार में तीन तलाक, जिससे विवाह-बंधन टूट जाता है, जो सांविधानिक विधि की दृष्टि से दूषित है ।

230. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विभिन्न काउंसेलों द्वारा व्यापक तर्क दिए गए । इन्हें विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के निर्णय में अति विस्तारपूर्वक निर्दिष्ट किया गया है । सारतः, याचियों ने, जिनका भारत संघ द्वारा समर्थन किया गया, यह कहा कि तीन तलाक आज के युग में एक काल-दोष है और सांविधानिक रूप से कहा जाए तो यह एक अभिशाप है । लिंग विभेद के तर्क को सर्वोपरि रखते हुए, यह कहा कि भले ही शरीयत विधि द्वारा, जो भारत में सुन्नी मुसलमानों पर लागू है, तीन तलाक को स्वीकृति दी गई हो, तो भी यह भारत के संविधान, विशिष्ट रूप से अनुच्छेद 14, 15(1) और 21 में अन्तर्निहित मुस्लिम स्त्रियों के मूल अधिकारों का अतिक्रमणकारी है । इस बात का विरोध करते हुए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड तथा अन्य की ओर से काउंसेलों ने, जिन्होंने उनका समर्थन किया, बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय, जो **बम्बई राज्य** बनाम **नरासू अप्पा माली**[1] वाला मामला है, का इस प्रतिपादना के लिए जोरदार रूप से अवलंब लिया कि स्वीय विधियां (पर्सनल लॉज) संविधान के मूल अधिकारों के अध्याय की परिधि के परे हैं और इसलिए, इस न्यायालय द्वारा अभिखंडित नहीं की जा सकती हैं । उनके अनुसार, ऐसी वस्तु स्थिति में,

---

[1] ए. आई. आर. 1952 बम्बई 84.

इस न्यायालय को इस मामले से अपने हाथ खींच लेने चाहिएं और मुस्लिम स्त्रियों तथा अन्य स्त्री संगठनों को विधान-मंडल के पास भेजा जाना चाहिए, क्योंकि उनके अनुसार, यदि अनुच्छेद 25(2) के अधीन सामाजिक कल्याण और सुधार के उपाय के रूप में तीन तलाक को समाप्त किया जाना है तो केवल विधान-मंडल को ही ऐसा करना चाहिए । इस पर, दूसरे पक्ष का प्रति-तर्क यह है कि मुस्लिम स्वीय विधियों पर इस प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा रहा है । इन मामलों में आक्षेप की विषयवस्तु वह कानून, अर्थात् मुस्लिम पर्सनल ला (शरीयत) एप्लीकेशन ऐक्ट, 1937 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 1937 का अधिनियम कहा गया है) है । उनके अनुसार, 1937 के अधिनियम की धारा 2 में तीन तलाक को कानूनी विधि द्वारा विनिर्दिष्ट तौर पर स्वीकृति दी गई है और यह घोषणा करने के लिए ईप्सा की गई है कि 1937 के अधिनियम की धारा 2 उपर्युक्त सीमा तक सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है । इस पर, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड ने यह कहा कि धारा 2 तीन तलाक की मुस्लिम विधि को लागू करने के लिए नहीं है, जैसा कि धारा 2 में सर्वोपरि खंड से उपदर्शित होता है । इसलिए, उनके अनुसार, तीन तलाक संबंधी मुस्लिम स्वीय विधि स्वयं अपने बल से प्रवर्तित है और, जैसा कि **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, इसे "प्रवृत्त विधियों" के रूप में अनुच्छेद 13(1) में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है ।

231. इसलिए, इस न्यायालय के समक्ष उत्पन्न प्रश्न अंततः बहुत ही संक्षिप्त है । केवल तीन तलाक चुनौती की विषयवस्तु है, तलाक के अन्य रूप नहीं । अतः इस न्यायालय के समक्ष जो स्पष्ट प्रश्न उद्‌भूत होता है, यह है कि क्या 1937 के अधिनियम को भारत में न्यायालयों द्वारा अनुसरित किए जाने वाले विधि के नियम के रूप में तीन तलाक को मान्यता देने और प्रवर्तित करने वाला अधिनियम कहा जा सकता है और यदि नहीं तो क्या **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाला मामला, जिसमें यह कहा गया है कि स्वीय विधियां, संविधान के अनुच्छेद 13(1) की परिधि से बाहर हैं, विधि की दृष्टि से सही है ।

232. चूंकि भारत में मुसलमान दो मुख्य पंथों में विभाजित हैं, अर्थात् सुन्नी और शिया और यह मामला केवल सुन्नी से संबंधित है क्योंकि शिया तीन तलाक को मान्यता नहीं देते हैं, इसलिए, बिल्कुल प्रारंभ से ही विचार करना महत्वपूर्ण होगा ।

233. मुल्ला के मुस्लिम विधि के सिद्धांत (सोलहवां संस्करण) (1968)

की अति प्रदीपक प्रस्तावना में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने पैगम्बर मोहम्मद के बारे में बताते हुए यह कहा है कि :–

> "पैगम्बर ने स्वयं को सर्वोच्च अधिपति और सर्वोच्च उपदेशक स्थापित किया था । अरबवासी अज्ञानता और बर्बरता, अंधविश्वास और बुराई से सरोबार थे । बालिका वध, नशाखोरी, व्यभिचारिता और अन्य बुराइयां अनियंत्रित थीं ।
>
> तथापि, पैगम्बर ने किसी उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित नहीं किया । अबु बकर द्वारा उनकी मृत्यु की घोषणा की गई और निर्वाचन कराने के लिए तुरंत कार्रवाई की गई । जैसे ही यह घोषणा हुई, बानु खज़राज कबीले के मुखियागण ने मुखिया के निर्वाचन के लिए एक बैठक आयोजित की और सहभागी उस स्थान पर गए । इस बैठक में अबु बकर को उत्तराधिकारी के रूप में निर्वाचित किया गया । अगले दिन अबु बकर आसनारूढ़ हुए और प्रत्येक ने निष्ठा (बायत) की शपथ ली ।
>
> इस निर्वाचन से सुन्नियों और शियाओं के बीच गहरे मतभेद हो गए । करीश कबीला ओमायदस और हशिमिटिज़ में विभाजित हो गया । हशिमिटिज़ नाम पैगम्बर के पितामह हाशिम के नाम पर पड़ा था । ओमायदस और हशिमिटिज़ के बीच गहरी दुश्मनी थी । हशिमिटिज़ अली के उत्तराधिकार के पक्षधर थे और यह दावा किया कि उन्हें पैगम्बर द्वारा नियुक्त किए जाने और उनसे निकटता होने के कारण चुना जाना चाहिए था । वास्तव में निर्वाचन का कार्य उस समय किया गया था जब पैगम्बर का परिवार (अली सहित) अन्त्येष्टि संस्कार में लगा हुआ था । इस बात से हशिमिटिज़ क्रुद्ध हो गए । तथापि, यह कहा जाता है कि अली ने स्वयं अपना दावा किए बिना तत्परता से अबु बकर को निष्ठा की शपथ दिला दी । जब उमर और उस्मान का क्रमशः द्वितीय और तृत्तीय निर्वाचन हुआ तो अली निर्वाचन के लिए खड़े नहीं हुए किंतु वह कदापि इन विनिश्चयों के विरुद्ध नहीं गए और हर बार नए खलीफा को स्वीकार करते रहे और उसे सतत रूप से समर्थन प्रदान करते रहे । अबु बकर की आयु 60 वर्ष थी और केवल दो वर्ष खलीफा रहे (634 ई. पू.) । यहां तक कि जब वह खलीफा थे, उनके पीछे शक्ति उमर इब्नुल खत्ताब की थी । यह कहा जाता है कि अबु बकर ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उमर को नामित किया था । भले ही यह बात सत्य न हो, तो भी यह

स्पष्ट है कि निर्वाचन मात्र एक औपचारिकता थी । खलीफा के रूप में उमर की दस वर्ष पश्चात् (644 ई. पू.) छलपूर्वक हत्या कर दी गई । उस्मान तृत्तीय खलीफा के रूप में निर्वाचित हुए । किवदन्ती यह है कि उमर ने निर्वाचकों का एक आंतरिक पेनल (जिनकी संख्या छह थी) गठित किया था, किंतु कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने इस बात से इनकार किया है । बाद में अब्बासिदों द्वारा अपने निर्वाचनों के लिए आंतरिक सभा गठित करने के लिए इस परंपरा का प्रयोग किया गया । इस विशेष निर्वाचन को जनसाधारण द्वारा स्वीकार किए जाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था, किंतु कुछ सीमा तक यह एक औपचारिक निर्वाचन था । उस्मान 12 वर्षों तक खलीफा रहा और छलपूर्वक (656 ई. पू.) में उनकी हत्या कर दी गई । अंततः अली चौथे खलीफा के रूप में निर्वाचित हुए । पहले चार खलीफाओं का निर्वाचन, जो कि खलीफा-ए-राशीदान (सही रूप में मार्गदर्शित खलीफा) के रूप में जाने जाते हैं, वास्तविक था, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक बार चयन ऐसा था कि विरोध की कोई गुंजाइश नहीं थी । अली पांच वर्ष तक खलीफा रहे । वे 661 ई. पू. लड़ाई में मारे गए । अली के पुत्र हसन ने उम्मीयद राजवंश के संस्थापक मुवइया के पक्ष में त्यागपत्र दे दिया । तथापि, हसन की हत्या कर दी गई । अली के पक्षधरों ने अली के द्वितीय पुत्र हुसैन को मुवइया के पुत्र यजीद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया, किंतु हुसैन की करबला में लड़ते हुए अत्यधिक कष्ट झेलने के पश्चात् मृत्यु हो गई । उसके पश्चात् सुन्नियों और शियाओं (अली का शियात-ए-अली दल) के बीच वैमनस्य अत्यधिक गहरा हो गया ।"

234. इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, सुन्नियों के विभिन्न उप-पंथों का उल्लेख करना आवश्यक है । मोटे तौर पर चार मुख्य उप-संप्रदाय सुन्नी विधि की मान्यताप्राप्त शाखाएं हैं । वे हैं हनफी शाखा, मालिकी शाखा, शफी शाखा और हंबाली शाखा । भारत में अधिकांश सुन्नी, विधि की हनफी शाखा का अनुसरण करते हैं । मुल्ला ने मुस्लिम विधि के सिद्धांत (20 वां संस्करण) (पृष्ठ 19 से 21) में हनफी शाखा के बारे में यह कहा है :–

"सुन्नी विधि की चार शाखाओं में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध है । यह शाखा अबू हनीफा द्वारा (699-767 ई.पू.) संस्थापित की गई थी । इस शाखा को 'कुफा शाखा' के रूप मे भी जाना जाता है ।

2017(8) eILR(PAT) SC 110

यद्यपि, शिया शाखा के संस्थापक महान इमाम जफर-ए-सादिक द्वारा शिक्षित अबु हनीफा अब्दुला ईबन-अल-मुबारक और हमीद बिन-सुलेमान के भी शिष्य रहे थे और इस कारण से उनके द्वारा एक अलग शाखा की संस्थापना करने की बात न्यायोचित हो सकती है। इस शाखा का समर्थन अब्बासिद खलीफाओं द्वारा किया गया और इसके सिद्धांत दूर-दूर तक फैले। अबु हनीफा ने 'महान इमाम' की पदवी अर्जित की। इस शाखा को अबु हनीफा के अतिरिक्त उनके दो और सम्मानित शिष्यों, अबु युसुफ (जो बगदाद में मुख्य काज़ी बने) और इमाम मोहम्मद अश-शयबानी, एक बहु-प्रतिभाशाली लेखक, जिन्होंने विधिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी, के आधिपत्य में रहने का सौभाग्य मिला। इस शाखा के संस्थापक की स्वयं की बहुत कम लिखित कृति हैं। इस शाखा का गृह इराक में था किंतु इस राज्यक्षेत्र में इस शाखा के साथ-साथ अन्य शाखाएं भी थीं, हालांकि यहां उनका संतोषजनक प्रतिनिधित्व है। ओटोमन तुर्क और सेल्जुक तुर्क हनफी थे। इस शाखा के सिद्धांत सीरिया, अफगानिस्तान, तुर्किश मध्य एशिया और भारत में फैले। कुफा शाखा से संबद्ध अन्य नाम इबन अबी लायला और साफ्यान थावड़ी हैं। सिद्धांतों पर लिखी गई पुस्तकें अल-हिदाय ऑफ मारधिनी (हमिल्टन द्वारा अनुदत), रदद-अल-मुख्तर तथा कुदुरी के अल-मुख्तसर हैं। औरंगजेब के समय में संकलित फतबा-ए-आलमगिरि में अन्य सामग्री के साथ-साथ इस शाखा के सिद्धांत अंतर्विष्ट हैं।"

235. यह कहना अनावश्यक होगा कि हनफी शाखा ने भारत में सुन्नी मुसलमानों के बीच तीन तलाक की परिपाटी का सदियों से समर्थन किया है।

236. इस्लाम में विवाह एक संविदा है और अन्य संविदाओं की भांति यह कतिपय परिस्थितियों में समाप्त की जा सकती है। इसमें आश्चर्यचकित रूप से कुछ आधुनिकता आई है – मुस्लिम विवाह की विधिमान्यता के लिए कोई सार्वजनिक घोषणा करना एक पूर्ववर्ती शर्त नहीं है और न ही कोई धार्मिक अनुष्ठान आत्यंतिक रूप से आवश्यक समझा जाता है, हालांकि ये प्रायिकतः किए जाते हैं। स्पष्ट रूप से, पैगम्बर मोहम्मद के काल से पूर्व, पगान अरब मात्र सनक के आधार पर अपनी पत्नी का परित्याग करने के लिए पूर्ण रूप से स्वछंद था, किंतु इस्लाम के आगमन के पश्चात् उस पुरुष के लिए तलाक अनुज्ञात था यदि उसकी

2017(8) eILR(PAT) SC 110

पत्नी ने अपनी दुर्दान्तता या दुश्चरित्र द्वारा वैवाहिक जीवन को असंभव बना दिया है । अच्छे कारण के अभाव में, कोई व्यक्ति तलाक को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता, क्योंकि वह फिर स्वयं को परमात्मा के अभिशाप का भागी बना लेता है । वास्तव में, पैगम्बर मोहम्मद ने तलाक को परमात्मा की दृष्टि में सबसे घिनौनी विधिपूर्ण बात होना घोषित किया था । इसके कारण ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । तलाक से वैवाहिक बंधन टूट जाता है जो कि इस्लाम में पारिवारिक जीवन के लिए मूलभूत है । इससे न केवल पुरुष और स्त्री के बीच वैवाहिक बंधन का विच्छेद होता है अपितु ऐसे विवाह से उत्पन्न बालकों पर गंभीर मनोवैज्ञानिक और अन्य प्रभाव पड़ते हैं ।

237. यह चर्चा हमें इस्लामिक विधि में मान्यताप्राप्त तलाक के रूपों की ओर ले जाती है । **मुल्ला** (उपर्युक्त) ने पृष्ठ 393-395 पर इसका इस प्रकार उल्लेख किया है :–

> "धारा 311 तलाक के विभिन्न ढंग – तलाक निम्नलिखित प्रकारों में से किसी प्रकार से दिया जा सकता है –
>
> '(1) तलाक अहसन – इसमें तुहर (दो ऋतस्रावों के बीच की अवधि) के दौरान एक बार तलाक का उच्चारण किया जाता है और इसके पश्चात् इद्दत की अवधि तक संभोग से प्रविरति रहती है ।
>
> जब विवाह विवाहोत्तर संभोग द्वारा पूर्ण न हुआ हो, तो अहसन रूप में तलाक का उच्चारण किया जा सकता है भले ही पत्नी अपने ऋतुस्राव में हो ।
>
> जहां पत्नी की ऋतुस्राव कालावधि की आयु पूरी हो गई हो, वहां तुहर के दौरान घोषणा करने की अपेक्षा लागू नहीं होती है, इसके अतिरिक्त, यह अपेक्षा केवल मौखिक तलाक पर लागू होती है, लिखित तलाक पर नहीं ।
>
> तलाक अहसन पवित्र कुरान की निम्नलिखित आयत पर आधारित है – 'और तलाकशुदा स्त्री को स्वयं को तीन अनुक्रमों के लिए प्रतीक्षारत रखना चाहिए' (11-228)
>
> 'और आपकी स्त्री जो ऋतुस्राव की आशा खो चुकी है, यदि आपको संदेह है, तो उनका विहित समय तीन मास है,

और उनके लिए भी जिन्होंने अपने अनुक्रमों को पूरा नहीं किया है ।' (65-4)

2. तलाक हसन - इसमें क्रमवर्ती तुहरों के दौरान तीन बार उच्चारण किया जाता है और तीनों तुहरों में से किसी के दौरान संभोग नहीं किया जाता है ।

प्रथम उच्चारण एक तुहर के दौरान किया जाना चाहिए, द्वितीय उच्चारण अगले तुहर और तृतीय उत्तरवर्ती तुहर के दौरान किया जाना चाहिए ।

तलाक हसन कुरान के निम्नलिखित व्यादेशों पर आधारित है :–

> 'तलाक दो बार उच्चारित किया जाए, फिर उन्हें मित्रवत रखा जाए या (उनके साथ) दयालुता बरती जाए ।' (11:229)

'इस प्रकार, यदि वह (पति) उसे तलाक तीसरी बार दे देता है तो वह उसके पश्चात् तब तक उसके लिए वैध नहीं रहेगी जब तक कि वह अन्य व्यक्ति से विवाह नहीं कर लेती है ।'(11:230)

3. तलाक-उल-बिद्दत या तलाक-ए-बदाई- इसमें :–

> (i) एक ही तुहर के दौरान या तो तीन बार उच्चारण किया जाता है, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', - या अलग-अलग वाक्यों में, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', अथवा
>
> (ii) एक तुहर के दौरान एक ही उच्चारण, विवाह के विघटन के लिए स्पष्ट तौर पर अप्रतिसंहरणीय आशय को उपदर्शित करते हुए किया जाता है, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें अप्रतिसंहरणीय तलाक देता हूं ।'

तलाक-अस-सुन्नत और तलाक-उल-बिद्दत

हनफी दो प्रकार के तलाक को मान्यता देते हैं, अर्थात् (1) तलाक-अस-सुन्नत, अर्थात् पैगम्बर की सुन्नत (प्रथाओं) में अधिकथित नियमों के अनुसार तलाक; और (2) <u>तलाक-उल-</u>

बिद्दत, अर्थात्, नया या अनियमित तलाक । तलाक-उल-बिद्दत मुहम्मद काल की द्वितीय शताब्दी में ओमायद बादशाहों द्वारा पुरःस्थापित किया गया था । तलाक-उल-सुन्नत दो प्रकार का है, अर्थात् -(1) अहसन, अर्थात् पूरी तरह से उचित, और (2) हसन, अर्थात् उचित । तलाक-उल-बिद्दत या धर्म-द्रोही तलाक, विधि की दृष्टि से ठीक है, यद्यपि धर्म-शास्त्र की दृष्टि से दूषित है और अवध सहित इस देश में तलाक की यही सर्वाधिक सामान्य और प्रचलित पद्धति है । तलाक अहसन और तलाक हसन की दशा में, पति के पास अपने विनिश्चय पर पुनर्विचार करने का अवसर होता है, क्योंकि इन दोनों दशाओं में तलाक तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि एक कतिपय अवधि बीत नहीं जाती (एस. 312) और पति के पास इस अवधि से पूर्व इसे वापस लेने का विकल्प होता है । किंतु तलाक-उल-बिद्दत उच्चारित करते ही तुरंत अप्रतिसंहरणीय बन जाता है (एस. 312) । तलाक-उल-बिद्दत की आवश्यक विशेषता इसकी अप्रतिसंहरणीयता है । अप्रतिसंहरणीयता की एक कसौटी एक ही तुहर में तलाक के सूत्र को तीन बार दोहराना है । किंतु तीन बार दोहराना तलाक-उल-बिद्दत की आवश्यक शर्त नहीं है और अप्रतिसंहरणीय तलाक देने का आशय एक ही घोषणा से भी अभिव्यक्त हो सकता है । इस प्रकार यदि कोई पुरुष कहता है कि 'मैंने आपको तलाक-उल-बैन द्वारा तलाक दे दिया है, तो यह तलाक तलाक-उल-बिद्दत या तलाक-ए-बदाई होता है और यह उच्चारित करते ही तुरंत प्रभावी हो जाएगा भले ही इसका एक बार उच्चारण किया गया हो । यहां 'बैन' अभिव्यक्ति का प्रयोग स्वतः अप्रतिसंहरणीय तलाक देने के आशय को स्पष्ट करती है ।'

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

238. एक अन्य विख्यात लेखक ए. ए. ए. फ्याज़ी ने अपनी पुस्तक "आउटलाइन्स आफ मुहम्मडन ला" (पांचवा संस्करण) में पृष्ठ 120-122 पर यह उल्लेख किया है :-

"तलाक की उद्घोषणा या तो प्रतिसंहरणीय या अप्रतिसंहरणीय हो सकती है । क्योंकि इस्लाम के पैगम्बर ने तलाक का समर्थन नहीं किया था, इसलिए तलाक के प्रतिसंहरणीय रूपों को 'अनुमोदित'

समझा जाता है और अप्रतिसंहरणीय रूपों को 'अननुमोदित' रूप समझा जाता है । तलाक की प्रतिसंहरणीय उद्घोषणा पुरुष को अपराध से मुंह मोड़ने का अवसर देती है, किंतु अप्रतिसंहरणीय उद्घोषणा प्रश्न पर पुनर्विचार करने का अवसर दिए बिना एक अवांछित परिणाम की ओर ले जाती है । यदि इस सिद्धांत को मस्तिष्क में रखा जाता है तो शब्दावली आसानी से समझ में आ जाती है । तलाक के रूपों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :–

(क) तलाक-अल-सुन्ना (अर्थात् पैगम्बर के आदेशों के अनुरूप) –

(i) अहसन (सर्वाधिक अनुमोदित),

(ii) हसन (अनुमोदित) ।

(ख) तलाक-अल-बिदा (अर्थात् नव-परिवर्तित, इसलिए अनुमोदित नहीं) –

(i) एक बार में तीन घोषणाएं (तथाकथित तीन तलाक),

(ii) अप्रतिसंहरणीय एक घोषणा (सामान्यतः लिखित में) ।

तलाक-अल-सुन्ना, जो सर्वाधिक अनुमोदित रूप हैं, में तुहर (शुद्धता, अर्थात् जब स्त्री अपने ऋतुस्राव अनुक्रमों से मुक्त हो जाती है) की अवधि में केवल एक उद्घोषणा की जाती है और उस यौन शुद्धता की संपूर्ण अवधि के दौरान संभोग से प्रविरति रहती है । यदि उल्लिखित अवधियों के दौरान कोई ऐसा संभोग किया जाता है तो तलाक शून्य हो जाता है और ईथना आशरी और फातिमी विधियों में इसका कोई प्रभाव नहीं होता है । यही वह पद्धति या प्रक्रिया है जो पैगम्बर द्वारा अपने शासन के आरंभ में अनुमोदित की गई प्रतीत होती है और परिणामतः, इसे तलाक का नियमित या उचित और प्रथागत रूप समझा जाता है ।

जहां पक्षकार लंबे समय से एक-दूसरे से दूर रह रहे हों, या जहां पत्नी वृद्ध है और ऋतुस्राव की आयु पार कर चुकी है, वहां तुहर की शर्त अनावश्यक है ।

तलाक के अहसन रूप में की गई उद्घोषणा इद्दत के दौरान प्रतिसंहरणीय है । यह अवधि घोषणा की तारीख से तीन माह की है, या यदि स्त्री गर्भवती है तो प्रसव होने तक है । पति इद्दत के दौरान किसी भी समय तलाक का प्रतिसंहरण कर सकता है । यह प्रतिसंहरण अभिव्यक्त शब्दों द्वारा या आचरण द्वारा किया जा सकता है । दांपत्य संभोग की पुनः शुरुआत करना प्रतिसंहरण का स्पष्ट मामला होता है । उदाहरण के लिए, 'एच' अपनी पत्नी के विरुद्ध तलाक की एकल प्रतिसंहरणीय उद्घोषणा करता है और फिर कहता है, 'मैंने उसे रख लिया है या उसके साथ सहवास करता हूं', तो तलाक हनफी तथा ईथना आशरी विधि के अधीन प्रतिसंहृत हो जाता है । इद्दत के पर्यवसान के पश्चात् तलाक अप्रतिसंहरणीय बन जाता है ।

मुस्लिम पत्नी तलाक के पश्चात् इद्दत के दौरान भरणपोषण की हकदार है और कतिपय परिस्थितियों में उसका बालक भी ।

तलाक का हसन रूप भी एक अनुमोदित रूप है किंतु पहले (अहसन) की अपेक्षा कम अनुमोदित है, जिसमें शुद्धता (तुहर) की तीन क्रमवर्ती अवधियों के दौरान तीन उत्तरवर्ती उद्घोषणाएं होती हैं । प्रत्येक उद्घोषणा उस समय की जानी चाहिए, जब शुद्धता की उस विशिष्ट अवधि के दौरान संभोग न किया गया हो ।

तलाक के हसन रूप का कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है और एक ठोस उदाहरण पर्याप्त होगा । पति (एच) अपनी पत्नी (डब्ल्यू) को पहली बार उस अवधि के दौरान तलाक की उद्घोषणा करता है जब 'डब्ल्यू' अपने ऋतुस्राविक अनुक्रम से मुक्त है । पति और पत्नी शुद्धता की इस अवधि के दौरान एक साथ नहीं आए । यह प्रथम तलाक है । 'एच' शुद्धता की इस अवधि में सहवास करे या इस प्रथम तलाक को प्रतिसंहृत करे । उसके पश्चात् शुद्धता की अगली अवधि में, उस समय जब संभोग न किया गया हो, 'एच' द्वितीय तलाक की उद्घोषणा कर देता है । यह तलाक पुनः अभिव्यक्त शब्दों द्वारा या आचरण द्वारा प्रतिसंहृत किया गया हो और शुद्धता की तृतीय अवधि में प्रवेश हो गया हो । इस अवधि में, जबकि कोई संभोग नहीं हुआ है, 'एच' तीसरी बार तलाक के सूत्र की उद्घोषणा करता है । यह तृतीय उद्घोषणा विधि की दृष्टि से अंतिम और वैवाहिक बंधन के अप्रतिसंहरणीय विघटन के रूप में प्रवृत्त हो जाती है । विवाह का विघटन हो जाता है; संभोग अवैध हो जाता है, इद्दत आबद्धकर हो

जाती है । पक्षकारों के बीच पुनर्विवाह तब तक असंभव हो जाता है जब तक कि डब्ल्यू विधिपूर्वक अन्य पति से विवाह नहीं कर लेती है और अन्य पति वास्तव में विवाहोत्तर संभोग के पश्चात् उसे तलाक नहीं दे देता है ।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इन दो रूपों में पक्षकारों के लिए मित्रों के हस्तक्षेप या अन्यथा द्वारा सुलह किए जाने की संभावना है । अतः ये दोनों रूप 'अनुमोदित' रूप हैं और सुन्नी तथा शिया दोनों विधियों द्वारा मान्यताप्राप्त हैं । तथापि, ईथना आसरी और फातिमी शाखा शेष दोनों रूपों को मान्यता नहीं देते हैं और इस प्रकार, विधि-निर्माता की प्राचीन काल की परम्पराओं को परिरक्षित रखे हुए हैं ।

प्रथम, या अहसन रूप 'सर्वाधिक अनुमोदित' रूप है क्योंकि पति सौम्य रीति में बर्ताव करता है और पत्नी को एक वस्तु की तरह नहीं समझता है । दूसरा रूप ऐसा है जिसमें पैगम्बर ने इस्लाम-पूर्व की पाश्विक परिपाटी को समाप्त करने की कोशिश की है । यह परिपाटी थी कि पत्नी को तलाक देकर उसके साथ दुर्व्यवहार करने के लिए उसे कई-कई बार वापस लिया जाता था । पैगम्बर ने तृतीय उद्घोषणा की अप्रतिसंहरणीयता के नियम द्वारा स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया कि ऐसी परिपाटी अनिश्चित अवधि तक जारी नहीं रह सकती है । अतः, यदि कोई पति वास्तव में पत्नी को वापस लेना चाहता है तो उसे ऐसा करना चाहिए, यदि नहीं, तो सुलहों के पश्चात् तृतीय उद्घोषणा अंतिम वर्जन के रूप में प्रवृत्त हो जाएगी । विधि के ये नियम कुरान के व्यादेशों की आत्मा के अनुसरण में है – 'जब वे दयालुतापूर्वक उन्हें वापस लेने के लिए या दयालुतापूर्वक उनसे अलग होने के लिए अपनी समयावधि में पहुंचे हों' ।

विवाह-विच्छेद का एक अननुमोदित रूप तीन घोषणाएं करके दिया गया तलाक है जिसमें एक ही तुहर में तीन उद्घोषणाएं या तो एक वाक्य में, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार या तीन तलाक देता हूं' या तीन वाक्यों में 'मैं तुम्हें तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार या तीन तलाक देता हूं', की जाती हैं । ऐसा तलाक हनफी विधि में विधिपूर्ण है, यद्यपि धर्म के उल्लंघन में है, किंतु ईथना आशरी और फातिमी विधियों में यह अनुज्ञेय नहीं है । इसे तलाक-अल-बैन, अप्रतिसंहरणीय विवाह-विच्छेद, कहा जाता है ।

अननुमोदित विवाह-विच्छेद का एक अन्य रूप या तो तुहर की

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अवधि के दौरान या अन्यथा भी की गई एकल अप्रतिसंहरणीय उद्घोषणा है । इस रूप को भी तलाक-अल-बैन कहा जाता और इसे लिखित में दिया जा सकता है । ऐसा 'तलाकनामा' तुरंत प्रवृत्त हो जाता है और वैवाहिक बंधन को तोड़ देता है । इस रूप को ईथना आशरी या फातिमी शाखाओं द्वारा मान्यता नहीं दी गई है ।"

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

239. इस प्रक्रम पर, 1937 के अधिनियम पर विचार करने की आवश्यकता है । इस अधिनियम के उद्देश्य और कारण निम्नलिखित हैं :–

"विगत कई वर्षों से ब्रिटिश भारत के मुसलमानों की यह हार्दिक इच्छा रही है कि रूढ़िजन्य विधि को किसी भी दशा में मुस्लिम स्वीय विधि का स्थान नहीं लेना चाहिए । यह विषय बार-बार प्रेस में तथा मंच पर उठाया जाता रहा है । सर्वोच्च मुस्लिम धार्मिक निकाय जमियत-अल-उलेमा-ए-हिंद ने इस मांग का समर्थन किया है और इस प्रभाव का उपाय करने की तात्कालिक आवश्यकता के प्रति सभी संबंधित का ध्यान आकर्षित किया है । रूढ़िजन्य विधि एक गलत नाम है क्योंकि इसके पास टिकाऊ बने रहने के लिए कोई ठोस आधार नहीं है और इसमें बार-बार परिवर्तन किए जा सकते हैं और भविष्य में किसी समय वैसी निश्चितता और स्थिरता प्राप्त करने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है, जो सभी विधियों की विशेषता होनी चाहिए । तथाकथित रूढ़िजन्य विधि के अधीन मुस्लिम स्त्रियों की हैसियत केवल अपमानजनक है । इसलिए, सभी मुस्लिम स्त्री संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की निंदा की है क्योंकि इससे उनके अधिकारों पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ता है । उन्होंने यह मांग की है कि उन पर मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) लागू की जानी चाहिए । मुस्लिम स्वीय विधि के पुरःस्थापन से वे स्वयमेव उस स्थिति में पहुंच जाएंगी, जिसकी वे स्वाभाविक रूप से हकदार हैं । इस प्रस्तुत उपाय को जोड़ते हुए, यदि अधिनियमित किया जाता है, तो समाज पर बहुत ही हितकर प्रभाव पड़ेगा क्योंकि इससे जनसाधारण के पारस्परिक अधिकारों और बाध्यताओं में निश्चितता और स्थिरता सुनिश्चित होगी । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) एक प्रमाणित संहिता के रूप में विद्यमान है और वह इतनी सुविख्यात है कि उस पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता है या अनुसंधान रूपी कोई अत्यधिक श्रम नहीं होना है, जो कि रूढ़िजन्य विधि का मुख्य लक्षण है ।"

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

240. यह एक संक्षिप्त अधिनियम है जिसमें छह धाराएं हैं । इन मामलों में सीधे रूप से हमारा सरोकार धारा 2 से है । 1937 के अधिनियम की धारा 2 में यह उल्लिखित है :–

"2. मुसलमानों पर स्वीय विधि का लागू होना – किसी प्रतिकूल रूढ़ि या प्रथा के होते हुए भी, निर्वसीयती उत्तराधिकार, महिलाओं की विशेष संपत्ति, जिसमें वसीयत में आई या संविदा या दान या स्वीय विधि से किसी अन्य उपबंध के अधीन अभिप्राप्त संपत्ति भी है, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, ईला, ज़िहार, लियान, खुला और मुबारत भी है, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता, दान, न्यासों और न्यास संपत्तियों, और वक्फों (पूर्त और पूर्त संस्थाओं तथा पूर्त और धार्मिक विन्यासों से भिन्न) संबंधी सभी प्रश्नों में (कृषि भूमि से संबंधित प्रश्नों के सिवाय) जहां पक्षकार मुसलमान है, वहां उन मामलों में विनिश्चय का नियम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) होगा ।"

241. "शरीयत" अभिव्यक्ति के अर्थ के बारे में ए. ए. ए. फ्याज़ी (उपर्युक्त) ने पृष्ठ 9-11 पर "शरीयत" का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :–

"उचित विधि पर विचार करने के लिए, यह स्मरण करना आवश्यक है कि विधि की दो अलग-अलग धारणाएं हैं । विधि की उत्पत्ति दैवीय समझी जा सकती है, जैसी कि हिंदू विधि और इस्लामिक विधि की स्थिति है, या इसे मानव-रचित के रूप समझा जा सकता है । पश्चात्वर्ती धारणा सभी आधुनिक विधानों का मार्गदर्शक सिद्धांत है; यह विधि की ग्रीक, रोमन, सेल्टिक या जर्मनवादी धारणा है, जैसा कि आस्ड्रोरोज ने उल्लेख किया है । हम कतिपय सिद्धांतों के अनुसार कृत्य करने के लिए आबद्धकर हो सकते हैं, क्योंकि परमात्मा हम से ऐसा करने की इच्छा रखता है या अनुकल्पतः, क्योंकि राजा या प्रबुद्ध व्यक्तियों की सभा या समुदाय का नेता या सामाजिक रूढ़ि जन-साधारण की भलाई के लिए हम से ऐसा करने की मांग करते हैं । हिंदू विधि की दशा में, प्रथमतः, यह वेदों या श्रुति (जो सुना गया है) पर आधारित है; द्वितीयतः, स्मृति (जो महात्माओं और ऋषियों द्वारा स्मरण रखी गई हैं) पर आधारित है । यद्यपि, रूढ़ि का प्रभाव निस्संदेह अत्यधिक है, तो भी धर्म आचरण की एक प्रक्रिया, जो परमात्मा द्वारा अनुमोदित है, को उपलक्षित करता है,

जैसा कि हिंदू विधि-वेत्ताओं द्वारा परिभाषित किया गया है ।

अब, हम इस बात पर विचार करते हैं कि विधि की इस्लामिक धारणा क्या है ? न्यायमूर्ति महमूद के शब्दों में, यह स्मरणीय है कि हिंदू विधि और मुस्लिम विधि धर्म के साथ इतनी गहराई से संबद्ध हैं कि उन्हें इससे आसानी से अलग नहीं किया जा सकता है । इस्लाम में, शुभ और अशुभ के विषय में 'दृढ़-विश्वास' (इल्म-अल-यकीन) का सिद्धांत है । हम अपनी निर्गुणता में शुभ क्या है और अशुभ क्या है, तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि इस विषय में हमारा मार्गदर्शन किसी प्रेरणादायक पैगम्बर द्वारा नहीं किया जाता है । शुभ और अशुभ हुस्न (सुदंरता) और कुभ (बदसूरती) का अर्थ इन शब्दों की नीतिपरक स्वीकार्यता में समझा जाना चाहिए । जो कार्य नैतिक रूप से सुंदर है, उसे ही किया जाना चाहिए और जो नैतिक रूप से बुरा है उसे नहीं किया जाना चाहिए । यही विधि या शरीयत है और कोई अन्य बात विधि नहीं हो सकती है । किंतु, पूर्णतः और असंदिग्ध रूप से क्या सुंदर है और पूर्णतः और असंदिग्ध रूप से क्या बुरा है ? ये महत्वपूर्ण विधिक प्रश्न हैं; और इनका उत्तर कौन दे सकता है ? मुस्लिम विधि-शास्त्रियों का कहना है, इनका उत्तर निश्चित रूप से मनुष्य नहीं दे सकता । हमारे पास कुरान है जो स्वयं अल्लाह की वाणी है । इसके अनुपूरक रूप में हमारे पास हदीस है जो पैगम्बर की परम्पराएं हैं - जो उनके कार्यों और उनके द्वारा कही गई बातों के अभिलेख हैं - जिनसे हमें विधिक विनिश्चयों पर पहुंचने के लिए अवश्य सहायता और प्रेरणा लेनी चाहिए । यदि न तो कुरान में और न ही हदीस में हमारे समक्ष विशिष्ट प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुछ नहीं है तो हमें कतिपय निश्चित सिद्धांतों के अनुसार धर्म-निरपेक्ष तर्कणा के आदेशों का अनुसरण करना चाहिए । मुस्लिम विद्वानों की इसकी समझ के अनुसार ये सिद्धांत पवित्र विधि या शरीयत के आधार हैं और यही वे विधिक धारणाएं हैं जिनका इस्लामिक सिविल विधि का समग्र रूप में या यहां तक कि उसके उस छोटे से भाग का भी, जिसे भारत में मुस्लिम विधि के रूप में जाना जाता है, अध्ययन करने से पूर्व हमें उनका अध्ययन और विश्लेषण करने की अवश्य कोशिश करनी चाहिए ।

आधुनिक विधिवेता, किसी राष्ट्र के आचरण और स्वाभाविक विशेषता को समझने के लिए विधि के महत्व पर बल देते हैं । एक

आधुनिक विधिवेत्ता का कहना है कि विधि राष्ट्रीय कविता की तरह राष्ट्र की आत्मा से प्रवाहित होती है और यह राष्ट्र धर्म जितनी ही पवित्र हैं; यह भाषा की तरह विकसित होती है और फैलती है, नैतिक और काव्यात्मक सभी तत्वों का इसके प्राणदायी शक्ति में योगदान हैं; यह किसी राष्ट्र की सभ्यता का आसवित सार हैं; यह किसी अन्य जीव की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से लोगों की आत्मा को प्रतिबिम्बित करती है । यही इस्लाम का यथार्थ है जो किसी अन्य विश्वास से बढ़कर है । शरीयत इस्लाम का केन्द्रीय बीजकोष है; इसकी सभ्यता, इसके सामाजिक इतिहास या इसकी राजनैतिक व्यवस्था का इसकी विधिक व्यवस्था के ज्ञान और मूल्यांकन के बिना समझना संभव नहीं है ।

शरीयत (जलनिधि मार्ग, अनुसरणीय पथ) का तकनीकी निबंधन के रूप में अर्थ है, इस्लाम की धर्मविधि, अल्लाह के धर्मादेशों की संपूर्णता । ऐसे प्रत्येक धर्मादेश को हुक्म (बहुवचन-अहकम) कहा जाता है । अल्लाह की विधि और इसके अन्तर्भूत अर्थ को समझ लेना आसान नहीं है; और शरीयत सभी मानवीय कृत्यों को अंगीकार करती है । इस कारण से यह आधुनिक अर्थ में 'विधि' न होकर इसमें नैतिक नियमों के अचूक दिशा-निर्देश अंतर्विष्ट हैं । यह मूलभूत रूप से कर्तव्यों का एक सिद्धांत और आबद्धताओं की संहिता है । विधिक बातों और वैयक्तिक अधिकारों का स्थान इसमें दोयम दर्जे का है और सबसे बढ़कर जीवन के सभी कार्यकलापों का धार्मिक मूल्यांकन करने के प्रति प्रवृत्ति सर्वोच्च है ।

शरीयत के अनुसार, धार्मिक व्यादेश पांच प्रकार के हैं, अल-अहकम अल-खामसाह । जो कड़ाई पूर्वक लागू किए जाते हैं वे फर्ज़ हैं और जो पूरी तरह से निषिद्ध हैं वे हराम हैं । इनके मध्य में हमारे पास दो मध्यवर्ती प्रवर्ग हैं; अर्थात् जो बातें आपको करने के लिए कही जाती हैं (मनदब), और जिन बातों से आपको प्रविरत रहने की सलाह दी जाती है (मकरूह) और अंततः वे बातें हैं जिनके बारे में धर्म उदासीन (जायज़) है । प्रतिदिन की जाने वाली प्रार्थनाएं, जिनकी संख्या पांच हैं, फर्ज़ हैं; शराब हराम है; अतिरिक्त रूप से की जाने वाली प्रार्थनाएं, जैसी कि जो ईद पर की जाती है; मनदब है; और इसमें हजारों जायज़ बातें है जैसे कि हवाई यात्रा । इस प्रकार, शरीयत सर्वगुण संपन्न है; सभी मानवीय क्रियाकलाप इसकी प्रभुसत्ता में परिवेष्टित हैं । इन पांच प्रकार के विभाजन को सावधानीपूर्वक

2017(8) eILR(PAT) SC 110

ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो उन बातों के बीच के विभेद को समझना असंभव है जो केवल नैतिक रूप से आदिष्ट हैं और वह जो विधिक रूप से बाध्य हैं । स्पष्टतः, नैतिक आबद्धता विधिक आवश्यकता से एक बिल्कुल अलग बात है और यदि विधि में इन विभेदों को ध्यान में नहीं रखा जाता है तो गलती और भ्रम होना लाजिमी है ।"

242. यह देखा जा सकता है कि 1937 का अधिनियम एक संविधान-पूर्व विधायी उपाय है जो सीधे तौर पर भारत के संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अंतर्गत आएगा, यह अनुच्छेद निम्न प्रकार से है :–

"अनुच्छेद 13 - मूल अधिकरों से असंगत या उनका अल्पीकरण करने वाली विधियां - (1) इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबंधों से असंगत हैं ।

(2) * * * * *

(3) इस अनुच्छेद में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो –

(क) 'विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा है;

(ख) 'प्रवृत्त विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में किसी विधान-मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारंभ से पहले पारित या बनाई गई विधि है जो पहले ही निरसित नहीं कर दी गई है, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग या उस समय पूर्णतया या विशिष्ट क्षेत्रों से प्रवर्तन में नहीं है ।"

243. तथापि, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड की ओर से विद्वान् काउंसेलों तथा उनके द्वारा लिए गए आधार का समर्थन करने वाले अन्य काउंसेलों ने यह तर्क दिया कि 1937 के अधिनियम का अभिप्राय, इसके उद्देश्यों और कारणों के आलोक में पढ़ने पर, मुस्लिम स्वीय विधि को लागू करना नहीं है, जो कि भारत के न्यायालयों के माध्यम से स्वतः प्रवर्तनीय है । 1937 के अधिनियम का एकमात्र अभिप्राय, जैसा कि धारा 2 में सर्वोपरि खंड से उपदर्शित होता है, उस रूढ़ि या प्रथा से छुटकारा पाना है जो मुस्लिम

2017(8) eILR(PAT) SC 110

स्वीय विधि के प्रतिकूल है ।

244. हमें खेद है कि कानून का ऐसा संकुचित परिशीलन विधि की दृष्टि से अननुज्ञेय है । ठीक है, किसी कानून के उद्देश्य और कारण उस पृष्ठभूमि को उजागर करते हैं जिसमें वह कानून अधिनियमित किया गया था, किंतु धारा 2 के सर्वोपरि खंड को इस धारा के अधिनियमित भाग को शासित करने वाले भाग के रूप में पढ़ना कठिन है, नहीं तो यह ऐसा मामला बन जाएगा जहां एक छोटा सा भाग संपूर्ण को नियंत्रित करता हो । इसी प्रकार का प्रयत्न बहुत वर्ष पहले भी किया गया था और **अश्विनी कुमार घोष** बनाम **अरविंद बोस**[1] वाले मामले में इसे नामंजूर कर दिया गया था । इस न्यायालय का सरोकार उच्चतम न्यायालय अधिवक्ता (उच्च न्यायालयों में विधि-व्यवसाय) अधिनियम, 1957 की धारा 2 से था । उक्त अधिनियम की धारा 2 निम्नलिखित है :–

> "भारतीय विधिज्ञ परिषद् अधिनियम, 1926, या किसी अन्य विधि में उन शर्तों को, जिनके अधीन कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय के अधिवक्ताओं की नामावली में प्रविष्ट नहीं किया गया हो, उस उच्च न्यायालय में विधि-व्यवसाय करने के लिए अनुज्ञात किया गया हो, विनियमित करने के लिए किसी बात के अंतर्विष्ट होते हुए भी उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक अधिवक्ता प्रत्येक उच्च न्यायालय में साधिकार विधि-व्यवसाय करने का हकदार होगा, चाहे वह उस उच्च न्यायालय का अधिवक्ता है या नहीं :
>
> परंतु इस धारा की कोई बात किसी व्यक्ति को केवल इस कारण कि वह उच्चतम न्यायालय का अधिवक्ता है उस किसी उच्च न्यायालय में विधि व्यवसाय करने का हकदार बनाने वाली नहीं समझी जाएगी जिसमें वह किसी समय न्यायाधीश रहा था और यदि, उसने वचनपत्र दिया हो कि वह ऐसे न्यायाधीश के रूप में पद धारण करना बंद करने के पश्चात् उसमें विधि व्यवसाय नहीं करेगा ।"

245. इस न्यायालय के समक्ष दिया गया तर्क यह था कि सर्वोपरि खंड, धारा की व्याप्ति के सही निर्वचन की कुंजी प्रस्तुत करता है और इसलिए अधिनियमित खंड का अर्थान्वयन केवल ऐसे अधिकार को प्रदत्त करने वाले खंड के रूप में किया जाना चाहिए जो प्रारंभिक खंड द्वारा दूर की गई निरर्हता के साथ समविस्तीर्ण है । इस न्यायालय द्वारा इस तर्क को

---

[1] [1953] एस. सी. आर. 1.

निम्नलिखित रूप में नामंजूर कर दिया गया :–

> "23. अब नए अधिनियम की धारा 2 में के सर्वोपरि खंड पर आते हैं और यह प्रतीत होता है कि निचले न्यायालय के तर्क का संपूर्ण आधार इसी पर टिका है और हमारे समक्ष दिए गए तर्क में इस तर्क-आधार का पूर्ण रूप से अनुसरण किया गया है - हमने विद्वान् न्यायाधीशों को शुरुआत में यह जांच करते हुए पाया है कि वे उपबंध कौन-से हैं जिनका इस खंड से अधिक्रांत होना ईप्सित है और फिर अधिनियमित खंड स्थापित करके ऐसा अर्थान्वयन करना जो इसके द्वारा प्रदत्त अधिकार को अधिक्रांत उपबंधों द्वारा अधिरोपित निरर्हता के साथ समविस्तीर्ण हो । इस धारा का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा, उन्होंने मत व्यक्त किया कि, 'यदि हम कुछ अधिक गहराई से परीक्षा करें कि वास्तव में इस धारा से क्या अधिक्रांत होता है या निरसित होता है...... । धारा से जो निरर्हता दूर होती है और जो अधिकार इससे प्रदत्त होता है, वे समविस्तीर्ण हैं ।' हमारी राय में, धारा 2 के अर्थान्वयन के लिए यह सही दृष्टिकोण नहीं है । पहले यह अभिनिश्चित करना चाहिए कि धारा का अधिनियमित भाग इसमें प्रयुक्त शब्दों का उनके स्वाभाविक और साधारण अर्थ के अनुसार क्या सही अर्थान्वयन प्रदान करता है, और सर्वोपरि खंड को सुसंगत विद्यमान विधि, जो नई अधिनियमिति से असंगत है, में अंतर्विष्ट कोई बात आगे विधिमान्य न रहते हुए उसे अपास्त करने के रूप में लागू होने वाला समझा जाना चाहिए । (पृष्ठ 21-22 पर)

ए. वी. फर्नांडीज़ बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में इस मत का अनुसरण किया गया था ।

246. अतः यह स्पष्ट है कि मुस्लिम स्वीय विधि द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित तलाक के सभी रूप 1937 के अधिनियम द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित हैं । इसमें आवश्यक रूप से तीन तलाक भी सम्मिलित है जब यह भारत में सुन्नियों पर लागू मुस्लिम स्वीय विधि में आता है । इसलिए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड के इस तर्क को स्वीकार करना अति कठिन है कि

---

[1] [1957] एस. सी. आर. 837.

धारा 2 तीन तलाक को मान्यता नहीं देती है या प्रवर्तित नहीं करती है । यह धारा स्पष्ट और साफ तौर पर दोनों कार्य करती है क्योंकि यह धारा तीन तलाक को "उन मामलों में विनिश्चय का नियम बनाती है जहां पक्षकार मुस्लिम हों" ।

247. जैसा कि हमने निष्कर्ष निकाला है कि 1937 के अधिनियम, संविधान के प्रवर्तन में आने से पूर्व विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधि है, इसलिए यह पूर्ण रूप से अनुच्छेद 13(3) में की अभिव्यक्ति "प्रवृत्त विधियों" के अंतर्गत आएगी और संविधान के भाग 3 के उपबंधों के असंगत पाए जाने पर ऐसी असंगतता की सीमा तक संविधान के अनुच्छेद 13(1) के उल्लंघन में होगी ।

248. इस प्रक्रम पर, भारत में सुन्नी मुसलमानों पर लागू विवाह-विच्छेद के विधिक ढंग के रूप में तीन तलाक की मान्यता के प्रतिनिर्देश करना आवश्यक है । **साराबाई** बनाम **रबियाबाई**[1] वाले बम्बई के एक पूर्व मामले में न्यायमूर्ति बैचलर ने तीन तलाक को निर्दिष्ट किया और कहा कि "यह विधि की दृष्टि से सही है, हालांकि धर्मशास्त्र की दृष्टि से गलत है ।" 1937 के अधिनियम से पांच वर्ष पहले वर्ष 1932 में प्रिवी कौंसिल के विनिश्चय में अर्थात् **राशीद अहमद** बनाम **अनीसा खातून**[2] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल को सीधे तौर पर एक तीन तलाक के मामले में न्यायनिर्णयन करना था । लार्ड थंकर्टन ने प्रिवी कौंसिल का निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया :–

> "मामले में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह सुझाव मिलता हो कि पक्षकार हनफी विधि द्वारा शासित सुन्नी मुसलमान नहीं हैं और न्यायमूर्तियों की राय में ऐसे मामलों में लागू होने वाली विवाह-विच्छेद की विधि का उल्लेख सर आर. के. विल्सन द्वारा अपने एंग्लो-मोहम्मडन विधि के निर्णय-सार, पांचवां संस्करण, पृष्ठ 136 पर इस प्रकार किया है – विवाह-विच्छेद, जिसे तलाक कहा जाता है, या तो अप्रतिसंहरणीय (बैन) या प्रतिसंहरणीय (रजा) हो सकता है । बैन तलाक सदैव तुरंत लागू हो जाता है और विवाह-बंधन का विघटन पूर्ण हो जाता है, जबकि उस रूप के अनुसार, जिसमें यह उद्घोषित किया जाता है, इसके अंतरस्थ प्रभावों में से एक के बारे में इसमें

[1] (1906) आई. एल आर. 30 बम्बई 537.

[2] ए. आई. आर. 1932 प्रिवी कौंसिल 25 = (1931) एस. सी. सी. 78 प्रिवी कौंसिल.

भिन्नता है । बैन तलाक पत्नी को संबोधित शब्दों द्वारा विवाह को विघटित करने के आशय को स्पष्ट रूप से उपदर्शित करते हुए या तो – (क) एक बार और उसके पश्चात् इद्दत कही जाने वाली अवधि में संभोग से प्रवरित रहते हुए दिया जा सकता है; या (ख) शुद्धता के क्रमवर्ती अंतरालों के दौरान अर्थात् क्रमवर्ती ऋतुस्रावों के बीच तीन बार उच्चारण करके दिया जा सकता है और तीनों अंतरालों में किसी के दौरान संभोग न किया गया हो; या (ग) थोड़े-थोड़े अंतराल पर तीन बार; या एक के बाद एक; या (घ) एक बार, शब्दों द्वारा यह स्पष्ट आशय दर्शित करते हुए कि विवाह-विच्छेद तुरंत प्रभाव से अप्रतिसंहरणीय हो जाएगा । पहले नामित उपर्युक्त पद्धतियों को अहसन (सर्वोत्तम) कहा जाता है, दूसरी को हसन (अच्छी), तीसरी और चौथी को बिद्दत (धर्मोल्लंघक) कहा जाता है, किंतु तो भी सुन्नी विधिवेताओं द्वारा इन्हें विधिक रूप से विधिमान्य समझा जाता है ।" (पृष्ठ 26 पर)

प्रिवी कौंसिल ने यह भी उल्लेख किया :–

"माननीय न्यायमूर्तियों की यह राय है कि घियासुद्दीन द्वारा की गई तीन तलाक की उद्घोषणा से तत्काल रूप से प्रभावी विवाह-विच्छेद का गठन हो गया था और जबकि उनका यह समाधान हो गया है कि प्रस्तुत मामले में उच्च न्यायालय द्वारा साक्ष्य के आधार पर निकाला गया ऐसा निष्कर्ष न्यायोचित नहीं था, जबकि उनकी यह राय है कि विवाह-विच्छेद की विधिमान्यता और प्रभावकारिता घियासुद्दीन के इस मानसिक आशय द्वारा प्रभावित नहीं होगी कि इसे एक असली विवाह-विच्छेद नहीं माना जाना चाहिए, इसलिए यह मत सभी नज़ीरों के प्रतिकूल है । बाध्यता के अधीन या व्यंग में, वास्तव में उद्घोषित तलाक विधिमान्य और प्रभावी होता है – बेलीज़ डाइजेस्ट, द्वितीय संस्करण, पृ. 208 अमील अली का मोहम्मडन ला, तृतीय संस्करण, वाल्यूम-1, पृ. 211. (पृष्ठ 27 पर)

249. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधि का यही वह दृष्टिकोण है, जिसको 1937 का अधिनियम मान्यता के साथ-साथ प्रवर्तित भी करता है जिससे कि यह संविधान के अनुच्छेद 13(1) की परिधि के भीतर आ सके ।

250. ऐसी वस्तुस्थिति में, हमारे लिए यह विनिश्चय करना अनावश्यक है कि **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय सही विधि है या नहीं । तथापि, किसी उपर्युक्त मामले में, इस निर्णय पर

पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो सकता है क्योंकि “विधि” और “प्रवृत्त विधियों” की परिभाषा दोनों ही समावेशित परिभाषाएं हैं और न्यायमूर्ति पी. बी. गजेन्द्रगड़कर के निर्णय का कम-से-कम एक भाग (पैरा 26) स्वतः अब एक सही विधि नहीं है, जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यह राय व्यक्त की है कि “विधि” अभिव्यक्ति को अनुच्छेद 13(3) में दी गई “प्रवृत्त विधियां” अभिव्यक्ति नहीं पढ़ा जा सकता है - **संत राम और अन्य** बनाम **लाभ सिंह और अन्य**[1] वाला मामला देखें ।

251. कुछ आधे-अधूरे मन से यह तर्क दिया गया कि तीन तलाक इस्लामिक आस्था का आवश्यक भाग है और इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 25 द्वारा संरक्षित है । अनुच्छेद 25 निम्नलिखित है :–

> “**अनुच्छेद 25 – अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता** –
>
> (1) लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा ।
>
> (2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो –
>
> (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बन्धन करती है;
>
> (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।
>
> स्पष्टीकरण 1 – कृपाण धारण करना और लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जाएगा ।
>
> स्पष्टीकरण 2 – खंड (2) के उपखंड (ख) में हिंदुओं के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि उसके अंतर्गत सिक्ख, जैन

[1] [1964] एस. सी. आर. 756.

या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के प्रति निर्देश है और हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ तद्नुसार लगाया जाएगा ।"

252. **आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास, मद्रास** बनाम **लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामीयार आफ श्री शिरूर मठ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा "धर्म" का यथासंभव व्यापक अर्थ दिया गया है । इसलिए, इस देश में नास्तिकता भी "धर्म" का भाग है । किंतु इस न्यायालय द्वारा एक महत्वपूर्ण चेतावनी सम्मिलित की गई है अर्थात् केवल जो आवश्यक धार्मिक प्रथा है, वही अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षित है । कुछ विनिश्चयों में अधिकथित किया गया है कि आवश्यक धार्मिक प्रथा का गठन किस बात से होता है । अतः **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :-

"60. किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर, धारा 175(1)(थ) और धारा 177(1) की सांविधानिक विधिमान्यता को दी गई चुनौती का असफल होना लाजिमी है । पंचायत में किसी पद के लिए निर्वाचन लड़ने का अधिकार न तो मूल अधिकार है और न ही सामान्य विधि के अधीन अधिकार है । यह एक कानून की रचना है और स्पष्ट तौर पर विधान द्वारा अधिनियमित अर्हताओं और निरर्हताओं के अधीन है । चार स्त्रियों के साथ चार विवाह करना मुसलमानों के लिए अनुज्ञेय हो सकता है और किसी के लिए भी चाहे वह मुसलमान है या किसी अन्य समुदाय या धर्म का है, जितने वह चाहे उतने बालक पैदा कर सकता है किंतु भारत में कोई धर्म द्विविवाह या बहुविवाह करने या एक से अधिक बालक होने की बाध्यता आदिष्ट या आज्ञापक नहीं करता है । किसी धर्म द्वारा जो बात अनुज्ञात है या प्रतिषिद्ध नहीं की गई है, वह उस धर्म की धार्मिक प्रथा या सकारात्मक सिद्धांत नहीं बन जाता है । किसी प्रथा को केवल इस कारण धर्म की स्वीकृति अर्जित नहीं हो जाती है क्योंकि वह अनुज्ञात है । मान लिया जाए कि एक से अधिक पत्नियां रखने या एक से अधिक बालक पैदा करने की प्रथा किसी समुदाय या लोगों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रथा है, तो भी इसे लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में विधान द्वारा या सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबंध करते हुए किसी

---

[1] [1964] एस. सी. आर. 1005 (पृ. 1023-1024).

[2] [2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369.

विधि द्वारा विनियमित या प्रतिषिद्ध किया जा सकता है और आक्षेपित विधान स्पष्ट रूप से यही कार्य करता है ।" (पृष्ठ 394 पर)

और **पुलिस आयुक्त** बनाम **आचार्य जगदीश्वरानंद अवधूत**[1] वाले मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :–

"9. संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन गांरटीकृत संरक्षण सिद्धांत या विश्वास के विषयों तक सीमित नहीं है, अपितु इसका विस्तार धर्म के अनुसरण में किए गए कृत्यों तक है और इसलिए इसमें धार्मिक कृत्यों, कर्म-काण्डों, गृह-कर्मों और पूजा की पद्धतियों की गारंटी अंतर्विष्ट है, जो धर्म के आवश्यक और अभिन्न भाग हैं । धर्म के अभिन्न और आवश्यक भाग का गठन किन बातों से होता है, उनका अवधारण उस धर्म के सिद्धांतों, प्रथाओं, मतों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि के प्रति निर्देश करके किया जाना चाहिए । {आयुक्त, एच. आर. ई. **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामीय्यर ऑफ श्री शिररूर मठ (ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 282 = [1954] एस. सी. आर. 1005, सेदना ताहेर सैफुद्दीन साहेब **बनाम** बम्बई राज्य ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853 = [1962] सप्ली. (2) एस. सी. आर. 496) और सेशाम्मल **बनाम** तमिलनाडु राज्य (1972) 2 एस. सी. सी. 11 = ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 1586 वाले मामलों में सामान्य तौर पर संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय उन पहलुओं के संबंध में देखें, जिन पर विचार किया जाना है ताकि यह अवधारित किया जा सके कि क्या कोई भाग या प्रथा आवश्यक है या नहीं ।} किसी धर्म के आवश्यक भाग या प्रथाओं का अर्थ क्या है, अब यह स्पष्टीकरण का विषय है । धर्म के आवश्यक भाग से अभिप्रेत वे मर्मभूत विश्वास हैं जिन पर वह धर्म टिका है । आवश्यक प्रथा से अभिप्रेत वे प्रथाएं हैं जो किसी धार्मिक विश्वास को मानने के लिए मूलभूत हैं । इन आवश्यक भागों या प्रथाओं पर ही किसी धर्म की ऊपरिसंरचना का निर्माण होता है और कोई धर्म इनके बिना धर्म ही नहीं कहलाएगा । इस बात का अवधारण करने की कसौटी के लिए, कि कोई भाग या प्रथा किसी धर्म के लिए आवश्यक है या नहीं, यह पता लगाया जाना चाहिए कि उस भाग या प्रथा के बिना धर्म की प्रकृति परिवर्तित हो जाएगी या नहीं । यदि उस भाग या प्रथा के हट जाने से उस धर्म या इसके विश्वास के स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन हो सकता है, तब ऐसे भाग को आवश्यक और अभिन्न भाग माना जा सकता है । ऐसे भाग में कोई बढ़त या घटत नहीं की जा सकती हैं क्योंकि यह उस धर्म का यथार्थ

[1] (2014) 12 एस. सी. सी. 770.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

सार होता है और रद्दोबदल से उसके मौलिक स्वरूप में परिवर्तन हो जाएगा । यही ऐसे स्थायी आवश्यक भाग हैं, जो संविधान द्वारा संरक्षित हैं । कोई यह नहीं कह सकता कि किसी व्यक्ति के धर्म का कोई आवश्यक भाग या प्रथा किसी विशिष्ट तारीख से या किसी घटना द्वारा परिवर्तित हुई है । तब्दीली-योग्य ऐसे भाग या प्रथाएं निश्चित तौर पर धर्म का वह 'सारतत्व' नहीं है जिन पर विश्वास आधारित है और जिन पर धर्म टिका है । उन्हें केवल अनावश्यक भाग या प्रथाओं की मात्र अतिरंजनाएं माना जा सकता है ।" (पृष्ठ 782-83 पर)

253. उपर्युक्त कसौटियां लागू करने पर यह स्पष्ट है कि तीन तलाक ही तलाक का ऐसा रूप है जो विधि की दृष्टि से तो अनुज्ञेय है, किंतु साथ ही हनफी शाखा ने ही, जिससे इसका सरोकार है, इसे धर्मोल्लंघक बताया है । अतः **जावेद** (उपर्युक्त) वाले मामले के अनुसार, यह किसी आवश्यक धार्मिक प्रथा का भाग नहीं है । आचार्य **जगदीशवरानंद** (उपर्युक्त) वाले मामले में उल्लिखित कसौटी लागू करने पर समान रूप से यह भी स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म की मूलभूत प्रकृति में इस प्रथा के बिना परिवर्तन नहीं होगा, जैसा कि भारतीय सुन्नी मुसलमानों के दृष्टिकोण से दिखाई पड़ता है । जैसा कि न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला द्वारा **मुल्ला** (उपर्युक्त) की अपनी प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है, वास्तव में, इस्लाम सभी मानवीय कृत्य पांच प्रकारों में विभाजित करता है । उसमें यह कहा गया है :–

"**ड. आज्ञाकारिता की कोटियां** – इस्लाम सभी कृत्यों को पांच प्रकारों में विभाजित करता है जिनका अल्लाह (ईश्वर) की दृष्टि में अलग-अलग मूल्य है । यह मुसलमानों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

(i) **प्रथम कोटि** : फर्द । कुरान, हदीस या ईजमा में जो कुछ आदेशित है, उसका पालन आवश्यक है ।

वाज़िब – फर्द की अपेक्षा शायद थोड़ा कम अनिवार्य किंतु केवल थोड़ा-सा कम ।

(ii) **द्वितीय कोटि** : मसनून, मनदूब और मुस्तहब । ये अनुशंसित कृत्य हैं ।

(iii) **तृतीय कोटि** : जायज या मुबाह – ये अनुज्ञेय कृत्य हैं जिनके बारे में धर्म उदासीन है ।

(iv) **चतुर्थ कोटि** : मकरूह – जो अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है ।

(v) **पंचम कोटि** : हराम – वह जो निषिद्ध है ।"

स्पष्ट तौर पर, तीन तलाक प्रथम कोटि के अंतर्गत नहीं आता है, चूंकि यह मान भी लिया जाए कि यह कुरान, हदीस या ईजमा का भाग है, तो भी यह ऐसी बात नहीं है जो "समादेशित" हो । समान रूप से, तलाक स्वयमेव एक अनुशंसित कृत्य नहीं है और इसलिए द्वितीय कोटि के अंतर्गत नहीं आएगा । तीन तलाक ज्यादा से ज्यादा तृतीय कोटि के अंतर्गत आता है, किंतु, अधिसंभाव्यतः, अधिक बेहतर तौर पर चतुर्थ कोटि के अंतर्गत आता है । यह स्मरण रखना होगा कि तृतीय कोटि के अधीन तीन तलाक एक अनुज्ञेय कृत्य है जिसके बारे में धर्म उदासीन है । चतुर्थ कोटि के अंतर्गत यह अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है । हमने पहले ही यह देखा है कि हालांकि तीन तलाक हनफी विधिशास्त्र में अनुज्ञेय है, तो भी यही विधिशास्त्र तीन तलाक को धर्मोल्लंघक होने के कारण इसकी निंदा करता है । अतः यह स्पष्ट है कि तीन तलाक अनुच्छेद 25(1) का भाग नहीं है । ऐसी स्थिति में, मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से दी गई यह दलील कि इस विषय को वापस विधान-मंडल के पास भेजा जाना चाहिए, उद्भूत ही नहीं होती, क्योंकि अनुच्छेद 25(2)(ख) केवल तब लागू होगा यदि कोई विशिष्ट धार्मिक प्रथा पहले संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अंतर्गत आती हो ।

254. और यह निष्कर्ष हमें इस प्रश्न पर ले जाता है कि जब याचिकाएं भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई हों, तो क्या हमारे लिए यह कहना अनुज्ञेय है कि हम किसी मूल अधिकार के अभिकथित भंग का विनिश्चय नहीं करेंगे, अपितु ऐसे दोष के उपचार के लिए मामला वापस विधान-मंडल के पास भेजेंगे ।

255. **प्रेम चंद गर्ग** बनाम **उत्पाद-शुल्क आयुक्त, उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है :–

"2. अनुच्छेद 32(1) में यह उपबंधित है कि इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है और उप-अनुच्छेद (4) में यह अधिकथित है कि इस संविधान

[1] [1963] सप्ली. (1) एस. सी. आर. 885.

द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, इस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत अधिकार निलंबित नहीं किया जाएगा । इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश के नागरिकों को अनुच्छेद 32 द्वारा प्रदत्त इस न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार स्वतः एक प्रत्याभूत अधिकार है और इसकी संविधान में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका है जितनी की अन्य उपबंध नागरिकों के मूल अधिकारों के संबंध में निभाते हैं । भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार, जिन्हें न्यायालय के विचार योग्य बनाया गया है, भारत के संविधान की अति उत्कृष्ट और विशिष्ट विशेषता है । यह सही है कि उक्त अधिकार आत्यांतिक नहीं है और उन्हें जन-साधारण के हितों के अनुरूप समायोजित किया जाना चाहिए । किंतु अनुच्छेद 19 की स्कीम में स्पष्ट है कि मूल अधिकारों और सामाजिक-आर्थिक कल्याण की मांगों के बीच या तो विधायिका द्वारा या कार्यपालिका की कार्यवाही द्वारा किए गए समायोजनों के औचित्य या विधिमान्यता का अवधारण करने का दुष्कर कार्य संविधान द्वारा अंततोगत्वा उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के भार-बोधन में रखा गया है । इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए, संविधान निर्माताओं ने नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए इस न्यायालय में समावेदन करने के अधिकार को स्वयं एक मूल अधिकार के रूप में मानना उपयुक्त समझा । अतः, इस न्यायालय में समावेदन करने के मूल अधिकार को समुचित रूप में संविधान द्वारा निर्मित लोकतांत्रिक ढांचे की आधारशिला के रूप में वर्णित किया जा सकता है । इसी वजह से यह स्वाभाविक है कि इस न्यायालय को, न्यायमूर्ति पंतजलि शास्त्री के शब्दों में, स्वयं को मूल अधिकारों का 'संरक्षक और गारंटीदाता' के रूप में समझना चाहिए और यह घोषणा करनी चाहिए कि 'वह अपने ऊपर डाले गए उत्तरदायित्व के अनुरूप ऐसे अधिकारों के अतिलंघन के विरुद्ध संरक्षण की ईप्सा करने वाले आवेदनों को ग्रहण करने से मना नहीं कर सकता है ।' [रमेश थापर **बनाम** मद्रास राज्य [1950] एस. सी. आर. 594, पृ. 697 वाला मामला देखें] । इस न्यायालय को उसे सौंपे गए कर्तव्यों का निर्वहन करने में पहरेदार की भूमिका निभानी चाहिए [मद्रास राज्य **बनाम** वी. सी. रोव [1952] एस. सी. आर. 594, वाला मामला देखें] और उसे सदैव उक्त मूल अधिकारों की उत्साहपूर्वक और सतर्कता पूर्वक संरक्षा करने के अपने पुनीत कर्तव्य के रूप में समझना चाहिए । [दरयाव **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य [1962] 1 एस. सी. आर. 574, पृ. 528

वाला मामला देखें] ।"

256. हम यह उल्लेख करते हुए उत्साहित हैं कि यू. एस. के उच्चतम न्यायालय के हाल ही के एक विनिश्चय में किसी मूलभूत अधिकार की रक्षा करने के लिए यू. एस. के उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने के विषय में ऐसा ही कहा गया है । **ओबेरगेफेल** बनाम **होजेस**[1] वाले मामले में यू. एस. के उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है :–

"हमारी सांविधानिक व्यवस्था की शक्ति यह है कि व्यक्तियों को किसी मूल अधिकार का प्राख्यान करने से पूर्व विधायी कार्रवाई की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । राष्ट्र के न्यायालयों के द्वार, उन आहत व्यक्तियों के लिए खुले हैं, जो हमारे आधारभूत राजपत्र में संरक्षित अपने स्वयं के प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत न्यायसंगत हित की रक्षा के लिए आते हैं । जब किसी पुरुष या स्त्री को अपहानि होती है तो ऐसा व्यक्ति सांविधानिक संरक्षा के अधिकार का अवलंब ले सकता है, भले ही ज्यादातर जनता असहमत हो और भले ही विधान-मंडल ने कार्रवाई करने से इनकार कर दिया हो । संविधान का आशय 'कतिपय विषयों को राजनैतिक उहापोह के उलटफेर से प्रत्यहृत करके उन्हें बहुसंख्यकों और पदधारियों की पहुंच से परे रखना तथा उन्हें न्यायालयों द्वारा लागू किए जाने वाले विधिक सिद्धांतों के रूप में स्थापित करना था ।' [वेस्ट विर्जिनिया बोर्ड आफ एजुकेशन **बनाम** बर्नेट 319 यू. एस. 624, 638 (1943)] । इसलिए, 'मूल अधिकारों को किसी मत के अधीन नहीं रखा जा सकता है; वे किसी निर्वाचन के परिणाम पर निर्भर नहीं हैं' ।"

257. तथापि, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड की ओर से काउंसेल ने **अहमदाबाद वूमन ऐक्शन ग्रुप (ए. डब्ल्यू. ए. जी.)** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का पुरजोर अवलंब लिया । इस निर्णय में कई पूर्ववर्ती विनिश्चयों को यह अभिनिर्धारित करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है कि जो घोषणाएं करने की ईप्सा की गई है, वे गुणागुण के आधार पर निपटारा करने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें राज्य की नीति के मुद्दे अंतर्वलित हैं जिनसे न्यायालयों का सामान्य तौर पर कोई सरोकार नहीं होता है । इसलिए, इस न्यायालय ने रिट याचिकाओं को ग्रहण करने से इनकार कर दिया जिनमें बहुत ही व्यापक अनुतोष की मांग

---

[1] 135 एस. सीटी. 2584, पृ. 2605, 26 जून, 2015 को विनिश्चित.

[2] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.

की गई थी और दिलचस्प बात यह है कि उनमें "एकतरफा तलाक" की शून्यता की घोषणा करना भी सम्मिलित था । इस न्यायालय ने मुस्लिम स्वीय विधि का पुनर्विलोकन करने से इनकार करने के लिए **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय को सविस्तार निर्दिष्ट किया । तथापि, जब यह मुद्दा एक कानूनी अधिनियमिति, अर्थात् मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकारों की संरक्षा) अधिनियम, 1986 के साथ चुनौती में आया, तो इस न्यायालय ने इस निमित्त कार्यवाहियों को बढ़ाना नहीं चाहा, क्योंकि इसी संबंध में एक चुनौती संविधान न्यायपीठ के समक्ष लंबित थी ।

258. हम कितनी कोशिश करें, इस निर्णय में कोई विनिश्चयाधार ढूंढना कठिन है, क्योंकि निर्णय का एक भाग दूसरे भाग के प्रतिकूल है । यदि कोई विशिष्ट कानूनी अधिनियमिति पहले ही चुनौती अधीन है, तो कोई कारण नहीं कि अन्य उसी प्रकार की अधिनियमितियों का, जिन्हें भी चुनौती दी गई है, इस न्यायालय द्वारा क्यों निपटारा नहीं किया जाना चाहिए था । उपर्युक्त से बिल्कुल अलग, **प्रेम चंद गर्ग** (उपर्युक्त) वाले मामले को ध्यान में रखते हुए, इस प्रकार से इनकार करने की बात का समर्थन करना थोड़ा मुश्किल है । इसलिए इस निर्णय को इस सीमा तक कि यह कम से कम दो सांविधानिक न्यायपीठों के विनिश्चयों के प्रतिकूल हैं, संभवतः सही विधि नहीं कहा जा सकता है ।

259. इस बिंदु पर यह देखना आवश्यक है कि 1937 के अधिनियम द्वारा मूल अधिकार का अतिक्रमण किया गया है या नहीं, क्योंकि यह भारत के न्यायालयों में तीन तलाक को विधि के नियम के रूप में प्रवर्तित कराने की ईप्सा करता है ।

260. भारत के संविधान का अनुच्छेद 14, संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित प्रास्थिति और अवसर की समता का एक पहलू है । यह अनुच्छेद स्वाभाविक तौर पर स्वयं को दो भागों में विभाजित करता है – (1) विधि के समक्ष समता, और (2) विधि का समान संरक्षण । इस न्यायालय के निर्णयों में इस तथ्य को निर्दिष्ट किया गया है कि विधि के समक्ष समता की धारणा यूनाइटेड किंगडम की विधि से प्राप्त की गई है और विधियों का समान संरक्षण संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के 14वें संशोधन से अपनाया गया है । **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **देवमन उपाध्याय**[1]

---

[1] [1961] 1 एस. सी. आर. 14., पृ. 34.

वाले मामले में इस बात को उजागर करने वाले एक निर्णय में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने विसम्मत निर्णय देते हुए यहां तक कहा है कि विधि के समक्ष समता एक नकारात्मक धारणा है, जबकि विधि का समान संरक्षण सकारात्मक बात है । इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों में अनुच्छेद 14 के "विभेदकारी" पहलू को निर्दिष्ट किया गया और एक नियम प्रतिपादित किया गया जिसके द्वारा विषयों को वर्गीकृत किया जा सके । यदि वर्गीकरण अभीष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए बोधगम्य है, तो यह अनुच्छेद 14 के विभेद-निवारण पहलू के अधीन पर्याप्त माना जाएगा । **लछमन दास** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने पुनः विसम्मतकारी निर्णय देते हुए चेतावनी दी है कि वर्गीकरण के सिद्धांत पर अत्यधिक जोर देने या वर्गीकरण के लिए कोई आधार ढूंढने के लिए व्यग्र और सतत प्रयत्न करना इस अनुच्छेद को इसके सम्मानजनक मूलतत्व से धीरे-धीरे और अति सूक्ष्मतापूर्वक वंचित कर सकता है । उन्होंने वर्गीकरण के सिद्धांत को न्यायालयों द्वारा उक्त अनुच्छेद को व्यावहारिक सार देने के लिए प्रतिपादित एक "सहायक नियम" के रूप में निर्दिष्ट किया है ।

261. वर्ष 1974 के पूर्व काल में, इस न्यायालय के निर्णयो में "विधि का शासन" या अनुच्छेद 14 के "सकारात्मक" पहलू को निर्दिष्ट किया गया है, जिसका सहवर्ती पहलू यह है कि यदि कोई कार्रवाई मनमानी होना पाई गई है और इसलिए अयुक्तियुक्त है, तो यह बात अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के समान संरक्षण को नकार देगी और इस आधार पर उस कार्रवाई को अनदेखा कर दिया जाएगा । **एस. जी. जयसिंघानी** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है :–

> "इस संदर्भ में इस बात पर जोर देना महत्वपूर्ण है कि मनमानी शक्ति का अभाव विधि के शासन का प्रथम महत्वपूर्ण तत्व है जिस पर हमारी संपूर्ण सांविधानिक व्यवस्था आधारित है । विधि के शासन द्वारा शासित व्यवस्था में जब कार्यपालक प्राधिकारियों को विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाए तो इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित परिसीमाओं के भीतर प्रदत्त किया जाना चाहिए । इस दृष्टिकोण से विधि के शासन से यह अभिप्रेत है कि विनिश्चय ज्ञात सिद्धांतों और नियमों को लागू करके किए जाने चाहिएं और साधारणतया, ऐसे विनिश्चय पूर्वाभासित

[1] [1963] 2 एस. सी. आर. 395.

[2] [1967] 2 एस. सी. आर. 703.

होने चाहिएं और नागरिकों को पता होना चाहिए कि उनकी स्थिति क्या है । यदि कोई विनिश्चय किसी सिद्धांत या किसी नियम के बिना किया जाता है तो यह अप्रत्याशित है और ऐसा विनिश्चय विधि के शासन के अनुसार किए गए विनिश्चय के विरोध में है । (डायसी-"ला आफ दि कांस्टिट्यूशन" 10वां संस्करण, इंटरोडक्शन सीएक्स देखें) । यूनाइटेड स्टेट्स वंडरलिक (342 यू. एस. 98) वाले मामले में न्यायमूर्ति डगलस ने यह मत व्यक्त किया है कि 'विधि अपने अत्युत्तम क्षणों में पहुंच गई है', क्योंकि 'अब इसने व्यक्ति को कुछ शासकों के असीमित विवेकाधिकार से मुक्त कर दिया है......जहां विवेकाधिकार आत्यंतिक रहा है, मनुष्य ने सदैव कष्ट उठाया है ।' इस अर्थ में विधि के शासन को स्वेच्छा का घोर शत्रु कहा जा सकता है, जैसा कि जॉन विल्केस [1770 4 बर. 2528, पृ. 2539] वाले मामले में लार्ड मेन्सफिल्ड ने इसे उत्कृष्ट शब्दों में उल्लेख किया है 'विवेकाधिकार से अभिप्रेत विधि द्वारा मार्गदर्शित युक्तियुक्त विवेकाधिकार है । इसे नियम द्वारा शासित होना चाहिए न कि स्वेच्छा द्वारा और इसे मनमाना, अस्पष्ट और कल्पनाशील नहीं होना चाहिए' ।" (पृष्ठ 718-719)

यह मत सेवा नियमों, जो ज्येष्ठता के नियम हैं और जिन्हें आयकर विभाग में लागू किया गया था, के संदर्भ में व्यक्त किया गया था और इन्हें भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित किया गया था ।

262. इसी प्रकार, **मैसूर राज्य** बनाम **एस. आर. जयराम**[1] वाले मामले में अनुच्छेद 14 के अधीन सेवा नियमों को दी गई चुनौती के संदर्भ में इस न्यायालय ने पुनः निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :-

"खुली प्रतियोगिता द्वारा भर्ती के सिद्धांत का उद्देश्य नियोजन के विषय में अवसर की समता सुनिश्चित करना और सर्वाधिक प्रतिभाशाली अभ्यर्थियों की सेवाएं अभिप्राप्त करना है । नियम 1 से 8, 9(1) और नियम 9(2) के प्रथम भाग में इस उद्देश्य की प्राप्ति की ईप्सा की गई है । नियम 9(2) का अंतिम भाग पूर्ववर्ती नियमों के मूलभूत उद्देश्यों को उलट-पुलट और नष्ट करता है । यह नियम सरकार में प्रश्रय की मनमानी शक्ति निहित करता है । यद्यपि नियम 9(1) में योग्यता क्रम के अनुसार प्रथम श्रेणी के पदों पर सफल

[1] [1968] 1 एस. सी. आर. 349.

अभ्यर्थियों की ओर उसके पश्चात् योग्यता-क्रम के अनुसार द्वितीय श्रेणी के पदों पर नियुक्ति की अपेक्षा की गई है, तो भी नियम 9(1), नियम 9(2) के अध्यधीन है, और सरकार नियम 9(2) की आड़ में किसी प्रथम श्रेणी के पद पर कम प्रतिभाशाली व्यक्ति को प्रथम श्रेणी का पद सौंपने और अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति को द्वितीय श्रेणी का पद सौंपने की अनाधिकार शक्ति भी ग्रहण कर सकती है । हम अभिनिर्धारित करते हैं कि नियम 9(2) का अंतिम भाग राज्य के अधीन पदों पर भर्ती के लिए सफल अभ्यर्थियों के न्यायसंगत दावों की अनदेखी करने की मनमानी शक्ति देता है । यह संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का अतिक्रमणकारी है और इसे अभिखंडित कर देना चाहिए ।" (पृ. 353-354)

263. **इंदिरा गांधी** बनाम **राज नारायण**[1] वाले मामले प्रख्यात निर्णय में इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ द्वारा अनुच्छेद 329क, उप-खंड (4) और (5) अभिविखंडित कर दिए गए थे । **केशवानंद भारती** बनाम **केरल राज्य**[2] वाले मामले में अधिकथित आधारभूत ढांचे के नए प्रतिपादित सिद्धांत को लागू करते हुए मुख्य न्यायमूर्ति रे ने उक्त संशोधन को यह मत व्यक्त करते हुए अभिखंडित कर दिया है कि :–

"59. खंड (4) में ये खामियां हैं । प्रथम, अधिकरण परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु दूसरे अधिकरण को सृष्ट करना होगा । यदि विवादों का विनिश्चय करने के लिए संविधायी शक्ति स्वयं अधिकरण बन गई है तो निर्वाचन याचिकाओं (अर्जियों) के संबंध में और निर्वाचन याचिकाओं से सुसंगत बातों की बाबत संविधायी शक्ति द्वारा विधि विरचित करने से संविधायी शक्ति के समक्ष ग्रहण करने के लिए और कार्यवाही करने के लिए कोई याचिका नहीं थी । द्वितीय, कोई विनिश्चय विधि के अनुसार किया जाना चाहिए । संसद् को विधि सृष्ट करने और उसे लागू करने की शक्ति है । प्रस्तुत मामले में लागू करने के लिए संविधायी शक्ति के पास कोई विधि नहीं थी क्योंकि पूर्ववर्ती विधि लागू नहीं होती थी और खण्ड (4) द्वारा कोई अन्य विधि लागू नहीं की गई थी । अतः प्रस्तुत मामले में निर्वाचन का विधिमान्यकरण किसी विधि को लागू करके नहीं किया गया है और इसलिए, ऐसे विधिमान्यकरण से विधि शासन का उल्लंघन होता

[1] [1976] 1 उम. नि. प. 1103 = (1975) सप्ली. एस. सी. सी. 1.

[2] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = (1973) 4 एस. सी. सी. 225.

है ।"

264. इस उद्धरण का बहुत महत्व है चूंकि संशोधन को इसलिए दोषपूर्ण कहा गया था क्योंकि संविधायी शक्ति के पास मामले में लागू करने के लिए कोई विधि नहीं थी और इस कारण से संविधान में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमण होगा । इस विधि के शासन के प्रति संविधान के अनुच्छेद 14 में स्पष्ट निर्देश है, क्योंकि कोई विधि लागू किए बिना मामले का विनिश्चय करना पूर्णतया मनमाना होगा और इस प्रकार उक्त अनुच्छेद में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमण होगा । न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ का मत थोड़ा अधिक स्पष्ट था क्योंकि उन्होंने अभिव्यक्त रूप से अनुच्छेद 14 को निर्दिष्ट किया और कहा कि अनुच्छेद 329क, अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त समता के अधिकार को पूर्णतया नकारता है । यह स्थिति इसलिए है क्योंकि विधि विभेदकारी हो जाएगी क्योंकि विधि के उद्देश्य से युक्तियुक्त अंतरक के अभाव में कतिपय प्रमुख व्यक्तियों को विधि से ऊपर रखा जाएगा । उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया है :—

> "681. इससे यह अर्थ निकलता है कि अनुच्छेद 329क के खंड (1) और (5) मनमाने हैं और उनसे विधि के शासन को क्षति पहुंचाना या नष्ट करना आशयित है । भाषा की अपूर्णताओं के कारण विधि के शासन की परिभाषाओं तथा स्वयं 'विधि' की निश्चित परिभाषा में बाधा उत्पन्न होती है और 1975 की सांविधानिक विधि में, ए. बी. डायसी, जो कि विधि के शासन का बहुत बड़ा व्याख्याता थे, के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में इंग्लिश ला के बैनेरियन प्रोफेसर के रूप में अपना व्याख्यान देने के बाद से, जो कि 1885 में 'इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ दि ला ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' के शीर्ष के अधीन प्रकाशित किए गए थे, अनेक तब्दीलियां हो चुकी हैं । किंतु मैं ऐसा मानता हूं कि इस के बारे में युक्तियुक्त निश्चितता के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि विधि के शासन से यह अभिप्रेत है कि शासन की शक्तियों का प्रयोग विधि द्वारा निर्बंधित होगा और यह कि समता के सिद्धांत के अपवादों के अध्यधीन होते हुए कोई भी व्यक्ति शासन की मनमानी इच्छा-शक्ति का शिकार नहीं होगा । डायसी ने विधि के शासन के तीन अर्थ बताए थे - मनमानी शक्ति का अभाव, विधि के समक्ष समता, या सभी वर्गों को समान रूप से देश की ऐसी साधारण विधि के अध्यधीन बनाना, जिसका प्रशासन साधारणतया न्यायालय करते हों और यह कि संविधान व्यक्तियों के

अधिकारों का स्रोत न होकर उनका परिणाम होता है, जैसी कि न्यायालय उनकी परिभाषा करते हैं और उनको प्रवृत्त करते हैं । दूसरा अर्थ डायसी के 'फ्रेंच डायट एडमिनिस्ट्रेटिफ' (फ्रांसीसी प्रशासनिक विधि) जो गलत ढंग से नापसन्द करने के परिणामस्वरूप निकला था, जिसे उसने ऐसे दुर्भाग्य के रूप में माना था जो कि इंग्लिश चैनल के आरपार अज्ञानी लोगों पर लाद दिया गया था [देखिए ज्यूडिशियल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव ऐक्शन - एस. ए. डी. स्मिथ (1968) पृ. 5] । 'वास्तव में उस समय के विचार पर उसका इतना अधिक प्रभाव था कि अभी हाल में 1935 में लार्ड हेवार्ट ने, जो कि इंग्लैंड के लार्ड चीफ जस्टिस थे 'प्रशासनिक विधि' (एडमिनिस्ट्रेटिव ला) को 'महाद्विपीय जार्गन' के रूप में मानते हुए अस्वीकृत कर दिया था । तीसरा अर्थ हमारे लिखित संविधान के संदर्भ में मुश्किल से ही संगत है, क्योंकि भारत में संविधान सभी अधिकारों और बाध्यताओं का स्रोत है । अतः, हम डायसी द्वारा की गई विधि के शासन की इस विवेचना पर पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकते हैं, किंतु दूसरे विश्व महायुद्ध के बाद से ही सभी लोकतांत्रिक देशों में विधि के शासन को सकारात्मक अर्थ दिया जा चुका है । [देखिए वेड एंड फिलिप्स द्वारा लिखित कांस्टिट्यूशनल ला (छठा संस्करण पृ. 70-75] विधि-शास्त्रियों के अंतरराष्ट्रीय आयोग ने जिसको संयुक्त राष्ट्र के अधीन परामर्शदाता की हैसियत प्राप्त है, 1959 में दिल्ली में आयोजित अपने 'कांग्रेस' (अधिवेशन) में यह अभिनिर्धारित किया था कि वकील, न्यायाधीश और विधि के ऐसे अध्यापकों ने जो कि 53 देशों का प्रतिनिधित्व करते थे, यह अभिपुष्टि की कि विधि का शासन, ऐसी गतिशील संकल्पना है जिसका उपयोग स्वतंत्र समाज में व्यक्ति के राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की रक्षा करने और उन्हें बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए । उस कांग्रेस की समितियों में से एक समिति ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी विधि के अधीन किसी भी व्यक्ति के साथ विभेदक व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए । यह सिद्धांत अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न है जो कि उनके अपने संविधान के उपबंधों पर निर्भर होता है और वास्तव में इस बात पर निर्भर होता है कि क्या कोई लिखित संविधान मौजूद है । चूंकि संसद् की सर्वोच्चता को दर्शित करने के लिए यह बात हल्केपन के साथ कह दी गई है, कि इंग्लिश कांस्टिट्यूशन का आकर्षण यह है कि 'उसका कोई भी

अस्तित्व नहीं है ।' हमारे संविधान का अपना अस्तित्व है और उसका अस्तित्व अवश्य ही बना रहना चाहिए । वह प्रत्येक बात को विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण की गारण्टी देता है । ऐसी समता से वंचित करना, जैसी कि वर्गीकरण के न्यायिक रूप से प्रतिपादित सिद्धांत द्वारा उपातंरित की गई हो, विधि के शासन को अस्वीकार करने के समान ही है ।"

265. यह पैरा मनमानेपन के सिद्धांत के पूर्व में होने वाले प्रयोग के विषय में है, जो कि अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अनुवर्ती है । इसका थोड़ा महत्व यह है कि इसमें डायसी के विधि के शासन की विरचना को निर्दिष्ट किया गया है, जिसमें मनमानी शक्ति का अभाव और विधि के समक्ष समता दोनों ही बातें विधि के शासन के सारतत्व होने के रूप में अंतर्विष्ट हैं ।

266. अब हम मनमानेपन के सिद्धांत के विकास और एक सुभिन्न सिद्धांत के रूप में राज्य की कार्रवाई पर इसके लागू होने की बात पर विचार करते हैं, जिसके आधार पर राज्य की कार्रवाई को अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमणकारी होने के कारण अभिखंडित किया जा सकता है । **ई. पी. रायप्पा** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने एक महत्वपूर्ण पैरा में यह मत व्यक्त किया है :–

"चुनौती के दो अन्तिम आधारों पर एक साथ विचार किया जा सकता है । चुनौती के तीसरे आधार को यद्यपि हमने सुभिन्न और पृथक् आधार के रूप में अपनाया है किन्तु वास्तविकता यह है कि वह सारतः और तथ्यतः अनुच्छेद 14 और 16 के अतिक्रमण पर आधारित दूसरे आधार का ही एक पहलू है । अनुच्छेद 16 में यह मूलभूत गारण्टी है कि राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबंध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी । लोक नियोजन में अवसर की समता सुनिश्चित करने वाले सिद्धांत के रूप में, जो संविधान के प्रकल्पित नए वर्गविहीन समता वाले समाज के निर्माण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, अपने अत्यधिक महत्व के कारण अनुच्छेद 16 यद्यपि सुभिन्न और स्वतंत्र मूल अधिकार के रूप में अधिनियमित किया गया है फिर भी वह अनुच्छेद 14 में उपबंधित समता की संकल्पना के लागू किए जाने का एक उदाहरण मात्र है । दूसरे शब्दों

---

[1] [1974] उम. नि. प. 511 = (1974) 4 एस. सी. सी. 3 (पृ. 38.)

में, अनुच्छेद 14 जाति (जीनस) है, जब कि अनुच्छेद 16 उपजाति (स्पेशीज़) है । अनुच्छेद 16 लोक नियोजन से संबंधित सभी विषयों में समता के सिद्धांत को प्रभावी करता है । एक ही आधारभूत सिद्धांत है जो अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है और वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । यह महान समता सिद्धांत क्या है और इसका प्रभाव कहां तक है ? यह बुनियादी विश्वास है और न्यायाधिपति बोस के शब्दों में, 'एक जीवन पद्धति है' और इस पर विचार बहुत ही संकुचित, अति सिद्धांतवादी अथवा रूढ़िगत दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए । हम इसके सर्वग्राही प्रविषय और व्यापक अर्थ में कांट-छांट के किसी भी प्रयत्न का समर्थन नहीं कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने का अर्थ इसके क्रियावादी विस्तार का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील संकल्पना है जिसके अनेक पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धान्तिक सीमाओं के भीतर, 'निरुद्ध, सीमित और परिरुद्ध' नहीं किया जा सकता है । सकारात्मकता के दृष्टिकोण से समता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वन्द्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं; इनमें से एक तो गणतन्त्र के अन्दर विधि के शासन से सम्बद्ध हैं किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक से है । जब कोई कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो यह सुनिश्चित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार उसमें असमानता है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और निष्पक्षता और व्यवहार की समता सुनिश्चित करते हैं । वे यह अपेक्षा करते हैं कि राज्य का कार्य एक जैसी स्थिति में स्थित सभी व्यक्तियों को समान रूप से लागू विधिमान्य सुसंगत सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए और किसी बाह्य अथवा असंगत विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिए क्योंकि उसका अर्थ समता से इनकार करना होगा । जहां मन के भीतरी भाग में उपजने वाली प्रेरणा को छोड़कर राज्य के कार्य को प्रवर्तनशील करना तर्कसम्मत और सुसंगत नहीं है बल्कि बाह्य है तथा अनुज्ञेय तथ्यों के क्षेत्र से बाहर है वहां ऐसा कार्य शक्ति के असद्भावपूर्ण प्रयोग की कोटि में आएगा और वह अनुच्छेद 14 और 16 का

उल्लंघन करने वाला होगा । शक्ति का असद्भावपूर्ण प्रयोग और स्वेच्छाचारिता एक ही बुराई से उत्पन्न होने वाले विभिन्न पक्ष हैं । वास्तविकता यह है कि पश्चात्कथित में पूर्व कथित सम्मिलित है । दोनों ही अनुच्छेद 14 और 16 द्वारा निषिद्ध हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

267. **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस बात को और पुष्ट किया गया था, जहां न्यायमूर्ति भगवती ने यह मत व्यक्त करने के पश्चात् कि विभिन्न मूल अधिकारों को एक-साथ पढ़ा जाना चाहिए और परस्पर अतिव्याप्त तथा परिवर्द्धन किया जाना चाहिए, इस सिद्धांत को निम्नलिखित रूप में और अधिक विस्तृत किया गया है :–

"अनुच्छेद 21 के अधीन प्रक्रिया की प्रकृति और अपेक्षा

7. इस समय, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुच्छेद 14 क्या अपेक्षित करता है । इस अनुच्छेद में प्रतिपादित महान समताकारी सिद्धांत की अन्तर्वस्तु क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह संविधान की आत्मा है । वस्तुतः, यह वह स्तम्भ है जिस पर हमारे लोकतान्त्रिक गणराज्य का आधार निश्चित रूप से निर्भर है और इसलिए इसके बारे में संकुचित, पंडिताऊ अथवा शब्दकोशीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाना चाहिए । इसके सर्वव्यापी प्रविषय और अर्थ में कांट-छांट करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना इसकी क्रियाशील महत्ता का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील सिद्धांत है जिसके बहुत से पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धान्तिक सीमाओं के भीतर कैद नहीं किया जा सकता है । हम यहां वह बात अवश्य दोहरा दें, जो ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य और एक अन्य [1974] 2 एस. सी. आर. 348 वाले मामले में बहुमत ने इंगित की थी अर्थात 'सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समत्ता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं, इनमें से एक तो गणतन्त्र के अन्दर विधि के शासन से संबद्ध है किन्तु दूसरे का संबंध निरकुंश सम्राट के अंहकार और सनक के साथ है । जब कोई कार्य स्वेछाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह विवक्षित है कि राजनीतिक तर्क और संवैधानिक विधि

[1] [1979] 1 उम. नि. प. 243 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248.

दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है । अनुच्छेद 14 राज्य की कार्यवाही में मनमानेपन पर प्रहार करता है और बर्ताव की निष्पक्षता और समानता अभिनिश्चित करता है । युक्तियुक्तता का सिद्धांत ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भान्ति अनुच्छेद 14 में व्यक्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा । 'यह ठीक और न्यायसंगत एवं निष्पक्ष होना चाहिए' और मनमानी कल्पित अथवा दमनकारी नहीं होना चाहिए अन्यथा यह सर्वथा कोई भी प्रक्रिया नहीं होगी और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा की पूर्ति नहीं होगी ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

268. **ए. एल. कालरा** बनाम **दि प्रोजेक्ट एंड इक्विपमेंट कार्पोरेशन**[1] वाले मामले में **रायप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले का अनुसरण करते हुए और यह अभिनिर्धारित करते हुए कि मनमानापन ऐसा सिद्धांत है जो विभेद से सुभिन्न है । यह अभिनिर्धारित किया गया है :–

"19....... इस प्रकार यह भी स्थिर प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 14 कार्यपालक/प्रशासनिक कार्रवाई में मनमानेपन पर चोट करता है क्योंकि जो कार्रवाई मनमानी है, वह अवश्यमेव समता से वंचित करती है । विभेदात्मक व्यवहार के निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि समता से वंचित करने को दो व्यक्तियों के बीच तुलनात्मक मूल्यांकन तक सीमित रखा जाए । जो कार्रवाई अपने आप में मनमानी है, वह विधि द्वारा समान संरक्षण से वंचित करती है । संविधान न्यायपीठ ने अजय हसिया {(1981) 1 एस. सी. सी. 722 = 1981 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 258 = ए. आई. आर. 1981 एस. सी. 487 = [1981] 2 एस. सी. आर. 79 = (1981) एल. एल. जे. 103} वाले मामले में प्रासंगिक मत व्यक्त किया था और यह कहकर विषय को संविवाद मुक्त कर दिया था: 'अतः जहां राज्य की कार्रवाई में मनमानापन है, चाहे वह विधायिका की कार्रवाई हो या कार्यपालिका की या अनुच्छेद 12 के अनुसार किसी प्राधिकारी

[1] [1984] 4 उम. नि. प. 675 = (1984) 3 एस. सी. सी. 316.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

की, वहां अनुच्छेद 14 तुरंत लागू होता है और वह राज्य की ऐसी कार्रवाई को अवैध बना देता है ।' डी. एस. नकारा **बनाम** भारत संघ [(1981) 1 एस. सी. सी. 305 = 1983 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 145 = ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 130 = (1983) यू. पी. एस. सी. 263] वाले मामले में इस मत को और विस्तृत रूप दिया गया था तथा इसकी पुष्टि की गई थी । मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ {(1978) 1 एस. सी. सी. 248 = ए. आई. आर. 1978 एस. सी. 597 = [1978] 2 एस. सी. आर. 621} वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है कि अनुच्छेद 14 राज्य की कार्रवाई के मनमानेपन पर प्रहार करता है तथा निष्पक्ष और समान व्यवहार सुनिश्चित करता है । अतः आज यह दलील नहीं दी जा सकती कि कार्यपालिका की मनमानी कार्रवाई न तो न्यायिक तौर पर पुनर्विलोकनीय है और न ही अनुच्छेद 14 की परिधि के अंतर्गत आती है । अतः श्री सिन्हा द्वारा पेश की गई दलील तद्नुसार अस्वीकार करनी होगी ।"

बबीता प्रसाद बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में इसी मत को दोहराया गया है ।

269. संविधान के अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट मनमानेपन का सिद्धांत विधान, प्रत्यायोजित विधान और कार्यपालिका कार्यवाही को नकारने के लिए लागू होगा, यह बात **अजय हासिया** बनाम **खालिद मुजीब सेहरावर्दी**[2] वाले मामले में के विख्यात उद्धरण से स्पष्ट है :–

"16. ....अनुच्छेद 14 के वास्तविक क्षेत्र और सीमा के प्रश्न पर अनेक विनिश्चयों में विचार किया गया है इसलिए यहां पर इसके संबंध में सविस्तार विचार आवश्यक नहीं है । यहां इतना कहना ही पर्याप्त है कि अनुच्छेद 14 की विषयवस्तु और उसकी सीमा के संबंध में वर्गीकरण के सिद्धांत का भ्रम नहीं होना चाहिए । दुर्भाग्यवश हमारी सांविधानिक विधि के विकास काल में अनुच्छेद 14 को भ्रमवश वर्गीकरण के सिद्धांत के रूप में देखा जाने लगा क्योंकि उस समय सह दृष्टिकोण अपनाया गया कि यह अनुच्छेद भेदभाव को रोकता है और यह वर्गीकरण करने वाले सिद्धांत में दोनों शर्तें अर्थात् (i) यह कि

---

[1] (1993) (सप्ली.) 3 एस. सी. सी. 268.

[2] [1981] 4 उम. नि. प. 410 = (1981) 1 एस. सी. सी. 722.

वर्गीकरण किसी बोधगम्य भिन्नता पर आधारित है जो ऐसे व्यक्तियों और वस्तुओं को ऐसे अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं से भिन्न रखते हैं जिन्हें वर्गीकृत किया गया है और (ii) यह कि आक्षेपित विधायी या शासकीय कार्यवाही द्वारा जिस उद्देश्य को प्राप्त किया जाना है उसके साथ उसका उचित संबंध है, का पालन किया गया हो, वहां कोई भेदभाव नहीं माना जाता । सबसे पहले ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य और अन्य {(1974) 4 एस. सी. सी. 3, 38 = 1974 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 165, 200 = [1972] 2 एस. सी. आर. 348} वाले मामले में इस न्यायालय ने अनुच्छेद 14 को एक नई सीमा दी और यह बताया कि यह अनुच्छेद अत्यंत प्रतिक्रियात्मक महत्व का है और यह मनमानेपन के विरुद्ध गारंटी भी देता है । इस न्यायालय द्वारा हम में से एक (न्यायाधिपति भगवती) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया –

> 'एक ही आधारभूत सिद्धांत है जो अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है और वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । यह महान समता का सिद्धांत क्या है और इसका प्रभाव कहां तक है ? यह बुनियादी विश्वास है और न्यायाधिपति बोस के शब्दों में यह एक जीवन पद्धति है और इस पर विचार बहुत ही संकुचित, अति सिद्धांतवादी अथवा रूढ़िगत दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए । हम इसके सर्वग्राही प्रविषय और व्यापक अर्थ में कांट-छांट के किसी भी प्रयत्न का समर्थन नहीं कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने का अर्थ इसके क्रियावादी विस्तार का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील संकल्पना है जिसके अनेक पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धांतिक सीमाओं के भीतर निरुद्ध, सीमित और परिरुद्ध नहीं किया जा सकता है । सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं । इनमें से एक तो गणतंत्र के अंदर विधि के शासन से संबद्ध है किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक के साथ है । जब कोई कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह सन्निहित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन

से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और निष्पक्षता और व्यवहार समता सुनिश्चित करते हैं ।'

इस महत्वपूर्ण और व्यापक पहलू को, जो कि अब तक अनुच्छेद 14 के कुछ सारगर्भित शब्दों में छुपा हुआ था, उद्‌घाटित किया गया और **रायप्पा,** {(1975) 1 एस. सी. सी. 485= 1975 एस. सी. सी. (एल एंड एस.) 992 = [1975] 3 एस. सी. आर. 616} वाले मामले में सामने लाया गया । इस न्यायालय ने मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ (1978) 1 एस. सी. सी. 248 वाले मामले में इस बात को दोबारा पुष्ट और प्रकाशित किया जिसमें पुनः एक बार इस न्यायालय की ओर से न्यायाधिपति भगवती ने निम्नलिखित अवलोकन किया –

'इस समय यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुच्छेद 14 क्या अपेक्षित करता है । इस अनुच्छेद में प्रतिपादित महान समताकारी सिद्धांत की अंतर्वस्तु और उसका प्रविषय क्या है ? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह संविधान की आत्मा है । वस्तुतः, यह वह स्तम्भ है जिस पर हमारे लोकतांत्रिक गणराज्य का आधार निश्चित रूप से निर्भर है और इसलिए इसके बारे में संकुचित, पंडिताऊ अथवा शब्दकोषीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाना चाहिए । इसके सर्वव्यापी प्रविषय और अर्थ में कांट-छांट करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना इसकी क्रियाशील महत्ता का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील सिद्धांत है जिसके बहुत से पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धांतिक सीमाओं के भीतर कैद नहीं किया जा सकता है । ..... अनुच्छेद 14 राज्य की कार्यवाही में मनमानेपन पर प्रहार करता है और बर्ताव की निष्पक्षता और समानता अभिनिश्चित करता है । युक्तियुक्तता का सिद्धांत ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भ्रांति अनुच्छेद 14 में व्यक्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा ।'

इस न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण [(1979) 3 एस. सी. सी. 489] वाले मामले में रिपोर्ट के पृष्ठ 1042 पर पुनः इस बात पर जोर दिया था । इसलिए इस बात को अब पूर्णतः निश्चित मान लिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 14 मनमानेपन पर प्रहार करता है क्योंकि मनमानेपन से किया गया कोई भी कार्य निश्चित रूप से समानता की अवहेलना करेगा । न्यायालयों द्वारा विकसित किया गया वर्गीकरण का सिद्धांत अनुच्छेद 14 का ही स्वरूप नहीं है और न ही वह इस अनुच्छेद का उद्देश्य या उसका लक्ष्य है । यह मात्र एक सूत्र है जिसके माध्यम से यह अवधारित किया जा सकता है कि वह प्रश्नगत विधायी या कार्यपालक कार्यवाही मनमानी है या नहीं और यदि वह मनमानी है तो वह समानता के अधिकार को नकारती है । यदि वर्गीकरण युक्तियुक्त नहीं है और ऊपर बताई गई दोनों शर्तों का समाधान नहीं करता तो आक्षेपित विधायी या कार्यपालक कार्यवाही स्पष्टतः मनमानी मानी जाएगी और अनुच्छेद 14 के अधीन गारंटीकृत समता का अधिकार भंग हुआ माना जाएगा । इसलिए जहां कहीं भी राज्य द्वारा की गई कार्यवाही में मनमानापन किया गया हो चाहे वह विधान-मंडल द्वारा कार्यपालिका द्वारा अथवा अनुच्छेद 12 के अधीन किसी प्राधिकारी द्वारा ही क्यों न किया गया हो अनुच्छेद 14 के अंतर्गत तुरंत कदम उठाया जा सकता है और राज्य को ऐसी कार्यवाही को खंडित किया जा सकता है । वस्तुतः युक्तियुक्तता और स्वेच्छाचारिता का विचार समस्त सांविधानिक स्कीम में ओत-प्रोत है और यह ऐसा सुनहरा धागा है जिसे संविधान रूपी वस्त्र में सर्वत्र पिरोया गया है ।"

270. **के. आर. लक्ष्मण (डा.)** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने विधि की इस दृष्टि से तमिलनाडु के 1986 के एक अधिनियम को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह मनमाना है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । अनुच्छेद 14 के अधीन दो अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए गए । एक यह था कि प्रश्नगत अधिनियम विभेदकारी है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । दूसरा तर्क यह था कि किसी भी दशा में अधिनियम मनमाना है और इस कारण से अनुच्छेद 14 के एक अलग पहलू का भी अतिक्रमण होता है । यह बात उक्त निर्णय के पैरा 45 से

---

[1] (1996) 2 एस. सी. सी. 226.

स्पष्ट होती है । निर्णय में इन दोनों तर्कों को स्वीकार किया गया है । जहां तक विभेद के पहलू का संबंध है, इस न्यायालय ने 1986 के अधिनियम को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह विभेदकारी (पैरा 46 और 47) है । पैरा 48 से 50 महत्वपूर्ण हैं, इनमें इस न्यायालय ने 1986 के अधिनियम को मनमाना होने के कारण अलग से अभिखंडित कर दिया, जो निम्नलिखित प्रकार से हैं (पैरा 256-257 पर) :–

"48. हमें श्री परासरण की इस दलील में पर्याप्त बल दिखाई पड़ता है कि क्लब के कार्य का अर्जन और अंतरण मनमाना है । अधिनियम, 1949 द्वारा दोनों अधिनियमों को संशोधित किया गया था और 'द्यूतक्रीड़ा' की परिभाषा को संशोधित किया गया था । संशोधन का उद्देश्य 'द्यूतक्रीड़ा' में घुड़दौड़ को सम्मिलित करना था । तथापि, अधिनियम, 1974 के अधिनियमित होने और 31 मार्च, 1975 से प्रवर्तित होने तक अधिनियम, 1949 के उपबंध प्रवर्तित नहीं किए गए थे । अधिनियम, 1974 तमिलनाडु राज्य में घुड़दौड़ों पर बाजी लगाने या शर्त लगाने की समाप्ति का उपबंध करने की दृष्टि से अधिनियमित किया गया था । इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि राज्य सरकार की सतत नीति घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषित करने की रही है, जैसा कि 1949 से लेकर विभिन्न विधान बनाकर प्रायोजित किया गया है, और इसलिए इसे दोनों अधिनियमों में प्रतिषिद्ध किया गया है । अधिनियम, 1974 के प्रवर्तन को इस न्यायालय द्वारा रोक दिया गया था और परिणामस्वरूप इस न्यायालय के आदेशों के अधीन घुड़दौड़ें जारी रहीं । इस विषय पर वर्ष 1986 से पूर्व की सभी अधिनियमितियों में यथा प्रायोजित राज्य सरकार की नीति से यह दर्शित होता है कि राज्य सरकार ने घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में समझा है और इसलिए इसे विधि के अधीन प्रतिषिद्ध किया है । दूसरी ओर, अधिनियम, 1986 में घुड़दौड़ को एक लोक प्रयोजन के रूप में और जनसाधारण के हित में घोषित किया गया है । दोनों आधारों में स्पष्ट विरोधाभास है । हम श्री परासरण की इस दलील से सहमत नहीं हैं कि अधिनियम, 1986 एक छद्म विधान है, किंतु साथ ही साथ हमारा यह मत है कि सरकार द्वारा क्लब के कार्य का अर्जन और अंतरण करने से किसी लोक प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो रही है । हमारी समझ से बाहर की बात है कि राज्य सरकार कैसे रेस क्लब का अर्जन और उसके कार्यों को ग्रहण कर सकती है जब उसने घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषित करने के प्रकट उद्देश्य के साथ

अधिनियम, 1974 अधिनियमित किया है । घुड़दौड़ पर शर्त को समाप्त करने के लिए विधि अधिनियमित करने और इस बात की लोक हित और लोक नैतिकता के नाम में इस न्यायालय के समक्ष पुरजोर प्रतिरक्षा करने के पश्चात्, राज्य सरकार पुनः लोक हित और लोक प्रयोजन के नाम में घुड़दौड़ के कार्य का अर्जन करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषणा करने के लिए 'लोक हित और लोक प्रयोजन' का अवलंब लेना और इसे विधि के अधीन प्रतिषिद्ध करना तथा साथ ही साथ 'लोक प्रयोजन और लोक हित' की बात कहकर रेस-क्लब का अर्जन करने और स्वयं राज्य सरकार द्वारा घुड़दौड़ का संचालन करने की बात प्रत्यक्ष रूप से तर्कहीन है ।

49. अतः हम यह अधिनिर्धारित करते हैं कि अधिनियम, 1986 के उपबंध विभेदकारी और मनमाने हैं और इसलिए वे संविधान के अनुच्छेद 14 में प्रतिष्ठापित समता के अधिकार का अतिक्रमण और उल्लंघन करते हैं ।

50. चूंकि हमने अधिनियम, 1986 को इस आधार पर अभिखंडित किया है कि यह संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है, हमारे लिए इसकी विधिमान्यता के प्रश्न पर संविधान के अनुच्छेद 19 के आधार पर विचार करना आवश्यक नहीं है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

271. **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **मैक्डोवेल एंड कं.**[1] वाले मामले में इस निर्णय के दृष्टिकोण से सहमत होते हुए एक विसम्मत टिप्पण को अभिखंडित कर दिया गया था । तीन न्यायाधीशों की एक अन्य न्यायपीठ ने अनुच्छेद 14 के मनमानेपन वाले पहलू पर आधारित तर्क का खंडन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है :-

"43. श्री रोहिंटन नरीमन ने यह दलील दी कि क्योंकि छूट प्राप्त प्रवर्गों के अंतर्गत आने वाले बहुत सारे व्यक्तियों को आंध्र प्रदेश राज्य में मादक शराब पीने के लिए अनुज्ञात किया है, इसलिए इन शराबों के निर्माण और उत्पादन पर पूर्ण प्रतिषेध लगाना 'मनमाना' है और संशोधनकारी अधिनियम को केवल इसी आधार पर अभिखंडित किया जाना चाहिए । तमिलनाडु राज्य **बनाम** अनंथी अम्मल

[1] (1996) 3 एस. सी. सी. 709.

[(1995) 1 एस. सी. सी. 519] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का समर्थन इस प्रतिपादना के लिए किया गया है । तथापि, इससे पूर्व कि हम उक्त विनिश्चय को निर्दिष्ट करें, हमें इस संबंध में कतिपय मूलभूत प्रतिपादनाओं का स्मरण करना उचित होगा । यूनाइटेड किंगडम में संसद् सर्वोच्च है । संसद् की शक्ति पर कोई परिसीमाएं नहीं हैं । संसद् द्वारा बनाए गए अधिनियम को कोई न्यायालय किसी आधार पर अभिखंडित नहीं कर सकता है । इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमेरिका में परिसंघीय संविधान है, जहां कांग्रेस और राज्य विधान-मंडलों की विधि बनाने की शक्ति दो प्रकार से सीमित है, अर्थात् राज्यों और परिसंघीय सरकार के बीच विधायी शक्तियों का विभाजन तथा संविधान में सम्मिलित किए गए मूल अधिकार (बिल ऑफ राइट्स) भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका के समान स्थिति है । संसद् और इस विषय के लिए राज्य विधान-मंडलों की शक्ति दो प्रकार से निर्बंधित है । संसद् या विधान-मंडल द्वारा बनाई गई कोई विधि न्यायालयों द्वारा केवल और केवल दो आधारों पर अभिखंडित की जा सकती है, अर्थात् (1) विधायी सक्षमता की कमी और (2) संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत किसी मूल अधिकार या किसी अन्य सांविधानिक उपबंध के अतिक्रमण के आधार पर कोई तीसरा आधार नहीं है । हम संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों से प्रेरित धारणाओं-प्रक्रियात्मक अयुक्तियुक्तता और मौलिक अयुक्तियुक्तता की चर्चा में नहीं जाना चाहते हैं । यहां तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इन धारणाओं में, विशिष्ट रूप से मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की धारणा, अनवरत संविवाद का विषय साबित हुई है और नवीन विचारधारा की प्रवृत्ति इस आधार (मौलिक सम्यक् प्रक्रिया) में अत्यधिक कमी करने की तरफ है । मौलिक सम्यक् प्रक्रिया के आधार के विरुद्ध मुख्य आलोचना का कारण यह है कि यह धारणा विशिष्ट विधान अधिनियमित करने में विधान-मंडल की प्रज्ञा के निर्णयकर्ता के रूप में न्यायालयों का गठन करना चाहती है । हमारे लिए यह कहना पर्याप्त है कि इसे जो भी नाम दिया जाए, अविधिमान्यता का आधार ऊपर वर्णित दो आधारों के भीतर ही आना चाहिए । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि किसी अधिनियमिति को अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी होने के नाते चुनौती दी जाती है तो इसे केवल इस कारण अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह पाया जाता है कि वह अधिनियमिति अनुच्छेद 14

में प्रतिष्ठापित समता खंड/समान संरक्षण खंड की अतिक्रमणकारी है । इसी प्रकार, यदि किसी अधिनियमिति को अनुच्छेद 19 के खंड (क) से (छ) द्वारा प्रत्याभूत किसी मूल अधिकार के अतिक्रमणकारी होने के नाते चुनौती दी जाती है, तो इसे केवल इस कारण अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह अनुच्छेद 19 के खंड (2) से (6) तक के किसी खंड द्वारा व्यावृत्त नहीं पाई जाती है । किसी अधिनियमिति को केवल यह कहकर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि यह मनमानी या अयुक्तियुक्त है । किसी अधिनियम को विधिमान्य ठहराने के लिए कोई न कोई सांविधानिक कमी पाई जानी चाहिए । किसी अधिनियमिति को इस आधार पर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि न्यायालय उसे अन्यायपूर्ण समझता है । संसद् और विधान-मंडल, जो लोगों के प्रतिनिधियों के रूप में संकलित हैं, वे अनमित रूप से लोगों की आवश्यकताओं को जानते हैं और उनसे अभिज्ञ होते हैं तथा यह जानते हैं उनके लिए क्या सही और क्या गलत है । न्यायालय उनकी प्रज्ञा पर निर्णय नहीं सुना सकता है । इस संबंध में, यह स्मरण रखना चाहिए कि यहां तक कि प्रशासनिक कार्रवाई के मामले में भी न्यायिक पुनर्विलोकन तीन आधारों तक सीमित है, अर्थात् (i) अयुक्तियुक्तता, जिसे अधिक समुचित रूप से अयुक्तिसंगतता कहा जा सके, (ii) अवैधता और (iii) प्रक्रियात्मक अनुचितता । काउंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन **बनाम** मिनिस्टर फार सिविल सर्विस [(1985) एस. सी. सी. 374 = (1984) 3 इला. ई. आर. 935 = (1984) 3 डब्ल्यू. एल. आर. 1174] वाला मामला देखें, जिस विनिश्चय को इस न्यायालय द्वारा भी स्वीकार किया गया है । अनुपातिकता का सिद्धांत यहां तक कि प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में अभी भी बहस का मुद्दा बना हुआ है । [आर **बनाम** सक्रेटरी आफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट, एक्स पी. ब्रिंड (1991) एस. सी. सी. 696 = (1991) 1 आल. ई. आर. 720 पृ. 766-67 और 762 वाले मामले में लार्ड लॉवरी और एक्नेर की राय देखें] जब उक्त सिद्धांत की प्रयोज्यता प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में भी पूर्णतः और अंतिमतः स्थिर नहीं है तो इस सिद्धांत को लागू करके किसी अधिनियमिति को अभिखंडित करना अद्भुत बात होगी । यह कहना एक बात है कि किसी मूल अधिकार पर अधिरोपित निर्बंधन को अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह अननुपातिक, अत्यधिक या अयुक्तियुक्त है तथा यह कहना बिल्कुल अलग बात है कि न्यायालय किसी अधिनियमिति

को अभिखंडित कर सकता है यदि उसका विचार है कि वह अयुक्तियुक्त, अनावश्यक या अनुचित है ।" (पृष्ठ 737 - 739)

272. यह निर्णय कम से कम दो आबद्धकारी पूर्व निर्णयों, प्रथम, **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामले में सांविधानिक न्यायपीठ के निर्णय और द्वितीय **लक्ष्मणन्** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की समन्वित न्यायपीठ के निर्णय की अवेक्षा करने में असफल रहा । इसके अतिरिक्त, कार्यपालिका की कार्रवाई और अधीनस्थ विधान, दोनों को अभिखंडित करने के लिए मनमानेपन को क्यों प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, इसमें अंतर्विष्ट तर्कणा निम्नलिखित थी :–

(1) **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायपीठ के अनुसार, मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की कोई बात न तो अमेरिकन न्यायालयों द्वारा और न ही हमारे न्यायालयों द्वारा स्वीकार की गई है और इसलिए यह मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होने के कारण, जो अनुच्छेद 14 में अर्थ लगाया गया है, इसे लागू नहीं किया जा सकता है । **मोहम्मद आरिफ** बनाम **भारत का उच्चतम न्यायालय**[1] वाले मामले में **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले विख्यात निर्णय का अनुसरण करते हुए सांविधानिक न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है –

"27. अब मेनका गांधी (मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ [1978] 2 एस. सी. आर. 621 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248 वाले मामले के निर्णय के लिए मंच तैयार था । कई सारे निर्णय सुनाए गए और उन सभी का निष्कर्ष यह था कि अनुच्छेद 21 को अन्य मूल अधिकारों के साथ पढ़ा जाना चाहिए और इस प्रकार पढ़ने के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया न केवल युक्तिसंगत, उचित और युक्तियुक्त होनी चाहिए, अपितु स्वयं विधि भी युक्तियुक्त होनी चाहिए क्योंकि अनुच्छेद 14 और 19 को अब अनुच्छेद 21 के साथ पढ़ा जाना चाहिए । [मुख्य न्यायमूर्ति बेग के अनुसार एस. सी. आर. के पृ. 646 - 648, एस. सी. सी. के पृ. 393-95, पैरा 198-204, एस. सी. आर. के पृ. 669, 671-74 और 687 ; एस. सी. सी. के पृ. 279-284 और 296-297, पैरा 5-7 और 18 पर न्यायमूर्ति भगवती

[1] (2014) 9 एस. सी. सी. 737.

के अनुसार तथा एस. सी. सी. के पृ. 335-339 पैरा 74-85 पर न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के अनुसार देखें] । न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने अत्यंत स्पष्टता के साथ नया सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो इस प्रकार है –

> '85. सारांश के रूप में, अनुच्छेद 21 में 'प्रक्रिया' से अभिप्रेत ऋजु प्रक्रिया है न कि औपचारिक प्रक्रिया । 'विधि' एक युक्तियुक्त विधि है न कि कोई अधिनियमित भाग । जैसे कि अनुच्छेद 22 विनिर्दिष्ट रूप से प्रतिषेधात्मक तथा दंडात्मक निरोध के लिए प्रक्रियागत रक्षोपायों को उल्लिखित करता है, इसी प्रकार ऐसे निरोधों के लिए व्यवस्था करने वाली विधि अनुच्छेद 22 के अनुकूल होनी चाहिए । यह उचित ही कहा गया है कि दैहिक स्वतंत्रता गठित करने वाले अन्य अधिकारों के लिए अनुच्छेद 21 में अंतर्निहित प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय उपलब्ध हैं । अन्यथा जैसे कि अनुच्छेद 21 में अंतर्विष्ट प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय केवल ऐसे मामलों में उपलभ्य होंगे जो निषेधात्मक और दंडात्मक निरोध के विषय हों, वहां जीवन संबंधी अधिकार, जो कि किसी भी अन्य निरोध से अधिक मूलभूत है, और जो दैहिक स्वतंत्रता गठित करता है तथा व्यक्ति की प्रसन्नता, गरिमा और मूल्य के लिए सर्वोपरि है, किसी भी प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय के लिए हकदार नहीं होगा सिवाय ऐसी दशा के जिसका चयन विधानमंडल द्वारा किया गया हो ।'

28. **मेनका गांधी** वाले मामले में की गई प्रतिपादनाओं पर सहमति मिट्ठू **बनाम** पंजाब राज्य [(1983) 2 एस. सी. सी. 277 = (1983) एस. सी. सी. (क्रि.) 405] वाले मामले में व्यक्त की गई, जिसमें इस न्यायालय ने निम्नलिखित उल्लेख किया है –

> 6. .... सुनील बत्रा **बनाम** दिल्ली प्रशासन [(1978) 4 एस. सी. सी. 494 = (1979) एस. सी. सी. (क्रि.) 155] वाले मामले में इस प्रन पर विचार करते समय कि क्या मृत्यु दंडादेश का इंतजार करने वाले व्यक्ति को एकांत परिरोध में रखा जा सकता है, न्यायमूर्ति कृष्ण

अय्यर ने यह मत व्यक्त किया कि हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया' खंड नहीं है जैसे कि अमेरिका के संविधान में है । बैंक राष्ट्रीयकरण वाले {रूस्तम कावसजी कपूर **बनाम** भारत संघ (बैंक राष्ट्रीयकरण) (1970) 1 एस. सी. सी. 248 और **मेनका गांधी** वाले मामले (मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ) [1978] 2 एस. सी. आर. 621 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248} के विनिश्चयों के पश्चात् इसी प्रकार के परिणाम हुए थे ।

....

बचन सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य [(1980) 2 एस. सी. सी. 684 = (1980) एस. सी. सी. (क्रि.) 580] वाले मामले में, जिसमें मृत्यु दंडादेश की शास्ति की सांविधानिक विधिमान्यता को कायम रखा गया था, न्यायमूर्ति सरकारिया ने बहुमत की ओर से मत व्यक्त करते हुए यह कहा कि यदि अनुच्छेद 21 को मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ वाले मामले में किए गए निर्वचन के अनुसार समझा जाता है तो यह कहना होगा कि –

> '136. किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधिमान्य विधि द्वारा स्थापित ऋजु, निष्पक्ष और युक्तियुक्त प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।'

प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है । अब मौलिक सम्यक् प्रक्रिया प्राण या दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार पर लागू की जानी चाहिए ।"

(पृष्ठ 755 - 756)

अतः, तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने स्पष्ट तौर पर **मोहम्मद आरिफ** (उपर्युक्त) वाले मामले में उद्धृत **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले का यह दर्शित करने के लिए उल्लेख नहीं किया कि प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है और मौलिक सम्यक् प्रक्रिया अनुच्छेद 21 का भाग है क्योंकि इसे अनुच्छेद 14 और 19 के साथ पढ़ा जाना चाहिए ।

न्यायमूर्ति मैथ्यू ने पहला तेज बहादुर सप्रू मेमोरियल लेक्चर, जिसका

2017(8) eILR(PAT) SC 110

शीर्षक "डेमोक्रेसी एंड ज्यूडिशियल रिव्यू" था, देते हुए यह उल्लेख किया है कि :–

> "अभी एक अन्य मुद्दा और है और मैं बताता हूं । संविधान निर्माताओं ने हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' को न्यायमूर्ति फ्रेंकफर्टर द्वारा श्री बी. एन. राऊ को दी गई सलाह के आधार पर यह समझते हुए सम्मिलित करने से इनकार कर दिया था कि यह खंड न्यायालय को एक तीसरा चेम्बर बना देगा और न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र को विस्तृत कर देगा । किंतु, मेरा विचार है, उन्होंने अनजाने 'युक्तियुक्त निर्बंधनों', जो अधिकांश मूल अधिकारों पर अधिरोपित किए जा सकेंगे, के पुनर्विलोकन के अपने सिद्धांत द्वारा इस धारणा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और क्रियाशील कारक को परिलक्षित किया है । इसके आधुनिक विस्तारित अर्थ को ग्रहण करके अमेरिकन 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' व्यक्ति और राज्य के बीच के संबंध में 'युक्तियुक्तता' की उच्च स्तर की गारंटी और मनमानेपन या दमनकारिता के विरुद्ध एक व्यादेश के रूप में स्थित है । **केशवानंद भारती** वाले मामले में मुझे इस प्रश्न पर विचार करना था । मैंने यह मत व्यक्त किया –
>
> > 'जब कोई न्यायालय यह अभिनिश्चय करता है कि कोई विधान इस आधार पर दूषित है कि यह अयुक्तियुक्त निर्बंधन है, तो वह अपने निष्कर्ष के लिए अनेक स्रोतों से दुर्ग्राह्य संघटक प्राप्त कर रहा होता है । ...... यदि आप विधि द्वारा युक्तियुक्त निर्बंधन लगाने संबंधी मामलों की परीक्षा करें, तो यह पाया जाएगा कि उन सभी में वही मानक अपनाया गया है जो अमेरिकन उच्चतम न्यायालय ने सम्यक् प्रक्रिया खंड के अधीन किसी विधान की युक्तियुक्तता का अभिनिश्चय करने में अपनाया है' ।"

वास्तव में **मिट्ठू** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में **सुनील बत्रा** बनाम **दिल्ली प्रशासन और अन्य**[2] वाले मामले में एक सांविधानिक न्यायपीठ के निर्णय का अनुसरण किया गया था । उस मामले में कारागार अधिनियम की धारा 30(2) को असांविधानिक होने के कारण चुनौती दी

[1] [1983] 3 उम. नि. प. 363 = (1983) 2 एस. सी. सी. 277.
[2] [1979] 3 उम. नि. प. 407 = (1978) 4 एस. सी. सी. 494.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

गई थी क्योंकि मृत्यु दंडादेश के अधीन प्रत्येक कैदी को सभी अन्य कैदियों से अलग प्रकोष्ठ में परिरुद्ध किया जाएगा, अर्थात् उसे एकांत परिरोध में रखा जाएगा । संविधान न्यायपीठ ने धारा 30(2) का अनुशीलन केवल ऐसे व्यक्ति के प्रति निर्देश करने के लिए किया जिसे अंतिम रूप से मृत्यु का दंडादेश दिया गया है और इसमें राज्यपाल और/या राष्ट्रपति को की गई वे दया याचिकाएं भी सम्मिलित होंगी जिनका अभी निपटारा नहीं किया गया है । ऐसा अभिनिर्धारित करते हुए न्यायमूर्ति देसाई ने चार विद्वान् न्यायाधीशों की ओर से मत व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि –

> "228. अनुच्छेद 21 के अधीन चुनौती का हमारे द्वारा धारा 30 की उपधारा (2) के निर्वचन के आधार पर असफल होना लाजिमी है । उस व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता, जिसे बंदी रखा जाता है, दंडात्मक परिरोध द्वारा बहुत अधिक कम हो जाती है । निवारक निरोध में भी यह कम हो जाती है । सह-कैदियों के साथ विचरण करने, एक दूसरे के साथ घुलने-मिलने, मिलने-जुलने, बातचीत करने, उठने-बैठने की स्वतंत्रता को यदि सारभूत रूप से कम किया जाता है तो जब तक विधि का समर्थन ऐसी कमी करने के लिए न हो, तो यह अनुच्छेद 21 की अतिक्रमणकारी होगी । धारा 30 की उपधारा (2) में वह प्रक्रिया स्थापित की गई है, जिसके द्वारा इस स्वतंत्रता को कम किया जा सकता है किंतु इस उपधारा का अनुशीलन हमारे निर्वचन के अधीन किया जाना आवश्यक है । अनुच्छेद 21 में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' अभिव्यक्ति में 'विधि' शब्द का निर्वचन **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस अर्थ में किया गया है कि विधि अवश्य ही सही, न्यायसंगत और ऋजु होनी चाहिए, न कि मनमानी, काल्पनिक या अन्यायपूर्ण । अन्यथा इसे कोई प्रक्रिया ही नहीं कहा जाएगा और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा का समाधान नहीं होगा । <u>यदि यह मनमानी है तो यह अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है</u> । धारा 30(2) का अनुशीलन उस रीति में किया जाए जिस रीति में हमने किया है, तो इसका अनिष्कारी तत्व समाप्त हो जाता है और यह नहीं कहा जा सकता है कि यह मनमानी है या विधि के प्राधिकार के बिना दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने एक विस्तृत और प्रख्यात सहमतिजन्य

निर्णय में (पृष्ठ 518 पर) यह मत व्यक्त किया है :–

> "52. सही है हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' या आठवां संशोधन नहीं है, किंतु विधि की इस शाखा में आर. सी. कूपर **बनाम** भारत संघ [(1970) 1 एस. सी. सी. 248] और मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ [(1978) 1 एस. सी. सी. 248] के निर्णयों के पश्चात् परिणाम वैसे ही हैं । क्योंकि जो कुछ भी दंडात्मक रूप से दारुण, सार्वजनिक अपमान की दृष्टि से अप्रायिक अथवा क्रूर और पुनर्वास की दृष्टि से अनुपयोगी है वह अकाट्य रूप से अयुक्तियुक्त तथा मनमाना है और अनुच्छेद 14 और 19 उसे अभिखंडित करता है और यदि प्रक्रियागत अऋजुता का आरोप उस पर लगाया गया हो तो वह अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

मिट्ठू (उपर्युक्त) वाले मामले पर आते हैं, जिसमें इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ ने भारतीय दंड संहिता की धारा 303, जिसके द्वारा आजीवन कारावास से सिद्धदोष व्यक्ति पर, जो कारागार में हत्या कर देता है, आज्ञापक रूप से मृत्यु दंडादेश अधिरोपित किया गया था, को अभिखंडित कर दिया था । याची की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा दिए गए तर्क को इस प्रकार उपवर्णित किया गया है :–

> "5. उन कमियों पर, जो धारा 303 में हैं, विचार करने से पूर्व हमें उस तर्क की प्रकृति को अवश्य ही उपदर्शित करना चाहिए, जो याचियों की ओर से उस धारा की विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए हमारे समक्ष बतलाई गई है । तर्क का सार और संक्षेप इस प्रकार है कि धारा 303 में अंतर्विष्ट उपबंध पूर्णतया अयुक्तियुक्त और मनमाना है और तद्द्वारा वह संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है । संविधान का अनुच्छेद 21 इस बात की प्रत्याभूति देता है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं । चूंकि प्रक्रिया, जिसके द्वारा धारा 303 प्राण से वंचित करने को प्राधिकृत करती है, अनुचित और अयुक्तियुक्त है, इसलिए धारा असांविधानिक है । इस तर्क पर बहुत ही सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि उसे अवश्य ही स्वीकार किया जाना

चाहिए तथा दंड संहिता की धारा 303 को अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए । (पृष्ठ 283 पर)

सुनील बत्रा (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय को उद्धृत करने के पश्चात् इस न्यायालय के समक्ष जो प्रश्न उद्भूत हुआ, वह इस प्रकार है :–

"6. .... प्रश्न जो हमारे समक्ष उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो आजीवन कारावास का दंडादेश भुगत रहा है, की गई हत्या के अपराध के लिए दंड संहिता की धारा 303 द्वारा विहित मृत्यु दंडादेश मनमाना और अतिवादी है जिससे कि वह अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का अतिक्रमणकारी है ।" (पृष्ठ 285 पर)

इस प्रकार का प्रश्न निर्दिष्ट करने के पश्चात् न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया :–

"9. ...... क्या ऐसी कोई विधि निष्पक्ष और उचित है जो हत्या के अपराध के लिए अभियुक्त को इस बात के लिए कारण बताने का अवसर दिए बिना कि वह दंडादेश क्यों न अधिरोपित कर दिया जाए, मृत्यु दंडादेश का उपबंध करती है । द्वितीयतः, क्या ऐसी विधि निष्पक्ष और उचित है यदि इसी प्रकार की बातों में न्यायालय को यह कारण बताना अपेक्षित न हो कि अधिकतम शास्ति देना क्यों जरूरी है । क्या इस बात का उपबंध करना मनमाना नहीं है कि चाहे जो परिस्थितियां हों जिनमें हत्या का अपराध किया गया हो, अभियुक्त पर मृत्यु दंडादेश अवश्य ही अधिरोपित किया जाना चाहिए ?" (पृष्ठ 287 पर)

इसके पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित रीति में दिया गया –

"18. चूंकि विशेष प्रकार के व्यक्तियों के संबंध में धारा 303 द्वारा मृत्यु दंडादेश आज्ञापक बनाया गया है, इसके लिए आवश्यक परिणाम के रूप में उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 235(2) के अधीन यह कारण दर्शाने के अवसर से वंचित किया गया है कि क्यों न उन्हें मृत्यु दंडादेश दिया जाए तथा न्यायालय को मृत्यु दंडादेश अधिरोपित करने के लिए विशेष कारण उल्लिखित करने से उस संहिता की धारा 354(3) के अधीन उसकी बाध्यता से मुक्त किया गया है । इन अधिकारों और रक्षोपायों से, जिनके परिणामस्वरूप

अन्याय होना निश्चित है, वंचित किया जाना कठोर, मनमाना और अन्यायोचित है ।

19. ....ऐसे अपराधों में से द्वितीय अपराध के लिए इस कारण से आज्ञापक मृत्यु दंडादेश विहित करना कि अपराधी ऐसे अपराधों में से प्रथम बार के अपराध के लिए आजीवन कारावास भुगत रहा था, सब प्रकार के तर्कों से परे एवं मनमाना है । यह उपधारणा करने पर भी कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 235(2) मामले को लागू होती थी, न्यायालय दंडादेश के प्रश्न पर अभियुक्त की सुनवाई करने के लिए बाध्य था । उसे अभियुक्त से इस प्रकार के कुछ प्रश्न पूछने होंगे --

'तुम कूटरचना के अपराध के लिए आजीवन कारावास से दंडादिष्ट किए गए थे । तुमने आजीवन कारावास भुगतते समय हत्या की है । तुम्हें क्यों न मृत्यु दंडादेश दिया जाए ?'

प्रश्न में अपने स्वयं का खंडन है । वह इस बात पर प्रकाश डालता है कि ऐसी परिस्थितियों में आज्ञापक मृत्यु दंडादेश विहित करने के लिए उपबंध किस प्रकार से मनमाना और असंगत है –

23. विभिन्न परिस्थितियों पर, जो हम निर्णय में उल्लिखित कर चुके हैं, विचार करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 303 अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट समता की प्रत्याभूति का तथा संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त इस अधिकार का भी अतिक्रमण करती है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।"

न्यायमूर्ति चिन्नप्पा रेडी ने सर्वसम्मत निर्णय में इस धारा को निम्नलिखित शब्दों में अभिखंडित कर दिया :–

"25. मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ और बचन सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य के मामलों (1980) 2 एस. सी. सी. 684. में व्यक्त मतों को देखते हुए धारा 303 को विधिमान्य रूप में कायम रखना असंभव है । धारा 303 न्यायिक विवेकाधिकार को अपवर्जित करती है । न्याय की तराजू न्यायाधीश के हाथों से उस समय छिन जाती है ज्यों ही वह अभियुक्त को अपराध का दोषी घोषित कर देता

है । मृत्यु दंडादेश इतना अंतिम, इतना अप्रतिसंहरणीय और इतना अनिवार्य होता है कि किसी भी ऐसी विधि को, जो विवेक का प्रयोग किए बिना उसके लिए उपबंध करती है, ऋजु, न्यायसंगत और युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है । ऐसी विधि को अनिवार्य रूप से मनमाना और दमनकारी कहा जाना चाहिए । धारा 303 ऐसी विधि है तथा उसे सभी दोषपूर्ण विधियों की तरह ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए । मैं मेरे विद्वान् बंधु मुख्य न्यायाधिपति से इस बात पर सहमत हूं कि भारतीय दंड संहिता की धारा 303 को असंवैधानिक होने के कारण अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए ।"

अतः, संविधान न्यायपीठ के उपर्युक्त निर्णयों से भी यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 14 को कानूनी विधि की सांविधानिक अविधिमान्यता के संदर्भ में यह दर्शित करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है कि यदि ऐसी कानूनी विधि "मनमानी" पाई जाती है तो उसे अभिखंडित कर दिया जाएगा ।

तथापि, **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **मिट्टू** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान न्यायपीठ के आबद्धकारी विनिश्चय पर निम्नलिखित रूप में विचार किया था :–

"45. इसके पश्चात् श्री जी. रामास्वामी द्वारा मिट्टू **बनाम** पंजाब राज्य [(1983) 2 एस. सी. सी. 277 = 1983 एस. सी. सी. (क्रि.) 405] वाले मामले के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया, जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 303 को अभिखंडित कर दिया गया था । किंतु वह विनिश्चय मुख्य रूप से अनुच्छेद 21 पर निर्भर था, यद्यपि अनुच्छेद 21 के साथ-साथ अनुच्छेद 14 को भी निर्दिष्ट किया गया था । उल्लंघनकारी उपबंध में न केवल न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग की किसी गुंजाइश को अपवर्जित किया गया था अपितु इसमें अभियुक्त को भी दंड प्रक्रिया संहिता की धाराओं 235(2) और 354(3) में अंतर्विष्ट रक्षोपायों से वंचित किया गया था । अतः, इसमें के याचियों को उक्त विनिश्चय के विनिश्चयाधार से कोई सहायता नहीं मिलती है ।"

यह कहते हुए कि विनिश्चय मुख्य रूप से अनुच्छेद 21 पर निर्भर था, यद्यपि अनुच्छेद 14 को भी निर्दिष्ट किया गया था, इस न्यायालय के पांच विद्वान् न्यायाधीशों के आबद्धकारी निर्णय के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि इससे "कोई सहायता" नहीं मिलती है । यह स्पष्ट है कि उक्त सांविधानिक न्यायपीठ का विनिश्चयाधार अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद

21 दोनों पर आधारित था, जैसा कि ऊपर[1] उपवर्णित पैरा 19 और 23 में

---

[1] यह स्पष्ट है कि एक निर्णय में एक से अधिक विनिश्चयाधार हो सकते हैं । कमीशनर्स आफ टेक्सेशन फार द स्टेट आफ न्यू साउथ वेल्स **बनाम** पाल्मेर एंड अदर्स (1907 अपील केसेज 179 एट. 184) वाले मामले में न्यू साउथ वेल्स के सुप्रीम कोर्ट से की गई अपील में प्रिवी कौंसिल द्वारा इस बात को मान्यता प्रदान की गई थी । लार्ड मेकनेघटन ने यह मत व्यक्त किया :-

"......... किंतु किसी ऐसी प्रतिपादना को, जिसे न्यायालय सुभिन्न और अपने विनिश्चय के लिए पर्याप्त आधार होना घोषित करता है, केवल इस कारण अभियुक्त समझना असंभव है कि एक अन्य आधार का भी उल्लेख है जिस अकेले के आधार पर ही मामले को अवधारित किया जा सकता था ।"

जैकबस **बनाम** लंदन काउंटी कौंसिल [(1950) 1 आल ई. आर. 737, पृ. 741] वाले मामले में हाउस आफ लार्ड्स ने कुछ पूर्ववर्ती विनिश्चयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :-

"..... तथापि, मेरी राय में, यह हो सकता है कि किसी न्यायाधीश द्वारा अपने विनिश्चय के लिए दिए गए कारण को इतरोक्ति मानने के लिए कोई औचित्य न हो क्योंकि उसने एक अन्य कारण भी दिया हो । यदि यह कहने के लिए यह उचित कसौटी होती कि क्या विनिश्चय उस प्रतिपादना के अतिरिक्त भी वही रहा होता जिसे इतरोक्ति होने का अभिकथन किया है, तब जिस मामले में स्पष्टतः दो बातों का विनिश्चय किया गया उनमें से किसी को कोई विनिश्चय नहीं किया गया । लंदन जेवलर्स **बनाम** ऐटबरो [(1934) 2 के. बी. 206] वाले मामले में एक अच्छा दृष्टांत पाया जाएगा । उस मामले में विवाद्यकों में से एक विवाद्यक का अवधारण इस बात पर निर्भर था कि कोर्ट आफ अपील फोल्कस् **बनाम** किंग [(1923) 1 के. बी. 282] वाले मामले के अपने पूर्ववर्ती विनिश्चय द्वारा कितनी आबद्ध थी, जिस विनिश्चय में न्यायालय ने अपने विनिश्चय के लिए दो आधार दिए थे, उनमें से दूसरा [जैसाकि एल. जे., गरीर द्वारा उल्लेख किया गया है (1934) 2 के. बी. 222] ऐटनबरो वाले मामले में यह था –

'....... जहां, कोई व्यक्ति विक्रय करने के प्राधिकार के साथ या स्वयं स्वामी बनने के लिए कब्जा अभिप्राप्त करता है और फिर विक्रय करता है तो उसे चोरी से या प्रवंचना करके वस्तुएं अभिप्राप्त करने वाला नहीं समझा जा सकता है ।'

ऐटनबरो (उपर्युक्त) वाले मामले में यह दलील दी गई थी कि चूंकि **फोलकस्** (उपर्युक्त) वाले मामले में विनिश्चय के लिए एक अन्य कारण दिया गया था, इसलिए दूसरा कारण इतरोक्ति था, किंतु एल. जे., गरीर ने कौंसिल की दलील के संदर्भ में यह मत व्यक्त किया :-

"मैं यह महसूस नहीं कर सकता हूं कि यदि हमें इस नजीर से कोई बाधा नहीं पहुंचती है तो इस प्रतिपादना के बारे में कहने के लिए बहुत कुछ है जिसने स्वयं न्यायमूर्ति स्विफ्ट की सराहना की है और जिसकी **फोलक्स** बनाम **किंग**

चार विद्वान् न्यायाधीशों के निर्णय से स्पष्ट है । अतः, इस विनिश्चयाधार के बावजूद एक तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा इसे सही विधि नहीं कहा जा सकता है । **सुनील बत्रा** (उपर्युक्त) वाले मामले के संविधान न्यायपीठ के आबद्धकारी विनिश्चय को भी, जिसमें मनमानेपन को किसी विधायी उपबंध को अभिखंडित करने के आधार के रूप में अभिनिर्धारित किया गया था, **मेक्डॉवल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों के विनिश्चय में निर्दिष्ट नहीं किया गया था ।

2. दूसरा कारण यह दिया गया है कि अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती पर अनुच्छेद 19 के अधीन चुनौती से अलग विचार किया जाना चाहिए, यह **ए. के. गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में के इस दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है कि मूल अधिकारों को अविच्छिन्न विषय के रूप में देखा जाना चाहिए । हमने देखा कि **रूस्तम कावसजी कपूर** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में, इस न्यायालय की 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा कैसे इस दृष्टिकोण को अभिखंडित कर दिया गया और **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इसका अनुसरण किया गया । विधान में मनमानापन अनुच्छेद 19(2) से (6) बहुत बड़ा पहलू है, जैसा कि इस न्यायालय के कई सारे निर्णयों में

[(1923) 1 के. बी. 282] वाले मामले में स्वयं मेरी सराहना की है, किंतु **फोलक्स्** बनाम **किंग** वाले मामले में कोर्ट आफ अपील के विनिश्चय को देखते हुए हम यह मत व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । उस मामले में कोर्ट आफ अपील के सभी सदस्यों द्वारा अपने विनिश्चय के लिए दो कारण दिए गए थे और हम प्रथम कारण को विनिश्चयाधार के रूप में चुनने और द्वितीय की अनदेखी करने, या द्वितीय कारण को विनिश्चयाधार के रूप में चुनने और प्रथम की अनदेखी करने के हकदार नहीं हैं, हमें दोनों को निर्णय का आधार गठित करने वाला समझना चाहिए ।"

अतः, **चिएटर** बनाम **केटर** [(1998) 1 के. बी. 247] वाले मामले में भी एल. जे. पिकफोर्ड ने **ईरसकाइन** बनाम **एल. जे. मेलिश** के निर्णय से एक लेखांश को उद्धृत करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया :–

"यह विधि का एक सुभिन्न कथन है न कि इतरोक्ति । विद्वान् न्यायमूर्ति द्वारा अपने निर्णय के लिए दिया गया यह द्वितीय आधार है । यदि कोई न्यायाधीश अपने निर्णय के लिए दो आधारों का उल्लेख करता है और अपने विनिश्चय को दोनों पर आधारित करता है, तो उनमें से कोई भी इतरोक्ति नहीं है ।"

[1] [1950] एस. सी. आर. 88.

[2] (1970) 1 एस. सी. सी. 248.

अधिकथित किया गया है, जिनमें से कुछ को **ओम कुमार** (पश्चात्वर्ती) वाले मामले में निर्दिष्ट किया गया है और इसलिए कोई कारण नहीं कि मनमानेपन को अनुच्छेद 14 के अधीन बनाए गए विधान को भी अभिखंडित करने के लिए उपर्युक्त अर्थ में क्यों प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है ।

3. तीसरा कारण यह दिया गया है कि न्यायालय संसदीय प्रज्ञा पर निर्णय देने का अधिकार नहीं ले सकते हैं । हमारी विधि रिपोर्टों में दृष्टांत ही दृष्टांत भरे पड़े हैं जहां इस न्यायालय द्वारा संसदीय प्रज्ञा की सफलतापूर्वक अवज्ञा की गई है क्योंकि ऐसी विधियां उनके अयुक्तियुक्त होने के कारण खरी नहीं उतरती हैं, यह बात **ओम कुमार** (पश्चात्वर्ती) वाले मामले में निर्दिष्ट किया गया है ।

हमें **पंजाब राज्य** बनाम **खान चंद**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति खन्ना द्वारा दी गई चेतावनी को कभी नहीं भूलना चाहिए । उन्होंने कहा था कि :–

> "12. यह उपधारित करना गलत होगा कि किसी अधिनियमिति को अवैध घोषित करने में न्यायालयों के कार्य में न्यायिक-अनाधिकार-ग्रहण का तत्व होगा । संविधान ने न्यायालयों को यह अवधारित करने का कार्य सौंपा है कि क्या विधान-मंडल द्वारा अपनाई गई विधियां संविधान के उपबंधों के अनुरूप हैं । कानून की सांविधानिक विधिमान्यता का न्याय-निर्णयन करने के लिए न्यायालय उस बाध्यता का पालन करते हैं जो उन पर संविधान द्वारा अधिरोपित की गई है । यदि वे किसी कानून के उपबंधों को असांविधानिक घोषित करने में संकोच करते हैं तो यह न्यायालयों द्वारा अपने उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ना होगा यद्यपि वे उपबंध संविधान के अनुच्छेदों का अतिक्रमण करने वाले पाए जाएं । अनुच्छेद 32 और 226 संविधान के अभिन्न भाग हैं और मूल अधिकारों तथा संविधान द्वारा प्रदत्त अन्य अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचार उपबंधित करते हैं । न्यायालयों की ओर से, किसी अधिनियमिति के उपबंधों के, संविधान का अतिलंघन करने वाले पाए जाने पर भी, न्यायिक विनम्रता की किसी धारणा के कारण उन्हें असांविधानिक घोषित करने में संकोच या इनकार से, अनेक मामलों में, व्यथित पक्षकारों के लिए संविधान द्वारा उपबंधित उपचार छिन जाएगा या किसी भी दशा में वह उपचार नष्ट हो जाएगा । स्वयं अपने हित को प्रभावित करने वाले

---

[1] [1974] 1 उम. नि. प. 1285 = (1974) 1 एस. सी. सी. 549.

विषयों में परित्यजन कभी-कभी प्रशंसनीय हो सकता है, किंतु जिन मामलों में शक्ति उन उपायों से, जो संविधान का अतिक्रमण करते हैं, दूसरों के हित का संरक्षण करने के लिए प्रदत्त की जाती है उनमें परित्यजन के गंभीर परिणाम हो सकते हैं । न्यायालयों का यह कार्य है कि वे किसी अधिनियमिति के उपबंधों को असांविधानिक घोषित करें यदि वह संविधान के किसी अनुच्छेद का उल्लंघन करती हैं । क्योंकि उसकी विधिमान्यता को बहाल रखना उनका कर्तव्य होता है, यदि पाया जाए कि वह किसी ऐसी अशक्तता से ग्रस्त नहीं है ।"

पुनः, यह बात हमें रोक नहीं सकती है ।

4. एक और कारण यह दिया गया है कि आनुपातिकता का सिद्धांत प्रशासनिक विधि तक में लागू किया जाना संदेहास्पद है, इसलिए अनुच्छेद 14 के इस पहलू को सांविधानिक विधि में लागू नहीं किया जाना चाहिए । **ओम कुमार** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में सांविधानिक सिद्धांत के रूप में आनुपातिकता को निम्न प्रकार उजागर किया गया है :–

"30. हमारे संविधान के भाग 3 में वर्ष 1950 से ही मूल अधिकारों पर अध्याय होने के कारण भारतीय न्यायालय आनुपातिकता के सिद्धांत के आधार पर विधान को असांविधानिक घोषित करने के लिए या उनका ऐसी रीति में परिशीलन करने के लिए, जो अधिकारों के घोषणापत्र के संगत हो, अंग्रेजी न्यायालयों द्वारा अनुभव की जा रही निर्योग्यता के समान निर्योग्यता से ग्रस्त नहीं हैं । वर्ष 1950 से ही 'आनुपातिकता' के सिद्धांत को भारत में विधायी और (प्रशासनिक) कार्यवाही में उत्साहपूर्वक लागू किया गया है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1) में प्रगणित स्वातंत्र्यों – यथावाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य, शांतिपूर्वक सम्मेलन की स्वातंत्र्य, संगम और संघ बनाने की स्वातंत्र्य, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण की स्वातंत्र्य, भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वातंत्र्य का उल्लंघन करने वाले विधान की विधिमान्यता पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने यह विचार किया कि क्या विधान द्वारा अधिरोपित निर्बंधन स्थिति के अनुरूप अननुपातिक हैं या क्या कम निर्बंधनकारी विकल्प नहीं है । यह दर्शित करने के लिए कि निर्बंधन युक्तियुक्त है, साबित करने का भार राज्य पर डाला गया है । इन

---

[1] (2001) 2 एस. सी. सी. 386.

स्वातंत्र्यों पर अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन 'युक्तियुक्त निर्बंधन' केवल विधान द्वारा अधिरोपित किए जा सकते हैं और न्यायालयों के पास इन निर्बंधनों की आनुपातिकता पर आद्योपान्त विचार करने का अवसर आया है । 'युक्तियुक्त निर्बंधन' किस सीमा तक अधिरोपित किए जा सकते हैं, इस न्यायालय के अनेक निर्णयों में इस पर विचार किया गया है । चिंतामनराव **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य {ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 118 = [1950] एस. सी. आर. 759} वाले मामले में न्यायमूर्ति महाजन (जो वह उस समय थे) ने मत व्यक्त किया कि राज्य मूल अधिकारों पर जो 'युक्तियुक्त निर्बंधन अधिरोपित करे, वे मनमाने या अत्यधिक प्रकृति के न हों और लोक हित में जो अपेक्षित है उससे परे नहीं होने चाहिएं ।' 'युक्तियुक्त' से विवक्षित है बुद्धिमतापूर्ण सावधानी और सोच-विचार करके, अर्थात् उस प्रक्रिया का चयन करना जो इसके लिए कारण को अधिप्रेरित करे । जो विधान मनमाने रूप से या अतिशय रूप से अधिकार का अतिक्रमण करता हो उसे तब तक युक्तियुक्तता की गुणवत्ता युक्त नहीं कहा जा सकता है जब तक कि यह प्रत्याभूत अधिकारों तथा अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन अनुज्ञेय नियंत्रण के बीच उचित संतुलन न बैठाता हो । अन्यथा, ऐसे विधान को अवश्य उस गुणवत्ता से रहित अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए । मद्रास राज्य **बनाम** वी. जी. रोव {ए. आई. आर. 1952 एस. सी. 196 = [1952] एस. सी. आर. 597 = 1952 क्रि. ला. जर्नल 966} वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति पतंजली शास्त्री ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय को 'उस अधिकार की प्रकृति, जिसका अभिकथित रूप से उल्लंघन किया गया है, अधिरोपित किए गए निर्बचनों का अंतर्निहित प्रयोजन, उस अनिष्ट की सीमा और अत्यावश्यकता जिसका तद्द्वारा उपचार किया जाना ईप्सित है, अधिरोपण के अननुपात और उस समय की प्रचलित दशाओं को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए ।' विधान के संदर्भ में आनुपातिकता के इस सिद्धांत को हाल ही में आंध्र प्रदेश राज्य **बनाम** मेक्डावल एंड कं. (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में न्यायमूर्ति जीवन रेड्डी द्वारा निर्दिष्ट किया गया था । उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में इस स्तर की संवीक्षा पिछले पचास वर्षों से एक सामान्य विशेषता रही है । विनिश्चित मामलों की संख्या हजारों में है ।

> 31. अनुच्छेद 21 में स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति दी गई है और इसे 'आनुपातिकता' के सिद्धांतों के अधीन भी रखा गया है । बचन सिंह **बनाम** पंजाब राज्य [(1980) 2 एस. सी. सी. 684 = (1980) एस. सी. सी. (क्रि.) 580] वाले मामले में दंड प्रक्रिया संहिता, 1974 और भारतीय दंड संहिता के उपबंधों पर विचार किया गया था और बहुमत ने विधान को कायम रखा । न्यायमूर्ति भगवती ने विसम्मत निर्णय में [बचन सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (1982) 3 एस. सी. सी. 24 = 1982 एस. सी. सी. (क्रि.) 535 वाला मामला देखें] 'आनुपातिकता' पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया और यह अभिनिर्धारित किया कि कानून द्वारा उपबंधित दंड अननुपातिक है ।
>
> 32. जहां तक अनुच्छेद 14 का संबंध है, भारत के न्यायालय इस बात की परीक्षा करते हैं कि क्या वर्गीकरण बोधगम्य अंतर पर आधारित है और क्या अंतर का विधान के उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त संबंध है । स्पष्ट रूप से, जब न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या वर्गीकरण बोधगम्य अंतर पर आधारित है, तो न्यायालय फर्कों की विधिमान्यता और फर्कों की पर्याप्तता की परीक्षा कर रहे होते हैं । पुनः यह और कुछ नहीं अपितु आनुपातिकता का ही सिद्धांत है । ऐसे मामले भी हैं जहां विधान और नियमों को अयुक्तियुक्त होने के अर्थ में मनमाना होने के कारण अभिखंडित कर दिए गए हैं । [एयर इंडिया **बनाम** नरगिश मिर्जा (1981) 4 एस. सी. सी. 335 = (1981) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 599 (एस. सी. सी. के पृष्ठ 372-373 पर) वाला मामला देखें] किंतु आंध्र प्रदेश राज्य **बनाम** मेक्डावल एंड कं. (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में केवल 'मनमानेपन' के आधार पर विधान को अभिखंडित करने के पश्चात्‌वर्ती पहलू पर संदेह व्यक्त किया गया था ।"

273. युक्तियुक्तता का सूत्र मूल अधिकारों के संपूर्ण अध्याय में है । जो बात प्रत्यक्षतः मनमानी है वह स्पष्ट रूप से अयुक्तियुक्त है और विधि के शासन के प्रतिकूल होने के कारण उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होगा । इसके अतिरिक्त, **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों के विनिश्चय में तब स्पष्ट अंतर्विरोध दिखता है जब यह कहा जाता है कि कोई संविधान संबंधी चुनौती इस आधार पर सफल हो सकती है कि विधि "अननुपातिक, अतिशय या अयुक्तियुक्त" है, तो भी ऐसी चुनौती विधि के "अयुक्तियुक्त, अनावश्यक, या अवांछित" होने के कारण

असफल हो जाएगी । मनमानेपन के सिद्धांत को जब विधान पर लागू किया जाए तो इसमें पश्चात्‌वर्ती चुनौती अंतर्वलित नहीं होगी अपितु केवल वह विधि अंतर्वलित होगी जो अननुपातिक, अतिशय या अन्यथा प्रत्यक्षतः अयुक्तियुक्त है । अतः उपर्युक्त सभी आधार राज्य की उसके विभिन्न रूपों में कार्रवाई के बीच अंतर करना नहीं चाहते हैं और यदि उनमें संविधान के भाग 3 में व्यक्तियों और नागरिकों के लिए प्रत्याभूत मूल अधिकारों के विषय में टकराव होता है तो वे सभी निषेधात्मक हैं ।

274. हमें केवल यह बताने की आवश्यकता है कि **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले के पश्चात्‌ भी इस न्यायालय ने वस्तुतः कानूनी विधि को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि वह मनमानी है और इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है । **माल्पे विश्वनाथ आचार्या** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि समय बीत जाने के पश्चात्‌ विधि मनमानी बन सकती है और इसलिए बम्बई रेंट ऐक्ट के अधीन 1940 के बाजार मूल्य पर किरायों को स्थिर करना मनमाना होगा और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है (पैरा 8 से 15 और 31 देखें) ।

275. इसी प्रकार **मारडिया केमिकल्स लि. और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य इत्यादि**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 की धारा 17(2) को निम्नलिखित प्रकार से अभिखंडित कर दिया था :–

> "64. प्रस्तुत मामले में पूर्व निक्षेप की शर्त दूषित है और उपचार को इन आधारों पर भ्रामक बना देती है कि (i) यह शर्त प्रथम बार के न्यायनिर्णयन प्राधिकारी को समावेदन करते समय अधिरोपित की जाती है, अपील में नहीं ; (ii) अभी तक शोध्य रकम का अवधारण नहीं हुआ है, (iii) प्रतिभूत आस्तियां या उनका प्रबंधन अंतरणीय हित सहित पहले ही ग्रहण कर लिया है और प्रतिभूत लेनदार के नियंत्रण में है, (iv) रकम जो अभी भी अवधारित और तय की जानी है, के संबंध में दोहरी प्रतिभूति के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, (v) दावाकृत रकम का 75 प्रतिशत किसी तरह से एक भी कम रकम

[1] (1998) 2 एस. सी. सी. 1.

[2] (2004) 4 एस. सी. सी. 311.

नहीं होगी, और (iv) यह देनदार को उस स्थिति में पहुंचा देगी जहां उसके लिए अनावधारित मांग का 75 प्रतिशत निक्षेप करने के लिए कोई निधियां जुटाना असंभव होगा । ऐसी शर्तें न केवल दूर्भर और दमनकारी हैं अपितु अयुक्तियुक्त और मनमानी भी हैं । इसलिए हमारे मत में, अधिनियम की धारा 17 की उपधारा (2) अयुक्तियुक्त, मनमानी और संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी हैं ।"

276. पूर्णतया दो अन्य हाल ही के निर्णयों, अर्थात् **तमिलनाडु राज्य** बनाम **के. श्याम सुंदर**[1] और **ए. पी. डेयरी डेवलपमेंट कारपोरेशन फेडरेशन** बनाम **बी. नरसिम्हा रेड्डी**[2], में इस न्यायालय ने विधि की इस स्थिति को दोहराया है कि कोई विधान इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि वह मनमाना है और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है ।

277. **अशोक कुमार ठाकुर** बनाम **भारत संघ**[3] वाले मामले में एक संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय में इस तर्कहीन दलील को, कि आक्षेपित विधान मत प्राप्त करने की क्रियाविधि के भाग के रूप में समुदाय के एक भाग को प्रसन्न करने के लिए आशयित है, विधिक रूप से स्वीकार्य न होना ठहराया गया और दलील यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दी गई कि :–

"219. संसद् द्वारा पारित किए गए विधान को केवल सांविधानिक रूप से मान्यताप्राप्त आधारों पर चुनौती दी जा सकती है । साधारणतया, किसी विधान को चुनौती देने का आधार यह है कि क्या विधान-मंडल को विधायी सक्षमता है या क्या विधान संविधान के उपबंधों के अधिकारातीत है । यदि विधान का कोई उपबंध मूल अधिकारों या संविधान के किन्हीं उपबंधों का अतिक्रमण करता है, तो न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का अवलंब लेते हुए ऐसे विधान को अपास्त करने का निश्चित रूप से एक विधिमान्य आधार हो सकता है । किसी विधान को अयुक्तियुक्त होने के कारण भी चुनौती दी जा सकती है यदि वह विधान हमारे संविधान में प्रतिबिम्बित समता के सिद्धांतों का अतिक्रमण करता हो या संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन मूल अधिकारों को निर्बंधित करता हो । किसी विधान को मात्र

---

1 (2011) 8 एस. सी. सी. 737.

2 (2011) 9 एस. सी. सी. 286.

3 (2008) 6 एस. सी. सी. 1.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

अयुक्तियुक्तता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि इस बात से स्वतः किसी आधार का गठन नहीं होता है । किसी सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता और सर्वांगीण विधान की विधिमान्यता का विनिश्चय विशुद्ध रूप से सांविधानिक विधि के प्रश्नों के रूप में किया जाना चाहिए । राजस्थान राज्य **बनाम** भारत संघ (1977) 3 एस. सी. सी. 592, पृ. 660, पैरा 149 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है" –

'149. .... यदि न्यायालय के समक्ष लाया गया कोई प्रश्न विशुद्ध रूप से एक राजनैतिक प्रश्न है और कोई विधिक या सांविधानिक अधिकार या बाध्यता का अवधारण करना अंतर्वलित नहीं है, तो न्यायालय इसे ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि न्यायालय का सरोकार केवल विधिक अधिकारों और दायित्वों का न्यायनिर्णयन करने से है ।'

278. **के. टी. प्लांटेशन (प्रा.) लि.** बनाम **कर्नाटक राज्य**[1] वाले मामले में एक पश्चात्‌वर्ती सांविधानिक न्यायपीठ ने रोएरिच और देवीकरणी रोएरिच संपदा (अर्जन और अंतरण) अधिनियम, 1996 की सांविधानिक विधिमान्यता, कर्नाटक भूमि सुधार अधिनियम, 1961 की धारा 110 की विधिक विधिमान्यता राज्य सरकार द्वारा तद्‌धीन जारी की गई तारीख 8 मार्च, 1994 की अधिसूचना सं. आर. डी. 217 एल. आर. ए. 93 और संविधान के अनुच्छेद 300क की व्याप्ति और अंतर्वस्तु पर विचार किया था । एक ऐसे विधान की विधिमान्यता की परीक्षा करते हुए, जो व्यक्ति को अनुच्छेद 300क के अधीन संपत्ति से वंचित करता है, इस न्यायालय के समक्ष जब **मेक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाला मामला रखा गया तो यह उल्लेख किया कि :–

"203. यहां तक कि **मैक्डोवेल** (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में भी यह उल्लेख किया गया था कि कुछ या अन्य सांविधानिक कमी कानून को अविधिमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त हो सकती है । **मेक्डावल** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय की एक तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है –

'43. .... संसद्‌ या इस विषय के लिए राज्य विधान-मंडल

[1] (2011) 9 एस. सी. सी. 1.

की शक्ति दो प्रकार से निर्बंधित है । संसद् या विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधि को न्यायालयों द्वारा केवल और केवल दो आधारों पर अभिखंडित किया जा सकता है, अर्थात् (1) विधायी सक्षमता की कमी और (2) संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत मूल अधिकारों में से किसी मूल अधिकार का या किसी अन्य सांविधानिक उपबंध का अतिक्रमण होने पर । (3) कोई आधार नहीं है ...। किसी अधिनियमिति को केवल यह कहकर अभिखंडित नहीं किया जा सकता है कि यह मनमानी या अयुक्तियुक्त है । किसी अधिनियम को अविधिमान्य ठहराने के लिए कोई न कोई कमी पाई जानी चाहिए । किसी अधिनियमिति को इस आधार पर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि न्यायालय उसे अन्यायपूर्ण समझता है । संसद् और विधान-मंडल, जो लोगों के प्रतिनिधियों के रूप में संकलित हैं, वे अनुमति रूप लोगों की आवश्यकताओं को जानते हैं और उनसे अभिज्ञ होते हैं तथा यह जानते हैं कि उनके लिए क्या सही है और क्या गलत है । न्यायालय उनकी प्रज्ञा पर निर्णय नहीं सुना सकता है ।'

204. भारत संघ **बनाम** जी. जनायुथम [(1997) 7 एस. सी. सी. 467 = (1997) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 1806] वाले मामले में इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

'22. .... यदि किसी कानून द्वारा अधिरोपित निर्बंधन उस कानून के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए अननुपातिक या अत्यधिक हैं तो उसे अभिखंडित किया जा सकता है और न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि क्या मूल अधिकार और अधिरोपित किए गए निर्बंधन का संतुलन समुचित है, यह बात भलीभांति स्थिर है ।'

205. अयुक्तियुक्तता, मनमानेपन, आनुपातिकता आदि के अभिवाक् से सदैव व्यक्तिपरकता का तत्व उत्पन्न होता है जिसके आधार पर न्यायालय किसी कानून या किसी कानूनी उपबंध को अभिखंडित नहीं कर सकता है, विशेष रूप से जब संपत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार नहीं रह गया है । अन्यथा न्यायालय

अपनी प्रज्ञा को विधान-मंडल की प्रज्ञा पर प्रतिस्थापित करता रहेगा, जो कि हमारे सांविधानिक प्रजातंत्र में अनुज्ञेय नहीं है ।"

279. **नेचुरल रिसोर्सेज एलोकेशन**[1] (2012 का विशेष निर्देश सं. 1) वाले मामले में हाल ही के सांविधानिक न्यायपीठ के विनिश्चय में इस न्यायालय ने मनमानेपन के सिद्धांत पर कुछ विस्तार से विचार किया । न्यायपीठ ने **रायप्पा** (उपर्युक्त), **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) और **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामलों को निर्दिष्ट किया (और पैरा 16 से उद्धृत किया जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि "...... आक्षेपित विधायी और कार्यपालक कार्रवाई स्पष्ट रूप से मनमानी है और अनुच्छेद 14 में दी गई समता की गारंटी का उल्लंघन करती है ......" ।) न्यायपीठ ने आगे यह मत व्यक्त किया कि "मनमानेपन" और "अयुक्तियुक्तता" को निम्न प्रकार से अंतर-बदल के रूप में प्रयुक्त किया गया है :–

"103. जैसा कि उपर्युक्त से स्पष्ट है 'मनमानापन' और 'अयुक्तियुक्तता' अभिव्यक्तियां अंतर-बदल के रूप में प्रयुक्त की गई हैं और वास्तविकता यह है कि एक को दूसरे के निबंधनों में परिभाषित किया गया है । अभी हाल में, शर्मा ट्रांसपोर्ट **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (2002) 2 एस. सी. सी. 188 वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है –

'25. .... मनमाना के रूप में वर्णित किए जाने के लिए यह आवश्यक रूप से दर्शित किया जाना चाहिए कि यह युक्तियुक्त नहीं है और स्पष्ट तौर पर मनमाना है । 'मनमाने रूप से' अभिव्यक्ति से अभिप्रेत है : अयुक्तियुक्त तरीके से, अनुचित रूप से या इच्छा के अनुसार नियत या किया जाए, जो चीजों की प्रकृति पर आधारित न हो, जो अयुक्तिसंगत हो, केवल इच्छा पर निर्भर रहते हुए सकारण या निर्णय के अनुसार न किया जाए ।' (पृष्ठ 81 पर)

यह सब कहने के पश्चात् उसने **मेकडावल** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करते हुए फिर यह टिप्पणी की कि मनमानेपन के सिद्धांत का कोई

मनमाना प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए । न्यायपीठ ने फिर यह निष्कर्ष निकाला –

---

[1] (2012) 10 एस. सी. सी. 1.

2017(8) eILR(PAT) SC 110

"107. विनिश्चयों की प्रवृत्ति की संवीक्षा से स्पष्ट तौर पर यह दृष्टिगोचर होता है कि राज्य की कार्रवाई चाहे वह पारितोषिक वितरण से संबंधित हो, संविदाएं प्रदान करने या भूमि के आबंटन से संबंधित हों, संविधान के अनुच्छेद 14 की कसौटी पर कसी जानी चाहिए । जैसा कि **मैक्डोवेल** (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में कहा गया है कि किसी सांविधानिक कमी का उल्लेख किए बिना किसी विधि को मनमाना होने के कारण अभिखंडित नहीं किया जा सकेगा । इसलिए, राज्य की किसी कार्रवाई की सांविधिनिक कमियों के लिए परीक्षा संविधान के अनुच्छेद 14 के संदर्भ में की जानी चाहिए । कार्रवाई उचित, युक्तियुक्त, अविभेदकारी, स्पष्ट, अननुचित, पक्षपातरहित, भाई-भतीजावाद या कुनबा-परस्ती विहिन, उचित प्रतिस्पर्धा और साम्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि की प्राप्ति की दिशा में होनी चाहिए । यह उन सन्नियमों के अनुरूप होनी चाहिए जो न्यायसंगत, कारणों से अनुप्रमाणित और लोक हित आदि से मार्ग-निर्देशित हों । ये सभी सिद्धांत अनुच्छेद 14 की मूल धारणा में अंतर्निहित हैं । यही भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का आदेश है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

इस निर्णय का वाचन करने पर यह स्पष्ट है कि इस न्यायालय ने **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले का अर्थ इस प्रतिपादना के लिए एक नजीर होने के रूप में नहीं लगाया था कि विधान को मनमाना होने के कारण कदापि अभिखंडित नहीं किया जा सकता है । वास्तव में, इस न्यायालय ने सभी पूर्ववर्ती निर्णयों, और विशिष्ट रूप से **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामले, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि विधान को इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि यह अनुच्छेद 14 के अधीन "मनमाना" है, को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि "मनमानेपन" की बात को जब विधान पर लागू किया जाए तो इसे शिथिलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता है । इसके बजाय, न्यायालय ने इस कसौटी में यह मत व्यक्त करते हुए यह बात जोड़ी कि यदि कोई सांविधानिक कमी पाई जाती है, तो अनुच्छेद 14 ऐसी कमी को प्रतिषिद्ध कर देगा । और जब कभी विधान "स्पष्ट तौर पर मनमाना है" तो सांविधानिक कमी स्वयं अनुच्छेद 14 में पाई जाती है, अर्थात् जब यह विधान ऋजु न हो, युक्तियुक्त न हो, विभेदकारी हो, स्पष्ट न हो, स्वेच्छाचारी, पूर्वाग्रहपूर्ण, पक्षपातपूर्ण या भाई-भतीजावादपूर्ण हो और उचित

प्रतिस्पर्धा और साम्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि की प्राप्ति करने वाला न हो । निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि यह उन सन्नियमों के संगत होना चाहिए जो तर्कसंगत, सकारण और लोक हित आदि से मार्गदर्शित हों ।

280. **डा. सुब्रमणियम् स्वामी** बनाम **निदेशक केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो**[1] के रूप में संप्रकाशित सांविधानिक न्यायपीठ का एक अन्य विनिश्चय दिल्ली स्पेशल पुलिस ईस्टाबलिशमेंट ऐक्ट, 1946 की धारा 6क को दी गई चुनौती के संबंध में है । इस धारा को विभेदकारी होने और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी होने के कारण अंततोगत्वा अभिखंडित कर दिया गया था । **डा. सुब्रमणियम् स्वामी** बनाम **निदेशक, केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो** (उपर्युक्त) वाले मामले में, निर्देश आदेश द्वारा सांविधानिक न्यायपीठ को एक विनिर्दिष्ट निर्देश किया गया था, और **अजय हासिया** (उपर्युक्त), **मारडिया केमिकल्स** (उपर्युक्त), **माल्पे विश्वनाथ आचार्य** (उपर्युक्त) और **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामलों सहित कई निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात्, अन्य बातों के साथ-साथ, यह निर्देश किया गया था कि क्या मनमानापन और अयुक्तियुक्तता अनुच्छेद 14 के अधीन किसी विधान को अविधिमान्य ठहराने वाले आधारों के रूप में उपलब्ध हैं या नहीं ।

इस न्यायालय ने काउंसेल की दलीलों और अनुच्छेद 14 के विभेदकारी पहलू पर कई निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया है :–

> "48. **ई. पी. रायप्पा** [ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य (1974) 4 एस. सी. सी. 3 = (1974) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 165] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि जो आधारभूत सिद्धांत, अनुच्छेद 14 और 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है, वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । इस न्यायालय ने पैरा 85 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया –
>
> > '85. …….. सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समता स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः, समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं ; इनमें एक तो गणतंत्र के अंदर विधि के शासन से संबद्ध है किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक से है । जब कोई

[1] (2005) 2 एस. सी. सी. 317.

कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह सन्निहित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए, अनुच्छेद 14 का अतिक्रण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और ऋजुता तथा व्यवहार की समता को सुनिश्चित करते हैं ।'

न्यायालय का दृष्टिकोण

49. जब विधान-मंडल द्वारा अधिनियमित किसी विधि की संवैधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई हो, तो न्यायालय को अवश्य यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अधिनियमिति के संवैधानिक होने की सदैव उपधारणा की जाती है और संवैधानिक सिद्धांतों के स्पष्ट उल्लंघन की बात को दर्शित किया जाना चाहिए । न्यायालय द्वारा विधायी प्रक्रिया की मूलभूत प्रकृति और महत्व को मान्यता दिए जाने की आवश्यकता है और विधायी प्रक्रिया को अवश्य सम्यक् आदर और सम्मान दिया जाना चाहिए । जब विधान को असंवैधानिक और संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी होने के कारण चुनौती दिए जाने की ईप्सा की गई हो, तो स्वयं न्यायालय को उस विधान को अविधिमान्य ठहराने के संबंध में अनुच्छेद 14 की उपयोज्यता से संबंधित सिद्धांतों का स्मरण कर लेना चाहिए । विधान को लागू होने वाले और विधान को अविधिमान्य बनाने वाले अनुच्छेद 14 के दो आयाम अब भली-भांति मान्यताप्राप्त हैं और ये हैं – (i) अननुज्ञेय या अविधिमान्य वर्गीकरण पर आधारित विभेद, और (ii) शक्तियों का अत्यधिक प्रत्यायोजन ; कार्यपालिका को दिशा-विहिन और अनियंत्रित शक्तियां सौंपा जाना, चाहे प्रत्यायोजित विधान के रूप में या प्रशासनिक आदेश पारित करने का प्राधिकार सौंप कर और यदि ऐसा सौंपा जाना किसी मार्गदर्शन, नियंत्रण या जांच-पड़ताल रहित है, तो इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । न्यायालय द्वारा इस बात को भी ध्यान में रखे जाने की आवश्यकता है कि कोई विधान केवल इस कारण असंवैधानिक नहीं बन जाता है कि इसमें एक अन्य दृष्टिकोण है या क्योंकि और अन्य पद्धति सामाजिक या आर्थिक नीति जैसे किसी मुद्दे पर भी उतनी ही अच्छी या इससे

भी अधिक प्रभावी समझी जा सकती है । यह सुस्थिर है कि न्यायालय इस पर अपने विचार प्रतिस्थापित नहीं करते हैं कि नीति क्या है ।"

चूंकि न्यायालय ने अंततोगत्वा धारा 6क को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह विभेदकारी है, इसलिए उसे निर्दिष्ट किए गए प्रश्नों में से एक प्रश्न पर अर्थात् क्या स्वेच्छाचारिता अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अविधिमान्य ठहराने का आधार हो सकता है, निर्णय सुनाना अनावश्यक हो गया । वास्तव में, न्यायालय ने निर्णय के पैरा 98 में निम्न प्रकार से ऐसा ही कहा है :–

"धारा 6क में अंतर्विष्ट आक्षेपित उपबंध पर विचार करने पर और ऊपर दर्शित कारणों से हम नहीं समझते कि अनुच्छेद 14 के संदर्भ में आक्षेपित उपबंध को चुनौती देते हुए किए गए अन्य आक्षेपों पर विचार करना आवश्यक है ।"

281. तथापि, **बिहार राज्य** बनाम **बिहार डिस्टिलरी लि.**[1], **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **राकेश कोहली**[2], **राजबाला** बनाम **हरियाणा राज्य और अन्य**[3] और **बिनोय विस्वाम** बनाम **भारत संघ**[4] वाले मामलों में **मेक्स्वोवल** (उपर्युक्त) वाले मामले में अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अभिखंडित करने के लिए "मनमानेपन" का अर्थ एक साधन के रूप में प्रयोग करने के लिए आत्यंतिक वर्जन होने के रूप में लगाया गया था । जैसा कि हमारे द्वारा इस निर्णय में पहले ही उल्लेख किया गया है, स्वयं **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय अनवधानता के कारण दिया गया है और समान या उससे ज्यादा संख्या वाली न्यायाधीशों के न्यायपीठ के कई निर्णयों पर ध्यान नहीं दिया गया है तथा इसकी तर्कणा भी अन्यथा दोषपूर्ण है । इसलिए **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले निर्णय का अनुसरण करते हुए दिए गए निर्णय अब सही विधि नहीं है ।

282. संपूर्ण व्याख्या करने के लिए, यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि अधीनस्थ विधान को इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि यह मनमाना है और इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । **सेल्यूलर आपरेटर्स ऐसोसिएशन आफ इंडिया** बनाम

---

[1] (1997) 2 एस. सी. सी. 453.
[2] (2012) 6 एस. सी. सी. 312.
[3] (2016) 2 एस. सी. सी. 445.
[4] (2017) 7 एस. सी. सी. 59.

भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती नजीरों को निर्दिष्ट किया और यह अभिनिर्धारित किया :–

"**मूल अधिकारों का अतिक्रमण**

42. हमने पहले ही देखा है कि अधीनस्थ विधान की संवैधानिकता को चुनौती देने के लिए कसौटियों में से एक कसौटी यह है कि अधीनस्थ विधान स्पष्ट रूप से मनमाना नहीं होना चाहिए । साथ ही, यह स्थिर विधि है कि अधीनस्थ विधान को उन आधारों में से किसी के आधार पर चुनौती दी जा सकती है जो सर्वांगीण विधान को चुनौती देने के लिए उपलब्ध हैं । [इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (बम्बई) (प्रा.) लि. **बनाम** भारत संघ (1985) 1 एस. सी. सी. 641 = (1985) एस. सी. सी. (टैक्स) 121, पृ. 689, पैरा 75 वाला मामला देखें]

43. 'प्रकट स्वेच्छाचारिता' की कसौटी इस न्यायालय के दो निर्णयों में भली-भांति स्पष्ट की गई है । **खोडे डिस्टिलरिज** बनाम **कर्नाटक राज्य** (1996) 10 एस. सी. सी. 304 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है –

'13. हमारे समक्ष अगली दलील यह दी गई है कि संशोधित नियम मनमाने, अयुक्तियुक्त हैं और असम्यक् कठिनाई कारित करते हैं और इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । भले ही अपीलार्थियों को अनुच्छेद 19(1)(छ) की संरक्षा उपलभ्य न हो, तो भी नियमों में, निःसंदेह, अनुच्छेद 14 का समाधान होना आवश्यक है, जो कि मनमानी कार्रवाई के विरुद्ध एक प्रत्याभूति है । तथापि, ध्यान देने वाली बात यह है कि यहां अनुच्छेद 14 के अधीन जो चुनौती दी जा रही है वह कार्यपालिका नहीं है अपितु प्रत्यायोजित विधान है । मनमानी काईवाई की कसौटियां जो कार्यपालिका कार्रवाइयों पर लागू होती है, वह आवश्यक रूप से प्रत्यायोजित विधान पर लागू नहीं होती है । इसलिए कि प्रत्यायोजित विधान को अभिखंडित किया जा सके, ऐसा विधान प्रकट रूप से मनमाना होना चाहिए ; ऐसी विधि हो जिसके बारे में युक्तियुक्त रूप से यह प्रत्याशा न की जा सकती हो कि वह

---
[1] (2016) 7 एस. सी. सी. 703.

विधि निर्मित करने की शक्ति से प्रत्यायोजित प्राधिकार से उत्पन्न हुई है । इंडियन ऐक्सप्रेस न्यूज पेपर्स (बम्बई)(प्रा.) लि. **बनाम** भारत संघ [(1985) 1 एस. सी. सी. 841 = (1985) एस. सी. सी. (टैक्स) 121] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह कहा कि किसी अधीनस्थ विधान को उतनी उन्मुक्ति नहीं होती है जितनी किसी सक्षम विधान-मंडल द्वारा पारित कानून को होती है । किसी अधीनस्थ विधान को अनुच्छेद 14 के अधीन इस आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है कि यह अयुक्तियुक्त है ; 'अयुक्तियुक्त इस अर्थ में नहीं कि वह युक्तियुक्त नहीं है, अपितु इस अर्थ में कि यह प्रकट रूप से मनमाना है ।' इंग्लैंड में विधि और भारत में विधि के बीच तुलना करते हुए न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि इंग्लैंड में न्यायाधीश यह कहेंगे, 'संसद् का कदापि यह आशय नहीं था कि प्राधिकारी ऐसे नियम बनाए ; वे अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं ।' भारत में मनमानापन अलग आधार नहीं है चूंकि यह संविधान के अनुच्छेद 14 की वर्जना के अंतर्गत आता है । किंतु अधीनस्थ विधान इतना मनमाना होना चाहिए कि इसे कानून के अनुरूप नहीं कहा जा सके या इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता हो ।'

44. शर्मा ट्रांसपोर्ट **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (2002) 2 एस. सी. सी. 188 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया –

'25. ...... मनमानी कार्रवाई की कसौटियां आवश्यक रूप से प्रत्यायोजित विधान पर लागू नहीं होती हैं । किसी प्रत्यायोजित विधान को मनमाना होने के कारण अभिखंडित करने के लिए यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि इसमें प्रकट मनमानापन है । इसे मनमाना वर्णित किए जाने के लिए, यह दर्शित किया जाना आवश्यक है कि यह युक्तियुक्त नहीं है और प्रकट रूप से मनमाना है । '**मनमाने रूप से**' अभिव्यक्ति से अभिप्रेत है – अयुक्तियुक्त रीति में, स्वेच्छाचारिता या **मनमर्जी** से नियत या किया गया, पर्याप्त अवधारित सिद्धांतों के बिना, वस्तुओं की प्रकृति पर आधारित न होना, अतर्कसंगत, तर्कणा या निर्णय के अनुसार नहीं किया गया, मात्र इच्छा पर निर्भर ।'"

(पृष्ठ 736-737 पर)

283. यह ध्यान देने योग्य है कि **इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक संविधान न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया है कि यह सुस्थिर विधि है कि अधीनस्थ विधान को चुनौती सर्वांगीण विधान के विरुद्ध चुनौती के लिए उपलभ्य आधारों में से किसी आधार पर दी जा सकती है । ऐसी स्थिति में, जब इसे इस आधार पर अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती दी जाती है तो दोनों प्रकार के विधान में कोई तर्कसंगत विभेद नहीं होता है । अतः, उपर्युक्त निर्णयों में अधिकथित प्रकट मनमानेपन की कसौटी अनुच्छेद 14 के अधीन विधान के साथ-साथ अधीनस्थ विधान को अविधिमान्य ठहराने के लिए लागू होगी । इसलिए प्रकट मनमानापन ऐसा कार्य होना चाहिए जो विधान-मंडल द्वारा स्वेच्छाचारिता से अयुक्तिसंगत रूप से और/या पर्याप्त अवधारित सिद्धांत के बिना किया गया हो । इसके अतिरिक्त, जब कोई ऐसा कार्य किया जाता है जो अत्यधिक और अननुपातिक है, तो ऐसा विधान प्रकटतः मनमाना होगा । अतः हमारा यह मत है कि प्रकट मनमानेपन के अर्थ में मनमानापन, जैसा कि हमारे द्वारा ऊपर उल्लेख किया गया है, अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अस्वीकार करने के लिए भी लागू होगा ।

284. प्रस्तुत मामले में, प्रकट मनमानेपन की कसौटी को लागू करने पर यह स्पष्ट है कि तीन तलाक, तलाक का वह रूप है जिसे स्वयमेव कहीं न कहीं एक नवीन प्रथा होना समझा गया है, अर्थात् यह **सुन्नी** में नहीं है और तलाक का अनियमित या विधर्मगामी रूप है । हमने उल्लेख किया है कि फयाजी की पुस्तक में जो शरीयत विधि की हनफी शाखा पर है, जिसमें तलाक के इस रूप को मान्यता दी गई है, विनिर्दिष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह रूप यद्यपि विधिपूर्ण तो है फिर भी यह धर्मोल्लंघक है क्योंकि यह परमात्मा की नाराजगी से ग्रस्त है । वास्तव में, **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने कई सारी नज़ीरों, जिनमें उच्च न्यायालयों के कतिपय हाल ही के निर्णय भी हैं, निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "13. .... तलाक की सही विधि, जो पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई है ; यह है कि तलाक अवश्य ही किसी युक्तियुक्त हेतुक को लेकर दिया जाना चाहिए और इसके पूर्व दो मध्यस्थों

---

[1] [1985] 1 उम. नि. प. 615 = (1985) 1 एस. सी. सी. 641.

[2] (2002) 7 एस. सी. सी. 518.

द्वारा – एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से हो, पति-पत्नी के बीच सुलह कराने के प्रयत्न किए गए हों और यदि प्रयत्न असफल रहते हैं तो तलाक दिया जा सकता है । **रुकैया खातुन** (1981) 1 गुवाहटी एल. आर. 375 वाले मामले में खंड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि तलाक की सही विधि, जो पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई है, यह है कि – (i) 'तलाक' अवश्य ही युक्तियुक्त हेतुक के लिए दिया जाना चाहिए ; और (ii) तलाक से पूर्व पति और पत्नी के बीच दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी द्वारा अपने परिवार से और दूसरा पति द्वारा अपने परिवार से चयनित किया गया हो, सुलह का प्रयत्न किया गया हो । यदि उनके प्रयत्न असफल रहते हैं तो 'तलाक' दिया जा सकता है । खंड न्यायपीठ ने कलकत्ता और बम्बई उच्च न्यायालयों के मत से विसम्मत अपना मत अभिलिखित किया जिनमें उनकी राय में, सही विधि अधिकथित नहीं की गई है ।

14. हम उच्च न्यायालयों के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा की गई उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों से सादर सहमत हैं ।

285. इस सच्चाई को ध्यान में रखते हुए कि तीन तलाक तुरंत और अप्रतिसंहरणीय होता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि पति और पत्नी के बीच उनके परिवार के दो मध्यस्थों द्वारा सुलह कराने का कोई प्रयत्न, जो विवाह-बंधन को बचाने के लिए आवश्यक है, किया ही नहीं जा सकता है । **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा इसका जो यह अर्थ लगाया गया है कि ऐसा तीन तलाक विधिमान्य है भले ही यह युक्तियुक्त हेतुक के बिना दिया जाता है, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के पश्चात् विधि का यह मत अब मान्य नहीं है । ऐसी स्थिति में, यह स्पष्ट है कि तलाक का यह रूप इस अर्थ में प्रकटतः मनमाना है कि मुस्लिम पुरुष द्वारा विवाह-बंधन को स्वेच्छाचारिता और मनमर्जी से, उसे बचाने के लिए सुलह का कोई प्रयत्न किए बिना, तोड़ा जा सकता है । इसलिए तलाक के इस रूप को अवश्य भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट मूल अधिकार का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए । अतः, हमारी राय में, 1937 का अधिनियम जहां तक कि यह तीन तलाक को मान्यता देता है और प्रवर्तित करता है, अनुच्छेद 13(1) में "प्रवृत्त विधियां" अभिव्यक्ति के अर्थांतर्गत आता है और जिस सीमा तक यह तीन तलाक को मान्यता देता है और

प्रवर्तित करता है, उस सीमा तक इसे शून्य होने के कारण अवश्य अभिखंडित किया जाना चाहिए । चूंकि हमने 1937 के अधिनियम की धारा 2 को ऊपर उपदर्शित सीमा तक इस संकीर्ण आधार पर शून्य घोषित किया गया है कि यह प्रकट रूप से मनमानी है, इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि इन मामलों में विभेद वाले आधार पर, जैसाकि विद्वान् महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) और उनका समर्थन करने वालों ने तर्क दिया है, विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।

न्यायालय का आदेश

286. उपर्युक्त अभिलिखित विभिन्न मतों को ध्यान में रखते हुए, "तलाक-ए-बिद्दत" तीन तलाक की प्रथा को 3 : 2 के बहुमत से अपास्त किया जाता है ।

तद्नुसार, सभी याचिकाएं निपटाई गई ।

पा./क./अवि/अस./जस./ग्रो.